

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

शोध अंक 10

अप्रैल-जून 2010

100 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, 09368141411
ई-मेल : giriraj3100@rediffmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

दिल्ली एन०सी०आर०

अनुभूति
सी-106, शिव कला
बी 9/11, सैक्टर 62, नोएडा
फोन : 09928570700

हरियाणा

अंकुर गोयल
ए-801, पार्क व्यू सिटी-2
सोहना रोड, गुडगाँव (हरियाणा)
फोन : 0124-4012173, 09314451501

हरियाणा, हिमाचल एवं पंजाब

डॉ० हरिशरण वर्मा
710/35 जनता कालोनी
रोहतक (हरियाणा) 124001
फोन : 01262-248211, 09355676460

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

प्रबंध संपादक

डॉ० मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक

डॉ० शंकर क्षेम

सह संपादक

डॉ० रश्मि त्रिवेदी

कला संपादक

गीतिका गोयल
अनुभूति

उपसंपादक

डॉ० अशोककुमार

विधि परामर्शदाता

अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता

ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी०ए०

शुल्क

वार्षिक शुल्क : चार सौ रुपए

यह प्रति : एक सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डा० गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी आफसेट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डा० गिरिराजशरण अग्रवाल

परामर्श-मंडल

- डॉ. आर.पी.सिंह (पूर्व कुलपति, मेरठ विश्वविद्यालय) प्राचार्य बरेली कॉलेज, बरेली (उ.प्र.)
- डॉ. अशोक चक्रधर, प्रोफेसर, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
- डॉ. हरिमोहन, प्रोफेसर हिंदी विभाग, के.एम.मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा
- डॉ. हरमहेंद्रसिंह बेदी, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुरु नानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर
- डॉ. रामसजन पांडेय, प्रोफेसर हिंदी विभाग, महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)
- डॉ. आनंदप्रकाश त्रिपाठी, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)
- डॉ. योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण', (पूर्व प्राचार्य) 74/3 नया नेहरूनगर, रुड़की (उत्तराखंड)
- डॉ. आदित्य प्रचंडिया, प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी) दयालबाग, आगरा (उ.प्र.)
- डॉ. माया टाक, प्रोफेसर संगीत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
- डॉ. संतराम वैश्य, प्रोफेसर हिंदी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखंड)
- डॉ. हनुमानप्रसाद शुक्ल, प्रोफेसर हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
- डॉ. मुकेश गर्ग, रीडर हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
- डॉ. पद्मा पाटिल, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, शिवाजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर (महा.)
- डॉ. जितेंद्र वत्स, रीडर हिंदी विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया (बिहार)
- डॉ. दिनेशकुमार चौबे, हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग (मेघालय)
- डॉ. लालबहादुर रावल, प्राचार्य, आर.एस.एम. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, धामपुर (उ.प्र.)
- डॉ. हरिशरण वर्मा, 710/35 जनता कालोनी, रोहतक (हरियाणा) 124001
- डॉ. महेश दिवाकर, अध्यक्ष हिंदी विभाग, गुलाबसिंह कॉलेज, चाँदपुर (उ.प्र.)
- डॉ. मिथिलेश दीक्षित, अध्यक्ष हिंदी विभाग, बी.डी.एम.एम. महिला महाविद्यालय, शिकोहाबाद (उ.प्र.)
- डॉ. महेशचंद्र, रीडर हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डॉ. हरेराम पाठक, अध्यक्ष हिंदी विभाग, डिगबोई महिला महाविद्यालय, डिगबोई (तिनसुकिया) आसाम
- डॉ. शारदा शर्मा, अध्यक्ष हिंदी विभाग, मु.ला.एवं ज.ना.क.महाविद्यालय, सहारनपुर (उ.प्र.)
- डॉ. शंभुनाथ तिवारी, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भीलवाड़ा (राज.)
- डॉ. सुरेंद्र विक्रम, अध्यक्ष हिंदी विभाग, लखनऊ क्रिश्चियन कॉलेज, लखनऊ (उ.प्र.)
- डॉ. श्यामधर तिवारी, प्रोफेसर हिं.वि., संघटक महाविद्यालय पौड़ी, गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर
- डॉ. प्रवीणकुमार वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, सनातन धर्म कॉलेज, पलवल (हरियाणा)
- डॉ. संतोषकुमार गौड़ रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मेरठ कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)
- डॉ. उषारानी वर्मा, रीडर हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रुद्रपुर (उत्तराखंड)
- डॉ. सभापति मिश्र, प्राचार्य, हंडिया पोस्टग्रेजुएट कॉलेज, हंडिया (इलाहाबाद)
- डॉ. घनश्याम अरोरा, पूर्व रीडर इतिहास विभाग, वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ.प्र.)

कुछ बातें आपके साथ

एक बहुत बड़ा ज्योतिषी रात में तारों का अध्ययन करता हुआ एक कुएँ में गिर पड़ा। कुएँ पर कोई घाट न था, कोई पाट न था; और उसकी आँखें अटकी थीं दूर आकाश के तारों पर। तो गिर पड़ा कुएँ में। जब गिर पड़ा, तब होश आया, चिल्लाया।

रात अँधेरी थी, रास्ता निर्जन। गाँव पीछे छूट गया। पास में ही खेत के एक झोंपड़े में एक बूढ़ी औरत सोई हुई थी। उसने आवाज़ सुनी तो दौड़कर आई। बहुत कठिनाई से उस वृद्धा ने उस ज्योतिषी को कुएँ से बाहर निकाला।

ज्योतिषी ने उसे बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। बहुत अनुग्रह किया और कहा, 'सुन, तुझे शायद पता न भी हो, मैं यूनान का सबसे बड़ा ज्योतिषी हूँ। तारों के संबंध में और तारों के माध्यम से मनुष्य के भविष्य के संबंध में मेरी घोषणाएँ कभी ग़लत नहीं हुईं। बड़े-बड़े सम्राट अपना भविष्य पूछने के लिए मेरे पास आते हैं। हजारों रुपया मेरी फ़ीस है। लेकिन तेरा भविष्य मैं मुफ़्त में बता दूँगा, क्योंकि तूने मेरी जान बचाई है।'

वह बूढ़ी स्त्री जोर से हँसने लगी। उसने कहा, 'बेटा, तू फ़िक्र मत कर। मैं तुझे कष्ट न दूँगी।'

ज्योतिषी ने कहा, 'नहीं, नहीं। कष्ट की कोई बात नहीं। तू कल आ जाना। ये रहा मेरा पता। तू किसी से भी पूछ लेगी तो कोई भी मेरे घर का पता बता देगा। मुझे बच्चा-बच्चा जानता है।'

'पर', उस बुढ़िया ने कहा, 'मुझे नहीं आना बेटा। तुझसे क्या अपना भविष्य पूछूँगी। तुझे एक क़दम आगे का कुआँ तो दिखाई पड़ता नहीं, तू मेरे संबंध में क्या बताएगा? तुझे अपना भविष्य पता नहीं कि आज तुझे कुएँ में गिरना है कि आज ज़रा सँभलकर चलूँ, कि आज चलूँ ही नहीं, कि घर में ही रहूँ। तू मुझे क्या भविष्य बताएगा!'

हम भी ऐसे ही अनजान शोध-प्रकरणों और शोध-अन्वेषकों से सावधान रहें, अपना मार्ग स्वयं खोजें, गंतव्य मिलेगा। निश्चय ही वह हमारी प्रतीक्षा में है। हाँ, हमारे अंदर इच्छाशक्ति का सदानीरा स्रोत प्रवाहित रहना चाहिए।

आपके समक्ष 'शोध-दिशा' का यह दसवाँ शोध अंक प्रस्तुत है। कैसा लगा यह अंक आपको, जानने की उत्सुकता तो रहेगी ही।



डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल
संपादक

शोध संदर्भ-5

संपादक

डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल

डॉ० मीना अग्रवाल

‘शोध-संदर्भ’ के अब तक प्रकाशित चार खंडों में उपाधिपरक हिंदी-शोध के आरंभ से सन् 2003 तक स्वीकृत शोधप्रबंधों का वर्गीकृत विवरण दिया गया था। अब शोध-संदर्भ-5 भी प्रकाशित हो गया है, जिसमें सन् 2003 के बाद स्वीकृत शोधप्रबंधों का वर्गीकृत विवरण सम्मिलित किया गया है।

ग्रंथ में विवरण निम्नलिखित क्रम में प्रकाशित किए गए हैं—

1. शोधकर्ता का नाम
2. जन्मतिथि
3. शोध का विषय
4. विश्वविद्यालय का नाम
5. उपाधि वर्ष
6. निदेशक का नाम व पता
7. प्रकाशन का विवरण
8. पता

इस विशिष्ट ग्रंथ का मूल्य 895 रुपए है, किंतु शोध-निदेशकों, हिंदी-प्राध्यापकों तथा शोध-छात्रों को यह ग्रंथ मात्र 500 रुपए में दिया जा रहा है।

ग्रंथ की प्रतियाँ सीमित संख्या में प्रकाशित की गई हैं। अतः निराशा से बचने के लिए अपना आदेश तथा धनराशि का बैंक ड्राफ्ट हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर के नाम यथाशीघ्र निम्न पते पर भेजिए। सी०बी०एस० शाखाओं के चैक स्वीकार्य होंगे।

हिंदी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ.प्र.)

01342-263232, 09368141411

अनुक्रम

| | |
|---|-----|
| प्रेमचंद का 'संस्कृति' चिंतन / डॉ० कमलकिशोर गोयनका | 7 |
| विद्यापति की पदावली में सौंदर्य-निरूपण / डॉ० सभापति मिश्र | 20 |
| यात्रा-साहित्य और डॉ० महेश 'दिवाकर' / डॉ० आदित्य प्रचंडिया | 34 |
| समकालीन कहानीकारों की कथादृष्टि / डॉ० सुधा बी० | 37 |
| नागार्जुन के काव्य में जीवन के प्रति आस्था | |
| निष्ठा एवं जिजीविषा का स्वर / डॉ० दीपा त्यागी | 43 |
| वैश्वीकरण और हिंदीभाषा / डॉ० अरुण रानी | 48 |
| अलका सरावगी का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद' | |
| और उत्तर-आधुनिकतावाद / डॉ० शिवांगकुमार भावसार | 57 |
| डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन' के साहित्य में | |
| पत्र-साहित्य की भूमिका / श्रीमती निधि | 62 |
| बिहार में हिंदी आलोचना की विकास यात्रा / डॉ० हरेराम पाठक | 67 |
| गीत के अप्रतिम हस्ताक्षर शचींद्र भटनागर / मधुकर अष्टाना | 79 |
| रत्नाकर साहित्य का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन / अनीता पंडित | 88 |
| डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदना / अनुराग शर्मा | 98 |
| रामचरितमानस की काव्यभाषा में संज्ञा-विचलन / वंदना शर्मा | 107 |
| राधेश्याम शर्मा 'प्रगल्भ' जी का व्यंग्य-काव्य / डॉ० (श्रीमती) रासुलता | 119 |
| चयन के आधार पर पंत-काव्य का अध्ययन / मनजीत कौर | 130 |
| नाटकीयता का सैद्धांतिक विवेचन / सुमनदेवी | 141 |
| शिवानी के कथाशिल्प में नारी का आत्मबोध / डॉ० मंजू शुक्ला | 144 |
| गढ़वाली लोकगाथाओं में प्रणय तत्त्व / डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्त्वाल | 151 |
| स्वाधीनता-आंदोलनकाल की कविता में | |
| राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति / प्रो० नवीनचंद्र लोहनी, डॉ० रवींद्रकुमार | 162 |
| नागार्जुन कृत 'हीरक जयंती' उपन्यास में नेताओं का रूप-स्वरूप / कुलदीप | 169 |
| जनवादी चेतना के संदर्भ में पर्यावरण का महत्त्व / अर्चना शुक्ला | 173 |
| आधुनिकताबोध में अस्तित्ववाद की भूमिका और | |
| स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यास / रजनी | 184 |
| सूर के काव्य में श्रीकृष्ण की मुरली-माधुरी / रमाकरसिंह | 190 |

| | |
|---|-----|
| जैनेंद्र : व्यक्तित्व और व्यक्तिवादी चेतना / डॉ० पूनम चौहान | 195 |
| संत गुरु रविदास वाणी में उत्तर-संरचनावाद / पूनम भौरियाँ | 201 |
| मशीनी अनुवाद : विविध आयाम / अजित सिंह | 206 |
| 'द्वितीय तार सप्तक' के कवियों के काव्य में नारी चेतना / गरिमा त्यागी | 210 |
| दुनिया में हिंदी / सारिका त्यागी | 217 |
| हिंदी और उर्दू गज़ल के भाषाई सेतु : | |
| कृष्णबिहारी 'नूर' / कृष्णकुमार वर्मा 'नाज़' | 224 |
| बालकृष्ण गर्ग के बालसाहित्य का शैलीवैज्ञानिक विवेचन / श्रीमती विधु गुप्ता | 246 |
| कालिदास के नाटकों के विदूषक / डॉ० रणविजय सिंह | 257 |
| गांधी जी की बुनियादी शिक्षा के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत / रामानंद शर्मा | 263 |
| शर्तबंद भारतीय उत्प्रवास में सन् 1914 का निर्णायक वर्ष / डॉ० शुचि गुप्ता | 268 |
| 'गांधारी का सच' की अनुगूँज का परत-दर-परत पक्ष / डॉ० सरोज मार्कडेय | 274 |
| संस्मरणात्मक साहित्य की अनूठी रचना | |
| 'मेरे सौरभ-द्वार' / डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' | 278 |

प्रेमचंद का 'संस्कृति' चिंतन

डॉ० कमलकिशोर गोयनका

संस्कृति और सभ्यता शब्दों को साधारणतः पर्यायवाची रूप में व्यवहृत किया जाता है। इनका व्यवहार अँग्रेजी के 'कल्चर' या 'सिविलिजेशन' शब्दों के समतुल्य होने लगा है। प्रेमचंद ने कल्चर के पर्याय-रूप में सभ्यता के साथ-साथ 'परिष्कृति' का प्रयोग भी किया है।¹ उनके विचार में हमारी संस्कृति का आधार 'बड़े लोगों के कारनामे' हैं और 'हमारे विचार, हमारा सांस्कृतिक रूप, हमारे तौर-तरीके उसी साँचे में ढलते हैं, जो यह आदमी हमारी नज़रों के सामने पेश करता है।'² भाव यह कि संस्कृति शिष्ट-जनों के (या महापुरुषों के) जन-हितकारी प्रयासों का समुच्चय है। प्रायः उन्होंने संस्कृति या सभ्यता के व्यापक अर्थ को ही स्वीकार किया है। व्यापक अर्थ में उनके अनुसार 'संस्कृति के दो रूप हैं, एक बाह्य जगत् से संबंध रखने वाली, दूसरी अंतर्जगत् से। बाह्य संस्कृति का संबंध भाषा, पहनावा, शिष्टाचार, शादी-व्यवहार आदि से है, आंतरिक संबंध धार्मिक और आध्यात्मिक विचारों से।'³

उनके अनुसार विभिन्न संस्कृतियों के भेद का कारण प्राकृतिक परिस्थितियाँ रही हैं। 'जलवायु और प्राकृतिक प्रभावों के कारण भिन्न-भिन्न प्रांतों के निवासियों की भाषा, आकृति, परिधान, यहाँ तक कि स्वभाव में भी परिवर्तन होते गए। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों का विकास हुआ।'⁴ फलतः 'संस्कृति का जो कुछ रूप है, वह इन्हीं परिस्थितियों का बनाया हुआ है।'⁵ उनके अनुसार 'संस्कृति का धर्म से कोई संबंध नहीं। आर्य संस्कृति है, ईरानी संस्कृति है, अरब संस्कृति है, लेकिन ईसाई संस्कृति और मुस्लिम या हिंदू संस्कृति नाम की कोई चीज़ नहीं है।'⁶ फिर भी प्रसंगानुसार उनके लेखों, भाषणों या टिप्पणियों में हिंदू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, ईसाई संस्कृति, भारतीय संस्कृति, पाश्चात्य (पश्चिमी) संस्कृति, एशियन संस्कृति, यूरोपीयन संस्कृति, रूस की नई सभ्यता, विश्व सभ्यता, मानव-संस्कृति, व्यावसायिक (आर्थिक) संस्कृति आदि के संबंध में स्थान-स्थान पर उल्लेख मिलते हैं।

भारत के हिंदू-मुसलमानों में सांस्कृतिक भेद उन्हें मान्य नहीं था। पं० जवाहरलाल नेहरू के एक बयान का हवाला देकर उन्होंने यह स्वीकार किया है कि भारतीय हिंदुओं और मुसलमानों में सांस्कृतिक एकता है। वे मानते हैं कि 'प्रत्येक प्रांत में हिंदू और मुस्लिम जनता की भाषा एक है, पहनावा एक है, शादी-ब्याह की परिपाटी भी एक है।'⁷ व्यापक रूप में मुस्लिम संस्कृति का विचार करते हुए वे उसका वैशिष्ट्य अवश्य स्वीकार करते हैं और उसी वैशिष्ट्य के आधार पर उसके गुण-दोषों का विवेचन करते हैं।

मुस्लिम संस्कृति :

उनके अनुसार 'मुसलमानों की संस्कृति ईरान और अरब की है।'⁸ इस संस्कृति की

प्रमुख विशेषता भ्रातृभाव है, जिसकी उन्होंने मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। उनके अनुसार मुस्लिम 'जाति में व्यापक भ्रातृ-भाव का आदर्श है, जहाँ कोई छोटा है न बड़ा है, सब बराबर हैं।'⁹ मौलाना आज़ाद के साक्ष्य पर उन्होंने कुरान की धार्मिक सहिष्णुता का उल्लेख भी आदर के साथ किया है।¹⁰ इस्लामी अंत्येष्टि-क्रिया को उन्होंने 'शांत, गंभीर, कोमल और सौजन्यपूर्ण' माना है।¹¹ मूर्तिपूजा के खंडन को उन्होंने इस्लाम का आवश्यक लक्षण नहीं माना है, क्योंकि मुसलमान भी कब्र, ताजिए और मस्जिद की पूजा करते हैं।¹² इसी प्रकार भारतीय इतिहास के मुस्लिम काल में मौलवियों के चित्रकला-विरोध का उल्लेख भी व्यंग्य के साथ किया गया है।¹³ 'मजनुँ' शीर्षक एक लेख के माध्यम से उन्होंने फ़ारसी प्रेम-शैली की आलोचना की है।¹⁴ 'विक्रमोर्वशी' के उर्दू तर्जुमे की समीक्षा करते हुए उन्होंने अनुवादक से सहमत होकर मुसलमानों के कौमी हल्म और अदब पर नाज को भी हानिकर स्वीकार किया है।¹⁵ 'कालिदास की कविता' शीर्षक लेख में उन्होंने संस्कृत साहित्य की भाषा, कलात्मकता आदि के मुक़ाबले में उर्दू-फ़ारसी के साहित्य को दरिद्र घोषित किया है।¹⁶

ईसाई (पश्चिमी) संस्कृति :

जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है प्रेमचंद संस्कृति को धर्म से निरपेक्ष मानते थे। फिर भी ईसाई धर्म के पश्चिमी देशों में फैलने के कारण पश्चिमी सभ्यता और ईसाई सभ्यता को प्रायः उन्होंने पर्याय-रूप में व्यवहृत किया है।¹⁷ उनका विश्वास था कि ईसाई या पश्चिमी कौम के पचानवे प्रतिशत लोगों की खुराक गोश्त है और भौतिकता उनकी 'सभ्यता की आत्मा है।' ईसाइयों के मद्यपान पर टिप्पणी करते हुए वे व्यंग्य में कहते हैं, 'अगर कोई हमसे पूछे कि ईसाई धर्म की सबसे प्रमुख विशेषता क्या है, तो हम कहेंगे शराब का इस्तेमाल।'¹⁸

पश्चिम की इस संस्कृति का उद्गम-स्थान वे यूनान और रोम के संघर्ष-प्रधान राष्ट्र को मानते हैं।¹⁹ उनके अनुसार ईसाई धर्म, जो मूल में बौद्धधर्म और अंशों में हिंदूधर्म का ही रूपांतर है, पश्चिम में उस पौधे के समान था, जो कहीं विदेश से लाकर आरोपित किया गया हो। कुछ दिनों तक तो उसने अपने भीतर की शक्ति से बाहर की प्रतिकूल शक्तियों का सामना किया, फिर वह नष्ट हो गई। विदेशी पौधा उस प्रतिकूल जलवायु में फल-फूल न सका। आज पश्चिमी ईसाई कहलाते हुए भी ईसाइयत से कोसों दूर हैं। 'इसी यूनानी उद्गम के कारण प्रतिकूल स्वार्थों के संघर्ष की छाप पश्चिमी संस्कृति के हरेक अंग पर लगी हुई है।' स्वार्थ और संघर्ष के इस सनातन पश्चिमी स्वभाव को कला के आविष्कार ने हवा दे दी और फलतः 'व्यावसायिकता पश्चिमी सभ्यता का कलंक' बन गई है।²⁰ वे उन विचारकों से सहमत दिखाई देते हैं, जो इस संघर्षमूलक और ईश्वरहीन सभ्यता को विश्व के लिए घातक मानते थे।²¹

संघर्ष पर टिकी इस सभ्यता में मानवीय सहयोग के लिए कोई अवकाश नहीं है। 'जैसे सारी संस्कृति उन्मत्त होकर मरु में जल खोज रही है।' ²² स्वार्थपरता ने उन्हें अंधा बना दिया है। जो ईसा के जितने ही पक्के हिमायती हैं, वे उतने ही लोलुप, उतने ही अनाचारी और पराए वैभव के शत्रु हैं। अबदूसरे का सत्यानाश उनके लिए कौतुक है और एक के बाद दूसरा वर्ष इसी सत्यानाशी कौतुक का चलचित्र है।²³ इन गोरे लोगों में चरित्र-बल का नितांत अभाव है। वे 'पराजितों के साथ कितना अमानुषीय व्यवहार करते हैं, यह जानी हुई बात है। ... जिस

इलाके में इनका पड़ाव पड़ जाता है, वहाँ स्त्रियों का राह चलना बंद हो जाता है।’²⁴ इंग्लैंड और अमरीका आदि के गोरों का जाति-भेद भी निंदनीय है।²⁵ उनकी संघर्षमय मनोवृत्ति के कारण प्रजातंत्र जैसी आदर्श संस्था भी दलीय स्वार्थों के संघर्ष का अखाड़ा बन गई है।²⁶ संसार का सारा धन खींचकर यूरोपीय युवक-युवतियाँ अब स्वादलिप्सा से भौरै-तितलियाँ बनने लगे हैं और उनके इस कामुकतापूर्ण व्यवहार को प्रगति का लक्षण नहीं माना जा सकता।²⁷

यह सब होते हुए भी ‘हमें पश्चिम की सभी चीजों अपनी सभी चीजों से बढ़िया लगती थीं। उनका रहन-सहन, उनके रीति-रिवाज, उनके खान-पान सबमें हमारे लिए एक न रुकने वाला आकर्षण था। यूरोप वाले देर में सोकर उठते हैं, इसलिए हमें भी देर में सोकर उठना चाहिए। यूरोप वाले हरदम कपड़े पहने रहते हैं, इसलिए हमें भी कभी नंगे बदन न रहना चाहिए। यूरोप वाले शराब पीते हैं, इसलिए शराब पीना भी संसार पर विजय पाने का एक मंत्र है। वही एकांत प्रेम, वही अपने से नीचे दर्जे के आदमियों से पृथक् रहने की आदत, वही मुँह में सिगार दबाकर चलना, गरज हमने बंदरों की तरह पश्चिम वालों की नक़ल शुरू की और अभी तक करते जा रहे हैं। हमारे नेता और अगुआ जब उस प्रवाह में न सँभल सके, तो छोटे-छोटे साधारण आदमी क्या सँभलते? धीरे-धीरे समय ने हमको बताया कि यूरोप में सब-कुछ सोना ही सोना नहीं है, उसमें कांसा-पीतल भी है। हम अपने खोए हुए आत्मसम्मान को फिर अपनाने लगे, हमारी नज़रों से वह सम्मोहन हटा और हमें कुछ विचार करने की शक्ति आई। महात्मा गांधी ने आकर मानो उन बिखरी हुई आकार-हीन भावनाओं को मूर्तिमान कर दिया और यूरोप की बुराइयाँ भी हमें नज़र आने लगीं।’²⁸

स्पष्टतः गांधी के समान प्रेमचंद भी पश्चिमी सभ्यता के आलोचक थे। उनका विश्वास था कि ‘हमें हरेक पश्चिमी चीज के पीछे आँखें बंद करके चलने की जो प्रवृत्ति हो रही है, वह केवल हमारी मानसिक पराजय के कारण। हमारी सभ्यता में रोग थे, मगर उसकी दवा यूरोपीय सभ्यता की अंधभक्ति नहीं है। उसकी दवा में हमें अपनी ही संस्कृति में खोजनी थी। यूरोपीय सभ्यता की नक़ल करके हमें अपने यहाँ भी उन्हीं दवाओं का व्यवहार करना पड़ेगा, जो यूरोप कर रहा है। यूरोप पथभ्रष्ट है, उसे अपने लक्ष्य का ज्ञान नहीं है और आज यूरोप के विचारवान लोग कह रहे हैं कि यह संस्कृति अब विध्वंस के गर्त में जाने वाली है। क्या हम भी उन्हीं बुराइयों की नक़ल करके अपनी संस्कृति को भी गर्त में ढकेलने की तैयारी करें?’²⁹

प्रेमचंद को यह दुःख था कि पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध ने हमें अंधा बना दिया।³⁰ ‘पूर्वीय सभ्यता अतिथियों के आ जाने से फूल उठती थी ... पश्चिम की सभ्यता ने हमें रोटी-चोर बनना सिखा दिया है।’³¹ उसका सबसे ज़हरीला पाठ खुदगर्जी है। ‘प्राचीन संस्कृति में चिकित्सक के लिए किसी मरीज से फ़ीस लेना हराम था। पहले बुद्धि या सिद्धि की सफलता सेवा और उपकार में थी, अब स्वार्थ-सिद्धि में। मरीज के होठों पर प्राण लगे हों, डाक्टर साहब बिना फ़ीस लिए नहीं जा सकते।’³² इसी संस्कृति की लीला से शिक्षा संस्थाएँ प्रेजुएट बनाने के कारख़ाने हो गई हैं। ‘किसी यूनिवर्सिटी में चले जाइए। वहाँ आपको भारतीयता की गंध भी न मिलेगी। वहाँ अँग्रेज़ी भाषा का, अँग्रेज़ी वेश का, अँग्रेज़ी आचार का ही आधिपत्य है। ... इन विद्यालयों ने भारत में फैशनेबल समुदाय की सृष्टि करने में जो काम कर दिखाया है, वह और किसी ने नहीं किया।’³³ आश्चर्य इस बात का है कि वैज्ञानिक

दृष्टिकोण के अभाव में 'हमने नई शिक्षा पाकर गोरी जातियों की नक़ल में उन चीज़ों का व्यवहार करना छोड़ दिया, जो हमारी भोजन-सामग्री को पुष्टिकर बनाती थीं और नई-नई सामग्रियों के फेर में पड़ गए थे, जिन्हें यूरोप के व्यापारी लंबे चौड़े विज्ञापन दे-देकर हमारे सामने लाते थे, यह ओवल्टीन है, यह क्वेकर ओट है, यह माल्टेड मिल्क है। ... जिस युवक को देखिए इन्हीं इशितहारी चीज़ों के फेर में पड़ा हुआ है ...।' ³⁴

व्यायाम और नक़ल की विदेशी पद्धतियों का प्रचलन भी उन्हें मान्य नहीं है। मेजर नायडू के एक बयान को रेखांकित करते हुए वे लिखते हैं, जो तात्त्विक दृष्टि से अगर ज्यादा नहीं तो उतने कल्याणकारी अवश्य हैं, जितने पश्चिमी व्यायाम। मुझे विश्वास है कि किसी युवक को प्राचीन व्यायाम का अभ्यास, प्राचीन नियमों और आदेशों के अनुसार कराया जाए तो उससे कम लाभ न होगा, जितना पश्चिमी व्यायाम से होता है। भारतीय प्रणाली यहाँ के प्राणियों के लिए अधिक अनुकूल है, इसके साथ ही कितना कम खर्च। देशीय खेल कहीं भी खेले जा सकते हैं, बिना किसी अड़चन के और बहुत कम खर्च में। जिमनास्टिक के औज़ार यदि यहीं के बने हों तो भी सौ रुपए और दो सौ रुपए के बीच खर्च हो जाएँगे। क्रिकेट का एक बैट बीस रुपए में आता है और टेनिस का एक रैकेट तीस रुपए में। फिर क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल और अन्य खेल हैं, जिनके लिए अच्छे मैदान, अच्छे सामान और खास तरह के जूतों की ज़रूरत है। इसका मुक़ाबला हिंदुस्तानी खेलों से कीजिए, जो आजकल के बालकों के लिए कहानी-मात्र रह गए हैं। ... हमारे स्कूल में कबड्डी, गुल्ली-डंडा, लखनी आदि खेलों का बड़ी आसानी से प्रचार किया जा सकता है, लेकिन किसी का उधर ध्यान नहीं है। ³⁵

सार्वजनिक ही नहीं, पारिवारिक जीवन में भी प्रेमचंद को पाश्चात्य आदर्शों की तुलना में भारतीय आदर्श अधिक प्रभावित करते रहे हैं। सम्मिलित परिवार के विषय में वे लिखते हैं— 'हमारी सभ्यता में सम्मिलित कुटुंब एक प्रधान अंग था। पश्चिमी सभ्यता में परिवार का अर्थ है—केवल स्त्री और पुरुष। दोनों में बुराइयाँ और भलाइयाँ दोनों ही हैं, पर जहाँ एक में सेवा और त्याग प्रधान है, वहाँ दूसरे में स्वार्थ और संकीर्णता।' ³⁶ विवाह के संबंध में भी उनका दृष्टिकोण भारतीय परंपरा के निकट है। सर हरीसिंह गौड़ के तलाक बिल पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं— 'हिंदू-विवाह का आदर्श बहुत ऊँचा है। हिंदू-विवाह और तलाक़ दो परस्पर विरुद्ध बातें हैं, लेकिन इस आदर्श का मूल्य बहुत कम हो जाता है, जब इसके पालन का भार केवल स्त्रियों पर रख दिया जाता है। ... यह सत्य है कि तलाक़-प्रथा का दुरुपयोग किया जा सकता है। पश्चिमी देशों में उसकी जो छीछालेदर हो रही है, वह हम नित्य अख़बारों में देखते हैं।' ³⁷ पश्चिम दंपतियों में प्रचलित संतति-निग्रह की प्रथा को भी उन्होंने अनेक उपाधियों के साथ स्वीकार किया है। वे ब्रह्मचर्य द्वारा संततिनिग्रह को उत्तम मानते हुए भी कृत्रिम साधनों को बुरा नहीं समझते। उनकी दृष्टि में 'संतान-निग्रह के विरुद्ध जो सबसे विचारने-योग्य बात है, वह यह है कि इससे स्त्री-पुरुष की भोग-लालसा बढ़ जाती है, और विलास प्रवृत्ति पर अंकुश रखने के लिए जिस त्याग और बलिदान की ज़रूरत है, उसके शिथिल हो जाने के कारण स्त्री-पुरुष में प्रेम-बंधन ढीला हो जाता है और गृह-कलह और असंतोष के रूप में प्रकट होता है।' ³⁸ शिक्षित दंपतियों के संतति-निग्रह को वे सर्वथा अनुचित मानते हैं। उनका तर्क है कि 'पढ़ी-लिखी विचारशील देवियाँ और उन्नत विचार वाले पुरुष संताननिग्रह नहीं कर सकते और न राष्ट्र उन्हें इस ज़िम्मेदारी

से आजाद कर सकता है। उन्हें तो संतान उत्पन्न करके उसका पालन करना ही पड़ेगा, अन्यथा देश में अयोग्य संतान मर जाएगी। देश ने ग़रीबों का रुपया लेकर आपको पढ़ाया लिखाया और आपको इस पद पर पहुँचाया, आपकी जात से देश को क्या फ़ायदा पहुँचा?’³⁹

विविध प्रसंगों पर प्रेमचंद की जो ढेरों सामग्री उपलब्ध है, उसमें पश्चिमी संस्कृति के लिए केवल अपवादस्वरूप ही एकाध स्थलों पर प्रशंसात्मक टिप्पणियाँ मिलती हैं। हिंदुओं के अंत्येष्टि-संस्कार की आलोचना के समय मुसलमानों और ईसाइयों की पद्धति ने उनका ध्यान खींचा था। उन्हें ‘राम नाम सत्य है’ की अपेक्षा यह अच्छा लगा कि ‘ताबूत उठाने वाले सिर झुकाए, बहुत ही आहिस्ता-आहिस्ता क़ब्रिस्तान की ओर जाते हैं।’⁴⁰ यूरोप में भी कभी-कभी शवदाह की क्रिया होती है, लेकिन यंत्रों की मदद से यह लीला इतनी जल्दी और इतने परिष्कृत रूप से समाप्त हो जाती है कि आत्मा की तरह देह भी क्षण-मात्र में अदृश्य हो जाती है।⁴¹ एक अन्य स्थल पर यूरोप की राजोगुणिवृत्ति का भी उन्होंने आदरपूर्णक उल्लेख किया है—‘यूरोप का विलास तो अपनी सारी बुराइयों के साथ आ डटा, पर यूरोप का अध्यवसाय और साहस और उत्सर्ग और अन्य हज़ारों खूबियाँ, जो उस विलासिता पर परदा ढाँकती हैं, यहाँ कहीं नज़र नहीं आती।’⁴²

इन अपवादों को छोड़कर विशिष्ट भारतीय संदर्भों के कारण उन्होंने पश्चिमी संस्कृति की कुत्सा का ही सर्वत्र चित्रण किया है। यहाँ तक कि ग़रीबों के इस वकील को पश्चिमी ढंग की संघर्षमय क्रांति भी स्वीकार्य नहीं है। सन् 1934 में इंद्रनाथ मदान को लिखे पत्र में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ‘बुद्धिमतापूर्ण उपायों की असफलता का नाम क्रांति है। ... मैं आमूल परिवर्तन को चाहता हूँ, परंतु विध्वंस नहीं।’⁴³ जागरण की जमानत के प्रसंग में स्पष्टीकरण देते हुए वे लिखते हैं—‘रक्तमय विधानों के हम विरोधी हैं। ... मनुष्य के आंतरिक देवत्व पर हमारा पूर्ण विश्वास है। ... हम अपने को परिष्कृत करके ही अपने विरोधियों का दिल बदल सकते हैं।’⁴⁴ इस अहिंसक समाजवाद या विकासवाद की ओर उनके झुकाव का कारण यह बद्धमल विश्वास था कि ‘हमारी संस्कृति का मूल तत्त्व अहिंसा है, पश्चिम की संस्कृति का मूल तत्त्व संघर्ष है।’⁴⁵

हिंदू (हिंदुस्तानी या पूर्वी) संस्कृति :

संस्कृति को असांप्रदायिक मानते हुए भी प्रारंभ में प्रेमचंद हिंदू-संस्कृति पर गर्व करते थे। ‘हिंदू-सभ्यता और लोकहित’⁴⁶ तथा ‘श्रीकृष्ण और भावी जगत’⁴⁷ जैसे विषयों पर उनकी टिप्पणियाँ इस तथ्य का प्रमाण हैं। आगे चलकर इस रागात्मक दृष्टि में बौद्धिकता का पुट आ जाने पर भी उन्होंने संस्कृति संबंधी विविध प्रसंगों पर जितना लिखा है, उसमें हिंदू-संस्कृति के सत्पक्ष का स्तवन परिमाण में संभवतः सर्वाधिक है। ईसाई या पश्चिमी संस्कृति की तुलना में उन्होंने अपनी संस्कृति को सदैव अधिक महत्त्व दिया है। अपनी संस्कृति से उनका यह रागात्मक संबंध इतना प्रबल है कि पश्चिमी सभ्यता के तथाकथित सत्पक्षों की भी वे पर्याप्त आलोचना-परीक्षा करते हैं और उनके समकक्ष अपनी परंपराओं को रखकर तौलते हैं। उदाहरणार्थ ‘नवीन और प्राचीन’ शीर्षक टिप्पणी⁴⁸ में उन्होंने वक्त की पाबंदी वाली पश्चिमी परंपरा के मुकाबले अतिथि की दिलजोई करनेवाली भारतीय परंपरा को तरजीह दी है।

प्रेमचंद हिंदू और हिंदुस्तानी सभ्यता में कोई अंतर नहीं करते। ‘हिंदू-सभ्यता और

लोकहित' शीर्षक निबंध में हिंदू-सभ्यता की बात करते-करते वे हिंदुस्तानी सभ्यता पर उतर जाते हैं। भारतीय हिंदू-मुसलमानों की संस्कृति में भेद उन्हें मान्य नहीं है।⁴⁹ उनकी दृष्टि में भारतीय सांस्कृतिक संघर्ष का आधार हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियाँ नहीं, पश्चिमी और पूर्वी संस्कृतियाँ हैं। 'इकबाल की शायरी पर एक नज़र' डालते हुए वे कहते हैं—'संयोग कहिए या भगवान की इच्छा कहिए, आपका जन्म देश के बौद्धिक उत्थान की दृष्टि से भारतीय इतिहास के एक नाजुक ज़माने में हुआ है, जिसमें दो शानदार तहजीबों में कशमकश हो रही है। एक तरफ़ पश्चिमी सभ्यता का सिक्का फिर रहा है, दूसरी तरफ़ पूर्वी सभ्यता दिलों पर आधिपत्य जमाए हुए है।'⁵⁰

पहले भी यह कहा जा चुका है कि प्रेमचंद इस सांस्कृतिक संघर्ष में आजीवन हिंदू, हिंदुस्तानी या पूर्वी के समर्थक रहते हैं। इस समर्थन का कारण मात्र पूर्वाग्रह नहीं था। आलोचन-परीक्षण से उन्हें यह विश्वास हो गया था कि भारतीय संस्कृति का मूलाधार आध्यात्मिकता और त्याग-भावना है तथा मानवता का भविष्य उसके आदर्शों का अनुसरण करने में सुरक्षित है। संघर्ष और भोग को वे पश्चिमी सभ्यता की रीढ़ मानते थे और उन्हें मानवता के लिए अहितकर समझते थे। उनका विश्वास था कि 'महासमर का निदान है— विश्व-प्रेम'⁵¹ और उसकी स्थापना भारतीय आत्मवाद के आधार पर ही हो सकती है।⁵² इसीलिए उन्होंने यरवदा के कनफ्यूशियस से प्रेरित होकर घोषणा की थी कि 'हम प्रेमी हैं, प्रेम करते हैं—समूचे विश्व से, हमने विश्वशांति का डंका पीट दिया है।'⁵³ नई या समाजवादी सभ्यता में भी उन्हें भावी मानव का कल्याण दिखाई देता है, परंतु समाजवाद का पश्चिमी अर्थ उन्हें स्वीकार नहीं है। वे विवेकानंद या रामतीर्थ के निकट आकर सोचते हैं कि भारत में इस समाजवाद का अर्थ एकात्मवाद को केवल व्यवहार में लाना है।'⁵⁴

उदार मानववादी प्रेमचंद को मानव की सात्त्विक उपलब्धियाँ स्वीकार करने में कभी झिझक नहीं हुई। धर्म या अध्यात्म की श्रेयस्करी प्रेरणाओं को उन्होंने सदैव मुक्त कंठ से सराहा है। आर्यसमाज या रामकृष्ण मिशन के सत्प्रयासों पर लिखी गई टिप्पणियाँ इसका प्रमाण हैं। उनका विरोध केवल प्रगति में बाधक धार्मिक रूढ़ियों से था। मानव और मानव के बीच दीवार खड़ी करनेवाले धर्म से उन्हें घृणा थी। इसीलिए सनातनी पाखंड पर उन्होंने अनेक वज्र-प्रहार किए हैं। श्रेय की इसी भावना से उन्होंने 'हिंदू-समाज के वीभत्स दृश्य' खुली आँखों देखकर अंकित किए हैं।⁵⁵ हिंदू-धर्म की अनेक रूढ़ियों में जाति-भेद का विशेष स्थान है।⁵⁶ प्रेमचंद इस अमानवीय रूढ़ि को राष्ट्रीयता में बाधक होने के कारण यथाशीघ्र समाप्त करना चाहते थे। इसी कारण शोषक पंडे-पुजारी भी उन्हें फूटी आँख नहीं भाते थे। साधारण बोलचाल में गाली देने के भारतीय स्वभाव को उन्होंने कोसा है, क्योंकि 'बदज़बानी नैतिक अंधकार और जाति के पतन का पक्का प्रमाण है।'⁵⁷ छुआछूत की भर्त्सना उन्होंने इसलिए की है कि जब तक हिंदू अपने धर्म से 'यह कलंक दूर न करके उसी से चिपटे रहेंगे, तब तक वे कभी स्वतंत्र नहीं हो सकते।'⁵⁸

इस प्रकार प्रेमचंद के सांस्कृतिक चिंतन का विकास पुनर्जागरण के वातावरण में हुआ है। भारतीय पुनर्जागरण के सारभूत तत्त्वों को आत्मसात करनेवाले महात्मा गांधी का उज्वल व्यक्तित्व उनके लिए प्रकाश-स्तंभ रहा है। प्रायः उन्हीं के विचारों से प्रेरित या सहमत होकर उन्होंने कुछ विकास-विरोधी सांस्कृतिक रूढ़ियों का खंडन किया है। अन्यथा, गांधी के

समान वे भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं और मूल्यों के प्रबल समर्थक रहे हैं। भाषा, साहित्य, कला, शिक्षा, रहन-सहन, पारिवारिक संबंध, खान-पान, खेलकूद, वेशभूषा आदि की श्रेयस्कर भारतीय परंपराएँ सदैव उनके लिए आदर्श रही हैं। उनकी भाषा-नीति गांधी के समान राष्ट्रीय गौरव की भावना और राष्ट्रीय एकता के आदर्श से अनुप्राणित है। शिक्षित समुदाय में अँग्रेजी के प्रचलन पर शोक प्रकट करते हुए वे लिखते हैं— ‘अँग्रेज स्वप्न में भी किसी अँग्रेज से गैर-अँग्रेजी भाषा में न बोलेगा, मगर यहाँ हम आपस में ही अँग्रेजी बोलकर अपनी मानसिक दासता का ढिंढोरा पीटते हैं। ... आदमी के मुख में कलंक लग जाए तो वह शर्माता है, वह कलंक को छिपाता है, कम-से-कम उस पर गर्व नहीं करता, पर हम अपनी दासता के कलंक को दिखाते फिरते हैं, उसकी नुमाइश करते हैं, उस पर अभिमान करते हैं, मानो वह नेकनामी का तमगा हो, या हमारी कीर्ति की ध्वजा। वाह री भारतीय दासता, तेरी बलिहारी है।’⁵⁹

इस कलंक को दूर करने के लिए उन्होंने गांधी के समान सारे देश को एक करने वाली राष्ट्रभाषा हिंदुस्तानी की पैरवी की है। हिंदू और उर्दू के अलग-अलग कैंपों की आलोचना करते हुए वे हिंदुस्तान का समर्थन करते हैं— हिंदुस्तानी इस चहारदीवारी को तोड़कर दोनों में मेल-जोल पैदा कर देना चाहती है ... जो लोग भारतीय राष्ट्रीयता का स्वप्न देखते हैं, जो इस सांस्कृतिक एकता को दृढ़ करना चाहते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे लोग हिंदुस्तानी का निमंत्रण ग्रहण करें, जो कोई नई भाषा नहीं है, बल्कि उर्दू और हिंदी का राष्ट्रीय स्वरूप है।’⁶⁰

भाषा के समान ही साहित्य के क्षेत्र में भी उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीय रहा है। वे प्राचीन भारतीय साहित्य की उपलब्धियों के प्रशंसक और आधुनिक भारतीय साहित्य के उत्थान में प्रयत्नशील थे। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, केशव और बिहारी जैसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों का प्रशंसात्मक परिचय वे अपने उर्दू-पाठकों को प्रायः देते रहते थे। संस्कृत साहित्य के गौरव पर तो वे एक तरफ़ से फिदा थे और इसीलिए उर्दू वालों को उसे पढ़ने की ताकीद करते थे। उदाहरण के लिए ‘कालिदास की कविता’ आदि लेख देखे जा सकते हैं।⁶¹ एक अन्य स्थान पर वे संस्कृत के काव्यशास्त्र की अँग्रेजी से तुलना करते हुए लिखते हैं— ‘संस्कृत में हँसी के प्रकारों, उनकी व्याख्या और उनके उद्दीपकों आदि को बड़े विशद और विस्तृत ढंग से बयान किया गया है। अँग्रेजी में ऐसी विशद सैद्धांतिक चर्चा इस विषय पर नहीं है।’⁶² आधुनिक भारतीय साहित्य को उन्होंने अपनी लेखनी से समृद्ध करने के साथ-साथ अंतर्प्रतीय साहित्यिक आदान-प्रदान के लिए अपने खून-पसीने से सींचा हुआ मासिक पत्र ‘हंस’ भी समर्पित कर दिया।⁶³ विविध प्रसंग, भाग 3 का ‘नीरक्षीर’ खंड सामयिक साहित्य के प्रति उनकी जागरूक आलोचना-दृष्टि का परिचायक है।

प्रेमचंद के भारतीय कला और विशेषतः चित्रकला-संबंधी विचार विविध प्रसंग, भाग 1 के दो लेखों में व्यक्त हुए हैं। उनका विचार था कि ‘हिंदुस्तान में अन्य कलाओं की तरह चित्रकला भी अपने शिखर पर पहुँची हुई थी। यद्यपि आजकल उस ज़माने की तस्वीरें नहीं मिलतीं, मगर जिन हाथों ने एलोरा और अजंता के मंदिरों में जादूगरी की, उनकी उन्नत चित्रकला में कोई संदेह नहीं हो सकता।’⁶⁴ उनका विश्वास है कि शादी-ब्याह या त्योहार पर औरतें घरों की दीवारों पर जो चित्र बनाती हैं, उनसे यह बात यकीनी तौर पर साबित हो जाती है कि पुराने ज़माने में इस कला की सभी विधाएँ हमारी स्त्रियों के शिक्षा-क्रम में सम्मिलित

थीं।⁶⁵ स्वर्गीय चित्रकार राजा रवि वर्मा के प्रसंग में उन्होंने यह भी स्वीकार किया है विभिन्न भाषाओं के देश में राष्ट्रीय एकता के लिए तस्वीरों की भाषा ही सर्वमान्य माध्यम हो सकती है।⁶⁶ दूसरे निबंध में (भारतीय चित्रकला) में बौद्धकाल की मज्जहबी और मुगलकाल की गैर-मज्जहबी कला का ऐतिहासिक परिचय दिया गया है। उनकी दृष्टि में कला का आदर्श 'प्रकृति की नक़ल नहीं', 'सुंदर को सुंदरतम' बनाना, प्रकृति को सँवारना और सुधारना है।⁶⁷

भारतीय सांस्कृतिक विषयों पर उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसमें संभवतः सर्वाधिक महत्त्व शिक्षा-संबंधी लेखों और टिप्पणियों का है। उन्होंने प्रचलित शिक्षा-पद्धति की आलोचना करते हुए राष्ट्र और समाज के लिए उपयोगी शिक्षा के आदर्श प्रस्तुत किए हैं। अँग्रेजी शिक्षा-पद्धति की निम्नलिखित आलोचनाएँ उन्होंने मुख्य रूप से की हैं—

1. यूनिवर्सिटी तो भारत में कोई है नहीं, हाँ, ग्रेजुएट बनाने के कई कारख़ाने हैं। इस लिहाज से संयुक्त प्रांत भारत लंकाशायर या बंबई है। यहाँ ऐसे-ऐसे पाँच बड़े-बड़े कारख़ाने हैं, जहाँ युवकों को दुर्व्यसन और फ़िज़ूलख़र्ची और विलासिता और झूठे अभिमान की शिक्षा दी जाती है।⁶⁸
2. हमारी शिक्षा हमारी सामाजिक चेतना को नहीं जगाती, उसका उद्देश्य अपने फ़ायदे के लिए समाज से काम निकालना है।⁶⁹
3. हमारे विचार में इसमें सबसे बड़ा दोष जो है, वह इसकी स्वास्थ्य की ओर से उदासीनता है। ... हमारे अधिकतर शिक्षित लोग चलते-फिरते रोग हैं।⁷⁰
4. एक तो अँग्रेजी भाषा और उस पर परीक्षाओं का यह आतंक। इन दोनों चक्की के पाटों के बीच में छात्रों का सर्वनाश हुआ जा रहा है।⁷¹
5. वाद-विवाद, ड्रामा, स्काउटिंग, तत्काल चिकित्सा आदि विषयों को स्कूल के कर्मचारी उतना महत्त्व नहीं देते, जितना दिया जाना चाहिए।⁷²
6. स्त्री-शिक्षा के संबंध में वे मेकेंजी की इस आलोचना से सहमत हैं— 'वर्तमान शिक्षा-प्रणाली उन्हें माता और गृहिणी बनने के योग्य नहीं बनाती।' ⁷³ इसीलिए उन्होंने प्रयाग महिला विद्यापीठ के विषय में खुशी से यह लिखा है कि 'यहाँ की विदुषियाँ तितलियाँ बनकर नहीं, गृह-देवियाँ बनकर निकलती हैं।' ⁷⁴
7. हमारे यहाँ की शिक्षा अभी तक अव्यावहारिक है और उसके सांस्कृतिक पक्ष पर अधिक जोर दिया जाता है।⁷⁵
8. अनिवार्य शिक्षा का क्या जिक्र, हर चार गाँव में मुश्किल से एक गाँव में कोई मदरसा है।⁷⁶
9. हमारे यहाँ अभी तक प्राइमरी शिक्षा भी मुफ्त नहीं है।⁷⁷
10. यह तालीम भी मोतियों के मोल बिक रही है।⁷⁸

प्रेमचंद अँग्रेजी ढंग की संस्थाओं के मुक़ाबले में राष्ट्रीय संस्थाओं को आदर्श मानते थे। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी⁷⁹, प्रयाग महिला विद्यापीठ⁸⁰, आर्य कन्या व्यायाम मंदिर, बड़ौदा और उस्मानिया विश्वविद्यालय⁸¹ जैसी राष्ट्रीय संस्थाओं की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। गुरुकुल कांगड़ी के प्रसंग में वे लिखते हैं— 'यों तो स्वामी जी प्राचीन आर्य आदर्शों के पूर्ण रूप से प्रवर्तक थे, पर मेरे विचार में राष्ट्रीय शिक्षा के पुनरुत्थान में उन्होंने जो काम किया

है, उसकी कोई नज़ीर नहीं मिलती। ऐसे युग में जब अन्य बाज़ारी चीज़ों की तरह विद्या बिकती है, यह स्वामी जी का ही दिमाग़ था, जिसने प्राचीन गुरुकुल-प्रथा में भारत के उद्धार का तत्त्व समझा।' इसी प्रकार उस्मानिया विश्वविद्यालय के विषय में वे लिखते हैं कि वह काम की चीज़ है, 'अगर उर्दू और हिंदी के बीच की खाई को और चौड़ी न बना दे। फिर भी मैं उसे और विश्वविद्यालयों पर तरजीह देता हूँ। कम-से-कम अँग्रेज़ी की गुलामी से तो उसने अपने को मुक्त कर लिया।'

अँग्रेज़ी ढंग की शिक्षा-संस्थाओं को राष्ट्रीय निर्माण के योग्य बनाने के लिए उन्होंने निम्नलिखित सुझाव दिए हैं—

1. बालक के लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा को एक सिरे से बदलना पड़ेगा, जिससे समाज में संघर्ष की जगह सहयोग की प्रवृत्ति जागे ...। इस लिहाज से हमारे गुरुकुल आजकल से ईटन या हैरी या राजकुमार कॉलेजों से कहीं उत्तम थे, जहाँ सभी छात्र समान थे। इससे उनमें सार्वजनिकता का भाव पैदा होता था।⁸²
2. राष्ट्र इस सिद्धांत को स्वीकार कर ले कि डिप्लोमा संपत्ति और अधिकार के खजाने की कुंजी नहीं है, तभी शिक्षा का वास्तविक महत्त्व प्रकट होगा।⁸³
3. ट्रेनिंग कॉलेजों में जहाँ और बहुत से विषय पढ़ाए जाते हैं, वहाँ शरीर-विज्ञान भी एक प्रधान विषय होना चाहिए।⁸⁴
4. किशोरावस्था में जब यौवन का विकास होने लगता है, हमारे कितने ही बालक अज्ञान के कारण अपने इंद्रियों का दुरुपयोग करके अपनी सेहत और देह दोनों ही सर्वनाश कर बैठते हैं। ... अगर हमारे हाई स्कूलों और यूनिवर्सिटियों में योग्य विशेषज्ञों से इस विषय पर भाषण कराए जाएँ तो निश्चय हमारे विद्यालयों में जो गुप्त रूप से दुराचरण होता है, वह बहुत कुछ कम हो जाए। ... इसके साथ ही विद्यालयों का भी यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपने बालकों के मस्तिष्क को पाटना ही कर्तव्य की इतिश्री न समझें, उनकी आत्मा उनके स्वास्थ्य और उनके जीवन का कल्याण भी अपना कर्तव्य समझें।⁸⁵
5. शिक्षोपयोगी चित्रों से अलबत्ता युवकों का बहुत कुछ उपकार होने की आशा की जाती है।⁸⁶
6. तेरह बरस की उम्र तक ज़रूरी है कि बच्चे को स्कूल की साधारण शिक्षा दी जाए। उसके बाद जिस तरफ़ उसका रुझान देखें, उसी ढर्रे पर लगा दें।⁸⁷
7. ज़रूरी है कि बच्चों के सामने अच्छी-अच्छी तस्वीरें पेश करके उनमें सुरुचि की बुनियाद डाली जाए।⁸⁸
8. मदरसों की तादाद और तनख़्वाह बढ़ाएँ।⁸⁹
9. हमारी आरंभिक शिक्षा का पाठ्यक्रम ऐसा स्थिर किया जाए कि चार वर्ष तक पढ़ने के बाद लड़का अपनी ज़रूरतों के लिए काफी तौर पर शिक्षा पा जाए।⁹⁰

निष्कर्षतः वे शिक्षा-पद्धति में आमूल परिवर्तन के पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उपयोग स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं, सामाजिक हित के लिए होना चाहिए। वह चरित्र-निर्माण और सामाजिकता के विकास में सहायक होनी चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षकों

को मात्र सूचनाएँ देने के अतिरिक्त कुछ और कर्तव्यों का निर्वाह भी करना होगा। शिक्षकों की आर्थिक कठिनाई को दूर करना भी वे आवश्यक समझते थे, परंतु विश्वविद्यालयों के प्रोफेसरों की ऊँची तनख्वाहों को देश के लिए बोझ समझते थे।

प्रेमचंद के रहन-सहन-संबंधी विचार गांधी से प्रभावित थे और रूस की नई सभ्यता का आलोक देख चुकने के बाद भी यह प्रभाव कम नहीं हुआ था। औद्योगिक और व्यापारिक संस्कृति के मूल्य उन्हें स्वीकार्य नहीं थे और ग्रामीण एवं वन्य जीवन के नैसर्गिक वातावरण का मोह उन्हें आजीवन बना रहा। आरंभ में तो वे अपने-आपको सहयोगी मानकर उसे गुजरे हुए जमाने को लौटाने का दावेदार घोषित करते हैं, जब वेद की सृष्टि हुई थी, जब दर्शनशास्त्र लिखे गए थे, जब बुद्ध और हजरत ईसा जैसे महात्मा पैदा हो सकते थे, जब तैरत संगृहीत हुई थी।⁹¹ बाद में भी 'व्यापार और कल कारखानों की उन्नति, तरह-तरह के यंत्रों का आविष्कार' करनेवाले नए नक़ल पर टिप्पणी करते हुए वे भारतीयों की इस वानरी प्रवृत्ति पर कठोर आघात करते हैं।⁹³

ईसाई संस्कृति के प्रसंग में यह संकेत दिया जा चुका है कि पारिवारिक पद्धति की दृष्टि से प्रेमचंद यूरोपीय छोटे परिवार के मुक़ाबले भारतीय सम्मिलित परिवार की प्रथा को अधिक मानवीय और ग्राह्य मानते थे। स्त्री-पुरुष के संबंधों की दृष्टि से तो वे यूरोपीय तलाक-प्रथा से पर्याप्त सशंक थे। भारतीय परंपरा के अनुकूल वैवाहिक संबंध की पवित्रता में उनकी पूरी आस्था थी। 'कारवाँ' की आलोचना करते हुए वे लिखते हैं— 'वैवाहिक जीवन में पाँव रखते ही स्त्री-पुरुष दोनों वफ़ादारी का व्रत लेते हैं, और इस व्रत का जितना दृढ़ता से पालन होता है, उतना ही जीवन सुखी होता है।' ⁹⁴ यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि संतति-निरोध के कृत्रिम उपायों की यूरोपीय प्रथा को उन्होंने केवल इस आधार पर अस्वीकार किया है कि उससे स्त्री-पुरुषों में विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने का भय रहता है। उन्हें दम-संयम वाली भारतीय जीवन-पद्धति अधिक श्रेयस्कर लगती है।

खेलकूद और मनोरंजन की भारतीय पद्धतियों के प्रति उनके पक्षपात का उल्लेख भी पहले हो चुका है। यूरोपीय नंगे नाचों के प्रति घृणा प्रकट करते हुए वे एक टिप्पणी में लिखते हैं— 'यूरोप में नग्न विलासिता ज़ोरों से बढ़ रही है और वही लोग जो स्त्रियों के आदर का गुल मचाते हैं, बालिकाओं को नग्न वेश में देखकर अपनी आँखों को तृप्त करते हैं।'⁹⁵ इतना ही नहीं भारत में शिक्षितों द्वारा यूरोपीय वसन-विन्यास की नक़ल को भी वे अनुचित मानते हैं और किसी जातीय पहनावे की कमी के बावजूद ऐसी वेशभूषा का व्यवहार न करने की सलाह देते हैं, जिसमें विदेशीपन की झलक आती हो।⁹⁶ जातीय पहनावे के प्रति वे इतने संवेदनशील हैं कि उन्हें साड़ी ऐसी लोचदार चीज़ को छोड़कर पाजामा पहनने में कुरुचि की गंध आने लगती है।⁹⁷

खान-पान के संबंध में भी वे बहुत दूर तक परंपरागत भारतीय रुचियों के कायल हैं और उन्हें यह देखकर खुशी होती है कि 'विज्ञान भी हमें उसी तरफ़ ले जा रहा है, जिधर हम पहले से चल रहे हैं।'⁹⁸ यूरोपीय पद्धति के डिब्बा-बंद भोज्यों की अपेक्षा वे मूली-गाजर, पालक-बथुआ, गुड़, चावल, गेहूँ आदि को भारतीय पद्धति से खाना अधिक उपयोगी समझते हैं। टूथपेस्ट और ब्रश की अपेक्षा उन्हें दातून निःसंदेह अधिक लाभदायक दिखाई देती है।⁹⁹ इसी उपयोगितावादी दृष्टि से वे मादक-वस्तुओं का निषेध आवश्यक समझते हैं— 'मादक वस्तुएँ सभी

हानिकर हैं और हमारा कर्तव्य है कि उन्हें स्वयं छोड़ें और यथाशक्ति दूसरों से छुड़वाएँ।' 100

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद के आचार और विचार में भारतीयता का रंग बहुत गहरा है। उनके परंपरागत संस्कारों को दयानंद और गांधी जैसे राष्ट्रीय नेताओं के दृष्टिकोण से बल मिला है। पुनर्जागरणकालीन भावनाओं के अनुरूप वे बौद्धिक परीक्षा में खरी उतरने वाली भारतीय परंपराओं को सोत्साह स्वीकार करते हैं और विदेशी परंपराओं की अंधी नक़ल के कटु आलोचक रहे हैं। अंतिम दिनों में कुछ सांप्रदायिक संस्थाओं के सांस्कृतिक नारों से संशक होकर वे संस्कृति की आर्थिक व्याख्या करने को विवश हो गए थे, परंतु सामान्यतः आदर्श और श्रेयस्कर भारतीय सांस्कृतिक परंपराओं में उनके प्रिय नेता गांधी के समान उनकी आस्था भी निष्काम रही है।

संदर्भ

1. विविध प्रसंग- 3, पृ० 189
2. विविध प्रसंग- 1, पृ० 1
3. विविध प्रसंग- 2, पृ० 427
4. वही, पृ० 100
5. विविध प्रसंग- 3, पृ० 205
6. वही, पृ० 232
7. विविध प्रसंग- 2, पृ० 427
8. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 138
9. विविध प्रसंग- 2, पृ० 73
10. वही, पृ० 419
11. विविध प्रसंग- 3, पृ० 155
12. वही, पृ० 232
13. विविध प्रसंग- 1, पृ० 169
14. वही, पृ० 193
15. वही, पृ० 108
16. वही, पृ० 216-217
17. वही, पृ० 174
18. विविध प्रसंग- 3, पृ० 206
19. वही, पृ० 206-207
20. वही, पृ० 142
21. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 33
23. वही, पृ० 77
24. वही, पृ० 261
25. विविध प्रसंग- 3, पृ० 208
26. विविध प्रसंग- 3, पृ० 54-55
27. विविध प्रसंग- 2, पृ० 303

28. विविध प्रसंग- 3, पृ० 193
29. वही, पृ० 196
30. वही, पृ० 197
31. वही, पृ० 197-198
32. वही, पृ० 199
33. वही, पृ० 242
34. वही, पृ० 458
35. वही, पृ० 193
36. वही, पृ० 258
37. वही, पृ० 269-270
38. वही, पृ० 265
39. वही, पृ० 159
40. वही, पृ० 156
41. वही, पृ० 218
42. विविध प्रसंग- 2, परिशिष्ट
43. वही, पृ० 540
44. विविध प्रसंग- 3, पृ० 206
45. विविध प्रसंग- 1
46. विविध प्रसंग- 3
47. वही
48. वही, पृ० 234
49. विविध प्रसंग- 1, पृ० 151
50. विविध प्रसंग- 2, पृ० 316
51. वही, पृ० 100
52. वही, पृ० 300
53. वही, पृ० 224
54. विविध प्रसंग- 3
55. विविध प्रसंग- 2, पृ० 153
56. विविध प्रसंग- 1, पृ० 159
57. विविध प्रसंग- 3, पृ० 442
58. वही, पृ० 189-191
59. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 157
60. विविध प्रसंग- 1
61. वही, पृ० 231
62. विविध प्रसंग-3, पृ० 499
63. विविध प्रसंग-1, पृ० 85
64. वही, पृ० 87

65. वही, पृ० 89
66. वही, पृ० 90
67. विविध प्रसंग-3, पृ० 198
68. वही, पृ० 221
69. वही, पृ० 241
70. वही, पृ० 212-213
71. वही, पृ० 220
72. वही, पृ० 266
73. वही, पृ० 245
74. विविध प्रसंग-1, पृ० 82
75. वही, पृ० 82
76. वही, पृ० 83
77. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 111
78. विविध प्रसंग, पृ० 201-203
79. वही, पृ० 244-245
80. साहित्य का उद्देश्य, पृ० 111
81. विविध प्रसंग-3, पृ० 221-222
82. वही, पृ० 231
83. वही, पृ० 212
84. वही, पृ० 243
85. वही, पृ० 228
86. विविध प्रसंग-1, पृ० 82
87. वही, पृ० 81
88. वही, पृ० 115
89. वही, पृ० 117
90. विविध प्रसंग-2, पृ० 28
91. विविध प्रसंग-1, पृ० 262
92. विविध प्रसंग-2, पृ० 303
93. विविध प्रसंग-3, पृ० 376
94. वही, पृ० 236
95. वही, पृ० 193
96. वही, पृ० 269
97. वही, पृ० 242
98. वही, पृ० 242
99. विविध प्रसंग-2, पृ० 282
100. विविध प्रसंग-3, पृ० 235

□ ए-98, अशोक विहार, फेज प्रथम, दिल्ली 110052

विद्यापति की पदावली में सौंदर्य-निरूपण

डॉ० सभापति मिश्र

सौंदर्य अनुभूति का विषय है। भाववादी दार्शनिकों की दृष्टि में इसकी सत्ता वस्तुगत न होकर आत्मगत होती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे और अधिक व्यापकता प्रदान करते हुए सौंदर्य की सत्ता आत्मगत और वस्तुगत दोनों से माना है। वस्तुतः प्रकृति, मानव-जीवन तथा ललित कलाओं के आनंददायक गुण का नाम सौंदर्य है। इसे ही भारतीय सौंदर्य-चिंतन के आकर ग्रंथ उपनिषदों में रसस्वरूप, आनंदस्वरूप, परम प्राप्तव्य और अमृततत्व माना गया है।¹ यह अमृततत्व अनिर्वचनीय है। इसे अनुभव किया जा सकता, परंतु अभिव्यक्त नहीं। यदि इसकी अभिव्यक्ति होगी भी तो वह तब तक पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकती, जब तक प्रमाता का मानसिक संस्कार और उसकी सौंदर्य दृष्टि का समुचित विकास न हो गया हो। किसी सर्जक द्वारा अभिव्यक्त सौंदर्य उसके आंतरिक व्यक्तित्व की संरचना पर निर्भर करता है। इन अनुभूतियों की संरचना सर्जक की अभिरुचि और उसके मनोगत संस्कारों से होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व पर सामाजिक परिवेश का प्रभाव जितना सघन होता है, उसके व्यक्तित्व का प्रकाशन उतना ही भौतिक एवं बहिर्मुखी होता है। इसके विपरीत व्यक्तिचेतना के भीतर जितनी ही जन्मजात प्रवृत्तियाँ उभरती हैं, उसका व्यक्तित्व उतना ही सामाजिक बंधनों से मुक्त तथा स्वच्छंद होता है।²

विद्यापति-पदावली मैथिल सौंदर्य के अकुंठ गायक महाकवि विद्यापति की यशोवर्द्धन अमर कृति है। इसके सम्यक् अनुशीलन से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, वे पाठक तथा आलोचक को भावविभोर एवं चमत्कृत करनेवाले हैं। उनकी सौंदर्यानुभूति द्विधा प्रकृति वाली है। एक ओर वह स्थूल और बहिर्मुखी स्वरूपा है तो दूसरी ओर अत्यंत सूक्ष्म और अंतर्मुखी प्रकृति वाली है। अपने इसी वैशिष्ट्य के कारण वह 'अपरूप के कवि' नाम से प्रसिद्ध हैं। वे एक ओर अपने समकालीन सामाजिक संस्कारों से जुड़े हैं तो दूसरी ओर उनका परिवेश, युगीन परंपरा और जन्मजात प्रवृत्तियाँ परस्पर संगुंफित होकर एकत्र घनीभूत हो उठी हैं। विद्यापति ने अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रदर्शन अपने युग के स्वीकृत तथा आरोपित सामाजिक बंधनों के अंतर्गत किया है। मांसल प्रेम-चित्रण और आश्रयदाताओं का प्रशस्तिगान करने के बावजूद वह लोक और अपने पूर्ववर्ती संस्कृत की काव्य-परंपरा से इस तरह एकमेव हो उठे हैं कि किसी एक को दूसरे से अलग करना असंभव-सा हो गया है। एक ओर परंपरागत रूढ़ियों के आग्रह से इनकी शैली काव्यशास्त्र के निकट हो गई है, तो दूसरी ओर कवि-हृदय में तरंगाणित रसिकता और भक्तिभावना विद्यापति को बार-बार मथती प्रतीत होती है। इस मंथन के फलस्वरूप जो दिव्य नवनीत-सार प्रकट होता है, वही 'विद्यापति-पदावली' है। 'पदावली' का दिव्य

सौगंध-सार ही कवि के द्वारा सौंदर्य-निरूपण के रूप में हमारे समक्ष प्रकट हुआ है। इसीलिए आचार्यों ने उन्हें प्रेम एवं सौंदर्य का अमर गायक, नव कविशेखर, अभिनव जयदेव और मैथिल कोकिल प्रभृति अनेक विरुद प्रदान किए हैं। विद्यापति के काव्य में ऐंद्रिकता, भौतिकता एवं स्थूलता के जो दर्शन होते हैं, वह उनके भीतर प्रवहमान रसमयता का बाह्य कलेवर है। उसके आभ्यंतर में उनकी कोमलता, मसृणता, सूक्ष्मता, तारुण्य, मस्ती एवं यौवनोन्माद की उत्ताल तरंगों ही आद्यंत घूर्णित एवं चक्रित होती दिखाई पड़ती हैं। उनकी संपूर्ण काव्यसर्जना में सौंदर्य के आलंबन के रूप में नारी-सौंदर्य का ही सर्वाधिक चित्रण मिलता है, जहाँ नारी के देह और हृदय की सुंदरता, मृदुता, सुकुमारता, कृशता, दीप्ति, लावण्य, कांति, प्रभा, उज्ज्वलता, यौवन, सुघड़ता तथा गठनशीलता का संभार और विकास है। 'पद्मावत' में जायसी जब सिंहलद्वीप की पद्मिनी स्त्रियों का सौंदर्य-निरूपण करते हुए 'दीर्घ चारि चारि लघु, चारि सुभर चहुँ खीन'³ कहते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उस समय उनकी दृष्टि में विद्यापति द्वारा निरूपित नायिका का सौंदर्य-चित्रण ही बिंबरूप में उपस्थित हो गया है। नारी-सौंदर्य का इतना प्रतिष्ठित मानक उन्हें फ़ारसी-परंपरा में भी न मिलता।

मध्यकालीन कवि-परिपाटी नारी-सौंदर्य के निरूपण में ही सौंदर्य का चरम उत्कर्ष मानती थी। विद्यापति भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके काव्य में नायिका के केश, अँगुली, नेत्र, ग्रीवा, दसन, कुच, ललाट, नाभि, कपोल, नितंब, जाँघ, कलाई, नासिका, कटि, उदर और अधर प्रभृति नारी के अंगों-उपांगों का सुंदर वर्णन मिलता है। यही सौंदर्य-निरूपण की दृष्टि परवर्ती भक्त कवियों से होती हुई रीतिकालीन कवियों को प्राप्त हुई। अतः निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि रीतिकाव्य और उसके प्रणेता विद्यापति के ऋणी थे। रीतिकालीन काव्यग्रंथों में नायिका के सौंदर्य में कमलनयनी, क्षुद्रंघनासिका वाली, अविरल कुचयुग्मा, दीर्घकेशी, कृशांगी, स्वर्णिम देह कांति वाली, पद्मगंधा, मृगनयनी, सुवेशी, सुकुमारी, लज्जायुता, राजमराल-सी गतिवाली, मृदुल मुस्कान और मनोहर अंगों वाली, अनुरागमयी, मधुआपूरित नेत्रों का जो प्रतिमान स्थापित हुआ, उसकी बहुत कुछ पृष्ठभूमि विद्यापति की पदावली में विद्यमान है—

परसे बुझल तनु सिरिसिक फूल। वदन सुसौरभ सरजित तूल।
मधुर बानि सुरे कोकिल साद। पिउल अधर मुख अमिय सवाद।
सुंदरि बूझल तोहर विवेक। चारि जेंओल मरि भूखल एक।
वासर देखहिं न पारिअ सूर। दुतिक वचने अएलाहुँ एत दूर।⁴

विद्यापति-पदावली में रूप-सौंदर्य :

मनुष्य सृष्टि के अनादिकाल से सौंदर्यप्रेमी रहा है। उसके लिए सौंदर्य सृष्टि का घनीभूत अमृत तत्त्व है, परम मधु है। वैदिक ऋषि इसी परमतत्त्व को नाना रूपों में नाना नामों से अभिहित करते हुए इसे परम प्राप्तव्य मानते हैं। सौंदर्य-बोध ऐंद्रिय-चेतना के विकास का सहजतम और प्रबलतम साधन है। सौंदर्य में रूप की छटा जो छबीलापन उत्पन्न कर देती है, उनसे मन-मयूर मुग्ध हो जाता है। विद्यापति ने पदावली के नाना छंदों में इसी परम छवि की विविध छविमयी आकृतियाँ गढ़ी हैं। राधा का रूप-सौंदर्य, यौवन, अंग-सौंदर्य, लावण्य, अनुराग, कांति, आभा, प्रभा, मुस्कान, माधुर्य सभी कुछ इसकी परिधि में आ गए हैं। जो कुछ भी हमारे रतिभाव का भाजन हो सकता है, वह सभी कवि ने इसमें समेट लिया है।

महाकवि विद्यापति ने दूती के माध्यम से ही प्रायः कृष्ण और राधा के अद्भुत रूप-सौंदर्य का वर्णन किया है। अपनी संपूर्ण कल्पना-शक्ति और सौंदर्य-भावना के बल पर उन्होंने राधा का जो सौंदर्यांकन किया है, वह स्तुत्य है। लौकिक भाव के माध्यम से अलौकिक भावों की अभिव्यंजना और अलौकिक भावों का लोक के स्तर पर साधारणीकरण करते हुए उसे लोकचित्त के अनुकूल बनाकर प्रस्तुत करना विद्यापति का अपना वैशिष्ट्य है। राधा-कृष्ण के प्रेम-प्रसंगों में इसकी उपस्थिति चमत्कृत करती है।

विद्यापति के गीतों में राधा-कृष्ण के बीच पनप रहे माधुर्य भाव में जो अनुरंजकता और मार्मिकता दृष्टिगोचर होती है, उसका आश्रय उनका मानसिक संस्कार है, जो नित्य नवीन और परमसौंदर्यमय है। इसीलिए विद्यापति 'नव वृंदावन, नव-नव तरुगन, नव-नव विकसित फूल' ⁵ की कल्पना करते हुए सौंदर्य के नित नवीन होने की बात कहते हैं। उनके काव्य में जो शब्द बार-बार आवृत हुए हैं अथवा जिन अंगों की सुषमा, कांति, लावण्य, शोभा का बार-बार वर्णन हुआ है, वे बार-बार आवृत होने पर भी पुराने और उबाऊ प्रतीत नहीं होते हैं। उनकी नवीनता, ताजगी और सौंदर्य चिरनवीन है। राधा-कृष्ण के रूप-सौंदर्य निरूपण में उनकी इस विशिष्टता को देखा जा सकता है। विद्यापति की कल्पना में राधा का जो स्वरूप उभरता है, वह पृथ्वी के संपूर्ण लावण्य सार से निर्मित है। राधा का अंग-अंग ऐसा प्रतीत होता है मानो विधाता ने उसे साँचे में ढालकर निर्मित किया है। लौकिक पुरुषों की बात ही क्या, स्वयं कामदेव भी राधा के इस रूप को देखकर मूर्च्छित हो जाता है—

देख-देख राधा रूप अपार।

अपरुब के बिहि आनि मिलाओल खिति तल लावनि-सार।

अंगहि अंग अनंग मुरछाएत हेरए पड़ए अधीर।

मनमथ कोटि मथन करु जे जन से हेरि महि मधिगीर।

कत कत लखिमी चरन-तल नेओछए, रंगिनि हेरि बिभोरि।

करु अभिलाख मनहि पद-पंकज अहिनिसि कोर अगोरि। ⁶

राधा की देहयष्टि अत्यंत क्षीण है। उनके उरोजों में पीनता, कटि में क्षीणता तथा नितंबों में गुरुता है, जो एक नारी को प्रशस्त नायिका की कोटि में पहुँचाते हैं। विद्यापति की दूती राधा के इस अपूर्व एवं प्रशस्त सौंदर्य को देखकर मोहित है। कृष्ण से इस नवल नागरिका के रूप-सौंदर्य का वर्णन करती हुई वह कहती है कि हे कृष्ण! राधा का सौंदर्य अद्वितीय एवं अनुपम है। उसके रूप की समता कोई अन्य युवती नहीं कर सकती है क्योंकि इस जैसी अपूर्व सुंदरी मैंने पहले कभी नहीं देखी है। ⁷

नख-शिख वर्णन :

नख-शिख वर्णन भारतीय काव्य-परंपरा में एक प्रिय विषय रहा है। कवियों ने अपने मानस में उभरते हुए सौंदर्यानंद को प्रकट करते हुए बड़ी तल्लीनता से नायक अथवा नायिका का नख-शिख वर्णन किया है। इस क्रम में उसके नेत्र, भौंह, नासिका, मुख, अधर, चिबुक, ललाट, कपोल, केश, कबरी, ग्रीवा, स्कंध प्रदेश, उरोज, वक्षःस्थल, कटि, उदर, रोमराजि, नितंब, जाँघ, बाहु, कलाई, चरण, अँगुलियों एवं पृष्ठप्रदेश कवि-वर्णन के विषय बने हैं। लगभग सभी कवियों ने नायिका के अंग-प्रत्यंग को इस बारीकी से चित्रित किया है कि बेचारी नायिका पेट की

रोमावली को भी छिपा नहीं सकी। जहाँ तक विद्यापति का इससे संबंध है, निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि यद्यपि उनके काव्य में नायिका के बाह्य-सौंदर्य का बड़ा रसमय निरूपण हुआ है किंतु वह उसके आंतरिक सौंदर्य की महत्ता से अपरिचित नहीं हैं। उनकी दृष्टि में वास्तविक सौंदर्य वही है, जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार के सौंदर्य का प्रकाशन करे। इसीलिए वे अपने पदों में राधा-कृष्ण के बाह्य सौंदर्य नखशिख के सौंदर्य-निरूपण तक सीमित न रहकर स्थान-स्थान पर राधा-कृष्ण के आंतर सौंदर्य की भी झलक दी है। उनका यह प्रयास पूर्णतया मौलिक, मार्मिक और हृदयस्पर्शी है। उनके इस सौंदर्य-निरूपण की श्रेष्ठता का बहुत सारा श्रेय उनकी अनुभूतिपरकता, समुज्ज्वल सौंदर्य-दृष्टि एवं नवनवोन्मेषशालिनी काव्य-प्रतिभा को दिया जाना चाहिए। उनके इस उपक्रम में जो नवीनता, ताजगी, सूक्ष्मता, स्वच्छंदता, स्वच्छता एवं स्पृहणीयता है, उसका सारा श्रेय उनकी इन्हीं विशेषताओं को है। वास्तव में विद्यापति की सौंदर्य दृष्टि अत्यंत दिव्य, प्रौढ़ और अद्भुत है।

विद्यापति के सौंदर्य-निरूपण की एक विशेषता छवियों का अपनी कविता में संयोजन है। नायिका के आंगिक सौंदर्य-निरूपण में वे सिद्धहस्त हैं। उन्होंने राधा के अंग-प्रत्यंग का वर्णन जिस रसिकता से किया है, वह अन्यतम है। उनके द्वारा वर्णित राधा के रूपसौंदर्य एवं नखशिख के निरूपण में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आता है वह यह है कि विद्यापति की सौंदर्य-चेतना नायिका के आंगिक सौंदर्य, उसके पोर-पोर से प्रस्फुटित होने वाली कांति, दीप्ति, उज्ज्वलता, लावण्य, शोभा, सौगंध, सौरस्य, सौकुमार्य और माधुर्य का स्पर्श करते हुए आगे बढ़ती है। यहाँ पर नायिका का नवयौवन अपने चरम पर दिखाई पड़ता है। उसके नेत्र विशाल हो गए हैं। भौंह कामदेव की कमान बन गई है। रोमावली कमलकलित मधुकर्णों की माला और ओष्ठ रस-पत्र बन गए हैं।⁸ कुचयुग्म पूर्ण विकसित कमल की तरह और वाणी कोकिलवयनी हो उठी है। पूरी देह में अद्भुत निखार और अरुणाई का साम्राज्य-सा दिखाई पड़ता है। मृगी-सी चंचल चितवन के स्थान पर विलास की विह्वलता और अल्हड़ता के स्थान पर सुरत-सुख की अभिलाषा तरंगायित हो उठी है। कवि नायिका के इस विकास की उपमा वसंत-ऋतु में नवविकसित हुए उपवन से देते हुए कहता है—

फूटल कुसुम नव कुंज कुटिर बन, कोकिल पंचम गाब रे।
मलयानिल हिम-शिखरे सिधारल, पिआ निज देश न आब रे।
चान्द-चन्दन तनु अधिक उतापड़, उपवने अलिकुल बूल रे।⁹

इसी प्रकार कवि कृष्ण के नेत्ररूपी भ्रमरों द्वारा राधा के सौंदर्य-रूपी मधु का इतना छककर पान किया है कि पाँखें पसारने पर भी वह उड़ नहीं पा रहा है—

ए कान्ह ए कान्ह तोरि दुहाई। अति अपूरब देखलि राई।
मुख मनोहर अधर रंगे। फूललि मधुरी कमल संगे।
लोचन जुगल भृंग अकारे। मधुक मातुल उड़ए न पारे।
भउँहक कथा पुछक जनू। मदन जोड़ल काजर धनू।¹⁰

विद्यापति की राधा इस वसुधा-तल की सजीव कविता है। उनका ही सौंदर्य विद्यापति के काव्य का सौंदर्य बनकर प्रकट हुआ है। उनके समस्त पद राधा-कृष्णमय हैं। राधा तो कृष्ण की भी माधुर्यसार सर्वस्व प्राणवल्लभा हैं। विद्यापति के कृष्ण भी राधा से अभिन्न हैं। राधा कृष्ण

की प्राणाधार हैं। उनका मांसल शरीर, गदराया यौवन, तिरछी चितवन, निराली अदाएँ कृष्ण को पूर्ण विकसित कमल, रस में पगा हुआ भौरा की भाँति अमृत का प्यासा बना देती हैं।

मुख एवं कपोल :

सौंदर्य निरूपण में अंगों की प्रमुखता सर्वविदित है। सौंदर्य के प्रथम आकर्षण का केंद्र मुखमंडल होता है। सौंदर्य मुख के अरितः परितः परिवर्धित होता है। विद्यापति की राधा का मुख कमल, चकोर तथा चंद्रमा के समान सुंदर है। राधा के सौंदर्यमय मुख के लिए प्रयुक्त 'शरदक शशधर' विद्यापति का प्रिय उपमान रहा है। उस सौंदर्य में सहजता और मनोहरता है, क्योंकि उसकी रचना चंद्रमा के सारतत्त्व से हुई है।¹¹ पूनम का चाँद उसका पृष्ठभाग लगता है। उसकी सुंदरता, अरुणाई और अंग-काँति के समक्ष भोर का अरुण भी तुच्छ प्रतीत होता है। राधा के मुख को देखकर अंधकार अँधेरे में छिप जाता है। इसीलिए कवि बार-बार राधा को 'सुमुखि' कहकर संबोधित करता है।¹² काँतिमान, वर्तुल और मांसल कपोल सौंदर्ययुक्त माने गए हैं। विद्यापति की राधा के कपोल मसृण, कोमल और लोल हैं। उनकी काँति कृष्ण के नेत्रों से हटती ही नहीं। उसके मांसल सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए विद्यापति कहते हैं कि अपूर्व नवयौवन को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके मुखरूपी दर्पण में शरद ऋतु का चंद्रमंडल डूबा है। उसके दोनों नेत्र भोर में खिले कमलदल के समान हैं। कवि की दृष्टि में राधा का सहज प्रफुल्लित आनन जब बहुविध क्रियाव्यापारों में संलग्न हो जाता है, तब तो वह अतुल्य छटा को ही बिखेर देता है। नवल किशोरी राधिका जब अपने मुख को कृष्ण की ओर करके उन्हें अविस्मृत भाव से देखती हैं, उस समय उनकी शोभा और भी अधिक विवर्धित हो उठती है।

नेत्र, नासिका और भौंह :

नारी के सौंदर्य में सर्वाधिक आकर्षक उसके नेत्र होते हैं। नेत्रों की शोभा उसकी कृष्णता, विशालता एवं नीलोत्पल सदृश द्युतिमानता में होती है। विद्यापति नेत्रों की भंगिमा के मर्म के बड़े पारखी थे। इसीलिए उन्होंने नेत्रों के क्रमिक विकास का बड़ा ही हृदयग्राही वर्णन किया है। राधा के नेत्रों की उपमा कहीं पर वे चकोर से, कहीं भृंग के समान और कहीं कमल के समान आह्लादक तथा आकर्षक कहते हैं। उनके नेत्रों की कालिमा, श्वेतिमा एवं लालिमा का इससे सुंदर उपमान और क्या हो सकता था? नवल-नागरिका राधा के नेत्रों की शोभा का अवलोकन कर कवि ही नहीं, उसके नायक कृष्ण भी मतवाले हो उठते हैं। राधा के नेत्र कर्ण-प्रदेश तक फैले, विशाल और सुदीर्घ हैं। चंचलता, चपलता और दीप्ति उसके प्रधान गुण हैं।

प्रातक अरुण कमलदल लोचन ताकर मातल भृंगी।

दरसने बिदगध मानस दंसए भू-युग काल भुजंगी।²³

नासिका की उपमा काव्य में खड्ग और तोते से दी जाती है। लक्षण ग्रंथों में नासिका को समान पुरोवाली, क्षुद्ररंध्र तथा सुघर कहा गया है। विद्यापति की राधा की नासिका गरुड़ के चोंच का भ्रम उत्पन्न करती है तो कहीं अपनी सुंदरता से कीर को भी लज्जित करती है। विद्यापति ने पदावली में अनेक उपमानों को प्रस्तुत करके नायिका की नासिका को सुंगंधि बिखेरने वाली कहा है।

भौंहों की उपमा कवियों ने कामदेव के रुक्ममंडित महान् धनुष से दी है। उसकी

कालिमा, अलग्नता, पृथुलता और बालचंद्रसन्निभ द्युतिमयता को सौंदर्य का परम हेतु कहा गया है। भौंहों की सुंदरता के कारण ही स्त्रियाँ नतभ्रू कही जाती हैं। भौंहों की वक्रता नारी-सौंदर्य का वर्धन करती है। उसमें बाँकपन, किंचित् चपलता, तनाव, सन्निकटता आदि को विशेष रूप से सौंदर्यवर्द्धक माना गया है। विद्यापति की नायिका राधा की भौंहें तो साक्षात् कामदेव की प्रत्यंचा तनी धनुष है, जिस पर कृष्ण के हृदय पर प्रहार करने वाला बाण सदैव ही चढ़ा रहता है। विद्यापति ने भौंहों के लिए 'मदन-चाप जनि भअुह लता' ¹⁴ कहकर भौंहों की सुंदरता को अभिव्यक्त किया है।

अधर एवं दंत-पंक्ति :

अधरों को स्वाभाविक रूप से अरुण वर्ण का माना गया है। उसकी रसमयता और अरुणाई के कारण उसकी उपमा बिंबाफल से दिए जाने की कवि-परंपरा रही है। ¹⁵ अधर दाँतों के वक्त्र हैं क्योंकि वे उन्हें आच्छादित किए रहते हैं। उसकी रुचिरता, रक्तिमा, अमासंलता तथा रसमयता की उपमा बंधुजीव एवं मधुरी के फूल से दी जाती है। विद्यापति की राधा के अधर भी मधुरी, पांडुरि और बिंबाफल के समान सरस, मधुर और ईषत् रक्ताभ हैं। उनमें अमृत का अधिवास है। रसस्वरूप कृष्ण भला इस अमृतरस के पान से कैसे वंचित रह सकते हैं। विद्यापति राधा के इस रसरूप अधर का वर्णन करते हुए कहते हैं कि राधा के अधर बिंबाफल के समान रक्ताभ हैं, जिनमें दाड़िम के बीज के समान उसकी लघु दसनावली अपूर्व शोभा पा रही है। उसके चंद्रमा के समान मुख के ऊपर सूर्य के समान आरक्त सिंदूर बिंदु को देखकर ऐसा भ्रम होता है मानों सूर्य और चंद्रमा साथ-साथ उग आए हैं।

मुख मनोहर अधर सुरंगे।
फूललि मधुरी कमलक संगे।

अधर बिंब सम दशन दाड़िम बिजु
रवि शशि उगथि कि पासे।
राहु दूर बसु निअरो न आबथि
तजे नहिं करथि गरासे। ¹⁶

कुंदकली के समान श्वेत, सुंदर, चमकीले, कांतियुक्त दाँत प्रशस्त माने गए हैं। तीक्ष्णाग्र, सुसम, दृढ़ और मृणाल-इंदु के समान वर्ण वाले दाँत शुभता के पर्याय हैं। राधा के दाँतों की पंक्ति-छवि पंक्तिविजडित गजमुक्ताओं की भाँति तथा दाड़िम के बीज के समान सुंदर हैं—

कमल वदन पर कीर विराजित अधर बिंबफल लोभा
जलधि सुता सम वचन सोहाअुन शिखर बीज रद पाँती। ¹⁷

कंठ प्रदेश, उरोज, उदर, कटि एवं नाभि :

कंठ प्रदेश के अंतर्गत ग्रीवा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कंबु के समान ग्रीवा को श्रेष्ठ माना गया है। राधा की ग्रीवा शंख के समान सुडौल, उतार-चढ़ावदार और मनोरम है। ग्रीवा की यह गरबीली, मानयुक्त भंगिमा चढ़ी हुई नाकवाली छवि को पूर्णता प्रदान करती है और राधिका के आभ्यंतर स्वरूप की और अधिक प्रतिष्ठा करती है। जबकि उसके रोमरहित,

कोमल और सचिक्कण उर अत्यंत प्रशस्त हैं। वे पीन, सघन, अविषम, कठिन और सुवृत्तित उरोजों से युक्त हैं।¹⁸ कवि परंपरा में भी नारी-आकर्षण के सर्वाधिक सशक्त अवयव के रूप में स्तनों को ही मान्यता मिली है। विद्यापति की मुग्धा नायिका राधा ने अभी-अभी अपनी बाल्य एवं युवावस्था की देहली पर चरण रखा है। इसलिए उसके कुच बेर के समान छोटे हैं। अवस्था के क्रमिक विकास के साथ ही उनमें उन्नतता, लोल, गोलाई और उभार आता है। अब वे नारंगी के समान रसपूर्ण, उन्नत एवं पीन हो चले हैं। उनके उरोजों की इस शोभातिशयता को देखकर कवि ने उन्हें कनक कलश, श्रीफल, स्वर्णपर्वत, मेरुगिरि, कनक-कमल, कनक-शंभु, कनक कटोरा और चकोवा कहा है।¹⁹ उसके उदर सचिक्कण, सपाट एवं सुंदर नाभि से युक्त हैं। उसका गौरवर्ण, लावण्य, शोभा एवं कांति विद्यापति को अभिभूत किए है। कामशास्त्र में विस्तृत, मांस से उपचित, विपुल, गंभीर एवं दक्षिणावर्त नाभि को प्रशस्त माना गया है। विद्यापति की राधा की नाभि मध्य में कूप अथवा विवर की भाँति और किनारों पर कुछ ऊँची है। जबकि उसकी कटि अत्यंत क्षीण है। वह सिंहिनी की कटितुल्य मध्यभाग में अत्यंत पतली है। कवि ने उसकी उपमा क्षीणमणि से देते हुए उसका सरस वर्णन किया है। शुभदा नारी का मध्यभाग त्रिबली युक्त, रोमराजिरहित एवं सुदर्शन है। कवि ने राधा के इस देहयष्टि की मध्यअवस्थिति की भूमि-भूमि प्रशंसा की है।

रोमावली, नितंब, जंघा एवं पिंडली :

विद्यापति की राधा की रोमावली सर्पिणी की भाँति है।²⁰ उसके प्रत्येक रोम नीले रेशम की भाँति चमकीले तथा सुचिक्कण हैं। उसका वर्ण कज्जल, भ्रमर पंक्ति एवं शैवाल की भाँति है। रोमरहित, पुष्ट, विस्तीर्ण एवं भरे-उभरे प्रशस्त नितंब राधा के सौंदर्य में अप्रतिम वृद्धि करते हैं। उसके नितंब भारी हैं। उरोजों तथा नितंब के भार के कारण उसकी कटि अत्यंत क्षीण प्रतीत होती है।²¹ राधा के नितंब गजकुंभ के समान मांसल एवं गुरु हैं। इसी कारण वह सिंहिनी के पृष्ठ प्रदेश के समान स्थूल और भारी प्रतीत होती है। जहाँ तक नायिका की जंघाओं और पिंडलियों का संदर्भ आया है, कवि विद्यापति ने इनका वर्णन परंपरागत कवि-परंपरा के अनुसार ही किया है। कामशास्त्र में कनकवर्णी, कदली-स्तंभ एवं गजशुंड की भाँति जंघाओं को कांतिमान, गौरवर्ण, ऊपर पीन और नीचे क्रमशः क्षीण होते जाना नारी-सौंदर्य का विवर्द्धक माना गया है। विद्यापति की राधा में उपर्युक्त सभी विशेषताएँ उनके सौंदर्य को अभिवृद्ध करती हैं। जहाँ तक उनकी पिंडली का प्रश्न है, इसके चित्रण में कवि ने सर्वथा मौलिक सौंदर्य-दृष्टि का परिचय दिया है। राधा की पिंडली को विद्यापति ने अछूते अंगों की रमणीयता पर मन रमाने का मार्ग बताया है। राधा के साक्षात् रतिसदृश सुंदर पिंडलियों की गौरवर्णता देखकर कृष्ण का मन उसी में अनुरक्त हो जाता है। वे पागल की भाँति एकटक उसकी शोभा, लावण्य एवं स्पर्शजन्य सुख का अनुभव करते हुए परमसुख की उपलब्धि कर लेते हैं—

माधव! कि कहब सुन्दरि रूपे।

कतेक जतने बिहि आनि समारल देखल नयन सरूपे।

पल्लवराग चरण जुग शोभित गति गजराजक भाने।

कनक कदलि पर सिंह समारल तापर मेरु समाने।

मेरु उपर दुइ कमल फुलाएल नाल बिना रुचि पाई।

मणिमय हार धार बहु सुरसरि तअे नहिं कमल सुखाई।²²

इस प्रकार राधा की रोमराजि, नितंब, जंघा एवं पिंडलियों के सौंदर्य को देखकर कृष्ण का मन तन्मय और अभिभूत हो जाता है।

चरण, एड़ी, तलवा एवं अँगुलियाँ :

आचार्यों ने चरण, एड़ी, तलवा एवं अँगुलियों का वर्णन कटि के अधोभाग के रूप में किया है। वराह के अनुसार जिस कुमारी के चरण स्निग्ध, उन्नत, आगे के पतले एवं ईषत् रक्ताभ नाखूनों वाले होते हैं तो वे शुभता एवं कल्याण के वाचक माने जाते हैं। यदि वे सम, उपचित, सुंदर और गुप्त-गुल्फ से युक्त अँगुलियाँ सटी हुई तथा चरणतल कमलवत् कांतिमान हों तो वह राज्य एवं ऐश्वर्य की स्वामिनी होती है। विद्यापति की नायिका राधा में उपर्युक्त समस्त विशेषताएँ विद्यमान हैं। कवि ने उनकी उपमा पल्लव, कमल, स्थल पभ एवं प्रवाल से दी है जबकि अँगूठे के नखों की उपमा कमलपत्र, रक्तोत्पल एवं पाटल से दिया है। अँगुलियों की उज्वलता के लिए ओसकण, कुंदकली, केतकी, चंद्रकला और उसमें विद्यमान दीप्तिमयता की व्यंजना के लिए दीपमाल, पद्मरागमणि और रक्तिमा के लिए पल्लव प्रभृति उपमानों का प्रयोग किया है।

चरण-नखर मणि-रंजन छान्द, धरणि लोटायल गोकुल चान्द।

रोख तिमिर एत बैरिकि जान, रतनक भै गेल गैरिक भान।²³

भारतीय संस्कृति में नारी के सौभाग्यवर्द्धक रूप में तलवों एवं चरणतल में महावर लगाने की परंपरा है। महावर की लालिमा शुभता एवं प्रेम का प्रतीक है। जिस प्रकार अनुराग-भाव अपने सौंदर्य से प्रेमी-हृदय को मुग्ध कर लेता है, उसी प्रकार महावर का अरुण-वर्ण चरणों की शोभा, सौंदर्य एवं अरुणाई में वृद्धि कर देते हैं। विद्यापति ने अपनी नायिका के पैरों में लगे महावर को 'पल्लवराग चरण जुग शोभित'²⁴ कहकर उसकी अरुणाभा का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है। आरक्तक की लालिमा से उसके चरण प्रदेश अद्भुत सौंदर्य की सृष्टि करते हैं।

केश, कबरी एवं गति :

केशों को नारी-सौंदर्य का एक प्रमुख उपादान माना गया है। दीर्घ, कुटिल, मृदु, निविड़, सघन एवं नीलिमायुक्त काले, चिकने केशों को लक्षण ग्रंथों में बड़ी महत्ता दी गई है। इसके उपमानों में अंधकार, कृष्णिमा तथा सघनता के लिए कज्जल, नीलमणि, भ्रमरसमूह, काले एवं नीले वर्ण के लिए यमुना-तरंग, शैवाल, मखतूल-तार आदि उपमान प्रयुक्त होते हैं। इन उपमानों द्वारा केशों की सूक्ष्मता, दीर्घता एवं कुटिलता की व्यंजना कराई जाती है। सीमंतों की उज्वलता के लिए चंद्रकिरण का अप्रस्तुत रूप में प्रयोग होता है। केश की वेणी के लिए सर्पिणी, खड्ग, भ्रमरपंक्ति तथा धम्मिल्ल (जूड़े) के लिए राहु का उपमान रूप में व्यवहार किया जाता है। विद्यापति की नायिका राधा की केशराशि अत्यंत सघन, नील, सचिक्कण एवं कालिमा से युक्त सौंदर्यमयी है। कवि ने केशों की उपमा अंधकार, शैवाल तथा भृंग से देते हुए उसे कस्तूरी-सी सुगंधित कहा है। नायिका की नैसर्गिक, सौंदर्यमयी तथा आकर्षक केशों की लटें जब इधर-उधर बिखर कर उसके धवल मुख-मंडल पर फैल जाती हैं, तो कवि को

लगता है कि मानों शरद ऋतु के निष्कलंक चंद्रमा पर नील एवं कृष्णवर्णी मेघमंडल छा गए हों अथवा जब वे चंचल होकर नायिका के उरोजों पर गतिमान हो उठते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों चँवर से सोने के महादेव ढँके हों—

तुनु सुख-वसन हृदय महँ लाग, जे जन देखल ताकर भाग।

उर पर लोलत चाँचर केश, चामरे झाँपल कनक-महेश।²⁵

कवि को नायिका की गति में बिजली, कामदेव की पहली सीख और गजराज की मस्तचाल प्रतीत होती है।²⁶ उसके सुहाग-मंडित भाल और सिर की शोभा में कवि को सूर्य, चंद्रमा, अंधकार और राहु की युति का भान होता है।

वयः संधि :

रतिभाव को जागृत करने में अद्भुत सौंदर्य की पृष्ठभूमि महत्त्वपूर्ण होती है। नारी का बाह्य सौंदर्य विद्यापति को अधिक आकृष्ट करता है। नायिका का यौवन, उसकी सुंदर देहयष्टि तथा वयःसंधि के सौंदर्य-चित्रण में विद्यापति की दृष्टि अत्यधिक रमती है। उन्हें न तो नायिका की बालसुलभ छवि आकर्षित करती है और न ही उसकी बालसुलभ सुंदर चेष्टाएँ उनके चित्त को लुभाती हैं। उनका शृंगारी चित्त तो नायिका की वयःसंधि पर ही लुब्ध होकर उसके अंगों के विकास एवं प्रफुल्लित नवयौवन का अकुंठभाव से पान करना चाहता है। राधा के शैशव से यौवन में पदार्पण करते ही कामदेव उसके अंगों पर ऐसा अधिकार कर लेता है कि देहलता में मुकुलित नवीन पोरों को भरा-पूरा फूल बना देता है। उसकी मादकता नायिका के कानों तक खिंच गए हैं। उसकी वाणी में प्रगल्भता और चतुराई आ गई है। उन्मुक्त हँसी का स्थान मंद-मंद हास ने ले लिया है। नेत्रों में बाँकपन, तीक्ष्णता एवं अद्भुत सौंदर्य का समावेश हो उठा है। उसके हाव-भाव में सुरत-सुख की अभिलाषा एवं विलास झलकता है। यौवन की मादकता यमुना की लहरों की भाँति तरंगायित हो उठी है। विद्यापति अपनी नायिका के सौंदर्य में कामदेव द्वारा किए गए उलट-फेर से चकित हैं—

शैशव छल नव जउवन भेल, श्रवणक पथ दुहुँ लोचक लेल।

बचनक चातुरि लहु-लहु हास, धरणिण चान्द करइ परका।

मुकुर लेइ अब करइ सिंगार, सखि-ठामे पुछइ सुरत-विहार।

निरजने उरज हेरइकत बेर, बिहसइ अपन पयोधर हेरि।

पहिल बदरि सम पुन नवरंग, दिने-दिने अनंग अगोरल अंग।

माधव! पेखल अपरुब बाला, शैशव जउवन दुहुँ एक भेला।²⁷

यहाँ पर कवि ने नायिका के व्यवहार परिवर्तन का बड़ा सुंदर, सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।²⁸

सद्यःस्नाता का सौंदर्य :

संभोग शृंगार के अंतर्गत सद्यःस्नाता का सौंदर्य-निरूपण महाकवि विद्यापति की सर्वथा नवीन उद्भावना है। इस उपक्रम में सद्यःस्नाता नायिका के अंग गीले श्वेत वस्त्रों में स्पष्ट दिखाई देते हैं। उसके केशों से जल की बूँदें टपक रही हैं। ऐसे सौंदर्य को देखकर मुनियों का मन भी कामवश्य हो जाता है। विद्यापति वरकामिनी की जल बिंदुयुक्त देहवल्ली में धवल वस्त्रों से बाहर

की ओर झाँकते कमल कोरक से पुष्ट वक्षःस्थलों और उसके मध्य से प्रवहमान जलधारा का जो बिंब उतारते हैं, वह पाठक एवं आलोचक को अभिभूत कर देता है।

कामिनि करए सनाने। हेरइत हृदअ हनए पँचबाने।
चिकुर गरए जलधारा। जनि मुख-शशि-डरे रोअए अंधारा।
कुचजुग चारु चकेवा। निअकुल मिलत आनि कओने देबा।
ते संकाअे भुज पासे। बाँधि धएल उडि जाएत अकासे।
तितल वसन तन लागू। मुनिहुँक मानस मनमथ जागू।²⁹

सद्यःस्नाता नायिका राधा के सौंदर्य का अनेकशः चित्रण विद्यापति ने किया है। एक वर्णन में राधा स्नान कर तीर पर आई तो उन्होंने श्रीकृष्ण को देख लिया। अग्रज लोगों में लज्जा के कारण उन्हें आँख भरकर देख न सकीं तो उन्होंने एक चतुराई की। अपना मोतियों का हार तोड़ दिया। सभी लोग उसके मोतियों को बीनने में लग गए। तब राधा के नेत्ररूपी चकोरों ने कृष्ण के मुखचंद्र के अमृतरस का पान कर लिया—

नहाइ उठल तीर राइ मलमुखि समुखे हेरल बर कान।
गुरुजन संग लाजेधनि नतमुखी कैछने हेरब बयान।
सखि हे अपरूप चातुरि गोरि,
सब जन तेजिया आगुसरि फुकरइ आडु बदन तँहि फेरि।
तँहि पुनि मोतिहार टुटि फेलल कहत हार टुटि गेल।
सब जन एक-एक चुनि संचरु श्याम-दरश धनि केल।
नयन चकोर कानु-मुख शशिवर करल अमिया रस पान।
दुहुँ दोहाँ दरशने रसहु पसारल विद्यापति भाल जान।³⁰

हाव-भाव एवं चेष्टाएँ :

विद्यापति-पदावली में शृंगार के संभोगजनित पक्षों को बड़ी कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया गया है। उनका संयोग-वर्णन जहाँ एक ओर मधुर-मांसल, ऐंद्रिय एवं एकांतिक है, वहीं प्रेम की रागात्मकता एवं उज्वलता अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देती है। ऐसे वर्णनों में कवि की आसक्ति उस उच्चभूमि पर पहुँच गई है, जहाँ लौकिक सीमाओं का अस्तित्व नहीं रह जाता। सौंदर्य-चित्रण की इस ऊँचाई पर पहुँचकर कवि ने नारी-देह, उसके हावभाव एवं क्रिया-वैदग्ध्य का जो निरूपण अपनी पदावली में किया है, वह विश्व-वाङ्मय में शायद ही कहीं अन्यत्र मिल सके। विद्यापति ने अंगों के विकास के साथ-साथ, हाव-भावादि, नेत्रकटाक्ष एवं हृदय को बेचने वाली नायिका की मधुर-मदिर मुस्कान का जो स्थितिगत विनियोग किया है, वह स्तुत्य है। आलंबन एवं उद्दीपन विभाव, अनुभाव एवं संचारीभावों का जो सुंदर निरूपण कवि ने किया है, वह उन्हें महाकवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त है। उनके काव्य में प्रमदा के शारीरिक, मानसिक, आहार्य परिवर्तनों, प्रणय, केलि, सुरत, विलास, हाव-भाव एवं कटाक्षों का जो वर्णन हुआ है, उसकी रसात्मकता सौंदर्य-वर्णन का एक निकष बन गया है। कवि का संपूर्ण काव्यशास्त्रीय, कामशास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान राधा-कृष्ण के आसपास ही चक्कर लगाता रहता है। मार्ग में जाते हुए नवल नागर कृष्ण और नवल किशोरी राधा का मिलन होता है। राधा-कृष्ण के इस प्रथम मिलन का कवि ने जो चित्र खींचा है तथा

नेत्रों के मिलन, संभाषण एवं गोपन द्वारा जो अर्थ भर दिया है, उससे मृत कामदेव पुनः अनंग होकर जीवित हो जाता है—

ततर्हि धाओल दुहु लोचन रे जेहि पथें गेलि बरनारि।
आसा-लुबुध न तेजए रे कृपणक पाछु भिखारि।
ईगित नयन तरंगित रे बाम भअुह भेल भंग।
तखने न जानल ते सरे रे गुपुत मनोभव रंग।³⁹

नायिका राधा मार्ग में चलते हुए थोड़ा हँसकर अपने दोनों उरोजों को अपने दोनों हाथों से ढँकने का बहाना करती हुई नेत्रों के कटाक्ष से कृष्ण के चित्त को दोलायमान कर देती हैं। राधा जहाँ-जहाँ अपने चरण रखती हैं, वहीं कमलों के समूह झर पड़ते हैं। जहाँ कहीं उनका शरीर झलकता है, वहीं पर विद्युत् कौंध जाती है। वे जिस ओर भी देखकर मुस्करा देती हैं, उधर अमृत का पूरा कलश ही छलक पड़ता है। उनके एक-एक कटाक्ष पर कामदेव के अगणित वाणों की वर्षा हो जाती है—

गेलि कामिनि से गजगामिनि बिहँसि पलटि निहारि।
इंद्रजालक कुसुमसायक कुहुकि भेलि बरनारि।³²

शोभा, सौकुमार्य एवं सलज्जता :

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रूप, यौवन, लालित्य, सुखभोग आदि से संपन्न शरीर की सुंदरता को शोभा कहा जाता है—‘रूपयौवनलालित्यभोगाद्यै रंगभूषणं शोभा प्रोक्ता।³³ अभिनव जयदेव विद्यापति भी इसी मत से प्रभावित हैं। वे राधा की शोभा, सौकुमार्य एवं सलज्जता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नव रतिपति नव परिमल लागल, नवमलयानिल घाब।
नवि नागर नव नागरि विलसए, पुनफले सबे सबे पाब।³⁴

विद्यापति की नायिका अत्यंत कोमल है। उसके अंग ललित एवं सुकुमार हैं। नायिका की चोली में बेल-बूटे और चुन्टें बनी हुई हैं किंतु उसके उरोज इतने कोमल हैं कि चोली के भार से दबे जा रहे हैं। किंतु लज्जा के कारण अपनी इस दुरवस्था का वर्णन अपनी सखियों से भी नहीं कर पाती।

लावण्य, कांति एवं दीप्तिमयता :

आंगिक संवर्धन से अंगों में जो निखार आता है, वह लावण्य कहा जाता है। विद्यापति नायिका के अंगों में व्याप्त होनेवाले लावण्य का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नायिका के उरोज जो आरंभ में बेर एवं नारंगी जैसे थे, वे अब पूर्णतया विकसित होकर पुष्ट और कनक-कटोरे के समान हो गए हैं। उनमें लावण्य का विस्तार हो गया है। वे ऐसे प्रतीत हो रहे हैं, मानो सुवर्णलता में सुमेरु पर्वत ही आकर प्रकट हो गया है।³⁵ मन्मथ के उन्मेष से अतिविस्तीर्ण शोभा ही कांति कहीं जाती है। विद्यापति की नायिका की कांति चंद्रमा की छवि को अपसृत कर देती है। उनका कलेवर कमल की कांति के समान सुंदर है, जो नायक के चित्त को हठात् आकृष्ट करता है।

माधव! से अब सुंदरि बाला।
अविरत नयने वारि झरु निर्झर जनि साओन घनमाला

पुनिमक इंदु निंद मुख सुंदर से भेल अब ससि रेहा।

कलेवरे कमल-कांति जिनि कामिनि दिने-दिने खिन भेल देहा।³⁶

अतिविस्तीर्ण कांति को ही दीप्ति कहा जाता है। विद्यापति ने 'राजतरंगिणी' में संकलित एक पद में दीप्ति का बड़ा सुंदर वर्णन किया है। नायक अपनी प्रेमिका के अंगदीप्ति को देखकर उससे कहता है कि प्रिये! तुम केशपाश में कस्तूरी और मुख में तिलक मत करो क्योंकि तुम्हें प्रसाधन की आवश्यकता नहीं है। निष्कलंक पूर्णचंद्र सदृश तुम्हारे अंगों में तिलक से संपूर्ण चंद्रमा में कलंक लग जाएगा। तुम्हारे नेत्र कमलसदृश स्वच्छ एवं विशाल हैं। उसकी दीप्तिमयता को काजल से मलिन मत करो। दूध का धोया हुआ भ्रमर स्याही में डूबकर काला हो जाएगा। तुम्हारे गौरवर्णी पीन पयोधर उलटे कनक-कटोरे के समान हैं, उसे चंदन से शुभ्र मत बनाओ; अन्यथा सुमेरु पर्वत पर हिमपात हो जाएगा।

मृगमद पंक अलका मुख जनु करह तिलका।

सँपुन पुनिम के चंदा कलकें होएन गएमंदा।

उजर नयन नलिना काजरें न करु मलिना।

दूधक धोएल भमरा मसि बुड़ि जाएत समरा।

पीन पयोधर गोरा उलटत कनए कटोरा।

चाँदने धवल न करू हिमें झापि जाएत सुमेरु।³⁷

यौवनोन्माद, अरुणाई, सरसता एवं सुगंध :

विद्यापति ने अपनी नायिका का सौंदर्य-वर्णन करते हुए उसके यौवन के गुरुर, अभिमान, औद्धत्य, गुरुता, चोप एवं चटकीलेपन का चित्रण करने के साथ ही साथ उसके यौवन के मद में नहाए हुए रूप, प्रमत्तता, यौवन के मरोर एवं व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है। नायक के साथ नायिका के शय्यावास, संभोग, केलि, विलास एवं यौवनोन्माद का जितना पारदर्शी और उन्मुक्त वर्णन कवि विद्यापति ने किया है, वैसा चित्रण 'अमरुक-शतक' एवं हाल कृत 'गाथा-सप्तशती' में भी नहीं मिलता। ऐसे विषयों पर रचित उनके पदों में सौंदर्य का एक नवीन निकष स्थापित होता है। सुरत-लाभ के अवसर पर नायिका के आलस्य, अँगड़ाई, खीझ, औत्सुक्य, अभिलाष-भाव एवं अनुरागमयता का वर्णन करके विद्यापति नायिका के उद्दाम यौवन एवं उसके यौवनोन्माद की सुंदर व्यंजना करते हैं।

सुन-सुन ए सखि! बचन विशेष, आजु हम तोहें देउँ उपदेश।

पहिलहिं बैठबि शयनक सीम, हेरइते पिआ मुख मोड़बि गीम।

परसिते दुहु करे ठेलबि पानि, मौन रहबि पिया पुछइते बानि।

जब हम सउँपब करे कर आपि, साध से धरबि उलटि मोहे काँपि।

पिअ परिम्भणे मोड़बि अंग, रमस-समये पुन देओबि भंग।

विद्यापति कह इह रस-ठाठ, गुरु होइ काम सिखाओब पाठ।³⁸

विद्यापति नवलनागरी राधा को सुख का निधान, अंग-अंग से अमृतमयी, रूपरसराशि एवं परमरसमयी मानते हैं। वह पद्मिनी जाति की नारी रत्न है। उसके मुख एवं श्वासों में सुरभि का निवास है।³⁹ उसका गौरवर्ण, उसमें आद्यंत विद्यमान अरुणाई कमल-कोरक, विद्युल्लता और मेरुप्रभा का भ्रम उत्पन्न करता है। उसकी देहयष्टि अत्यंत क्षीण है, जो सुंदरता,

उज्ज्वलता, शोभा, कांति एवं कोमलता में शिरीष पुष्प के समान और श्रीसंपन्न है। उसकी देहज्योति शशि किरण-सी धवल और कांति अरुणिम एवं गौरवर्णी है। उसका शरीर कंचन की पुत्तलिका, मालती की माला और कनकलता के समान सुघर है, जिसके अंग-अंग से मनोरम एवं सुवासित सुगंध निकलती रहती है।

इस प्रकार विद्यापति शृंगार, सौंदर्य एवं प्रेम के भावुक कवि ठहरते हैं। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों सौंदर्य के नए प्रतिमान गढ़ते हैं। सौंदर्य ही राधा एवं कृष्ण के परस्पर आकर्षित होने का कारण बनता है। उनकी सौंदर्य-चेतना केवल लौकिक रूप वर्णन तक ही सीमित नहीं है और न ही सामान्य नायक-नायिकाओं के प्रणय-व्यापार तक ही अपना विस्तार करती है, अपितु वह तो निरंतर लौकिकता से अलौकिकता और अलौकिकता से लौकिकता की ओर संचरणशील रहा करती है। इसी कारण विद्वानों ने उन्हें 'अपरूप का कवि' कहा है।

विद्यापति के काव्य में उनकी रसिक वृत्ति आद्यंत परिलक्षित होती है। उनकी पदावली के एक-एक शब्द, पद एवं छंद सौंदर्य के जगमगाते रत्न हैं, जिनकी आभा, कांति, दीप्ति, शोभा, माधुर्य एवं रसमयता पाठकों को आह्लादित करती है। उनकी सूक्ष्म, गंभीर एवं रसमयी सौंदर्यदृष्टि से सृष्टि की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं छूटती, जो सौंदर्यमय है। उनकी ललित कल्पना के रंग में रंगी हुई नायक-नायिका की अनेक रूपछवियाँ जगमगाती हुई मणिमाला हैं। राधा तो उनकी पदावली की प्राण हैं। जिसमें उनका शृंगार, सौंदर्य, नखशिख, रूपलावण्य, यौवन, अरुणाई आदि नाना गुणधर्म रूपायित हुए हैं। इसके परिणामस्वरूप विद्यापति में राधा का जो सौंदर्य वर्णन हुआ है वह 'खिति तल लावनि-सार' के रूप में प्रकट हुआ है। राधा की रूपाकृति एवं सौंदर्य विद्यापति की साधाना एवं प्राणों के निःश्वास से प्रकट हुई है। इसीलिए उनकी तूलिका से सौंदर्य का जो निर्मल, मादक, मांसल, रुचिर एवं अलौकिक वर्णन हुआ है, वह अत्यंत श्रेष्ठ बन गया है। नवकविशेखर विद्यापति की 'पदावली' उनकी कविवाणी का सार सर्वस्व है, जिसमें ऐंद्रिकता, राग एवं दैहिक आभ्यंतर रूप-सौंदर्य की अनेक बहुरंगी छवियों की शोभा झिलमिलाती रहती है। वे अपरूप के कवि होने के साथ-साथ अलौकिक-भाव के लौकिक-काव्य के प्रस्तोता हैं। उनका शृंगार, सौंदर्य एवं प्रेम-निरूपण शाश्वत, अमर एवं परम रस की सिद्धि कराने वाला है।

संदर्भ

1. तैत्तरीयोपनिषद्, ब्रह्मानंदवल्ली, अनुवाक् 7, मंत्र 2
2. डॉ० सभापति मिश्र, घनआनंद की काव्यसाधना, पृ० 65
3. जायसी, पदमावत (पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड) दोहा 7
4. विद्यापति-पदावली भाग 2, पद 51, पृ० 269
5. वही, भाग 3, पद 127, पृ० 196
6. डॉ० मनोहरलाल गौड़, विद्यापति (पदावली) पद 2, पृ० 6
7. विद्यापति-पदावली, भाग 3, पद 9, पृ० 12
8. वही, भाग 2, पद 117, पृ० 347
9. वही भाग 3, पद 152, पृ० 230
10. वही, भाग 3, पद 9, पृ० 12

11. चौंद सार लए मुख घटना करु लोचन चकित चकोरे।
अमिय धोए आँचरे जनि पोछल दह दिस भेल उजेरे। वही, भाग 2 पद 5, पृ० 213
12. वही, भाग 3, पद 11, पृ० 17
13. वही, भाग 3, पद 21, पृ० 31
14. वही, भाग 3, पद 12, पृ० 19
15. पक्वबिंबाधरोष्ठी। कालिदास—उत्तरमेघ, छंद 22
16. विद्यापति—पदावली, भाग 3, पद 9-10, पृ० 14-15
17. वही, भाग 3, पद 22, पृ० 32
18. डॉ० रामसजन पांडेय, विद्यापति का सौंदर्यबोध, पृ० 97
19. पीन कठिन कुच कनया कटोर बंकिम नयने चित हरि निल मोर।
परिहरि सुंदरि दारुणमान, आकुल भ्रमरे कराह मधुपान। विद्यापति पदावली, भाग 3, पद 41, पृ० 318
20. वही, भाग 3, पद 11, पृ० 17
21. गुरु नितंब भरे चलए न पारए। वही, भाग 1, पद 5, पृ० 213
22. वही, भाग 3, पद 10, पृ० 15
23. वही, भाग 3, पद 51, पृ० 324
24. वही, भाग 3, पद 10, पृ० 15
25. वही, भाग 3, पद 5, पृ० 7
26. वही, भाग 3, पद 6-10, पृ० 9-15
27. वही, भाग 3, पद 1, पृ० 1
28. डॉ० वीरेंद्र श्रीवास्तव, विद्यापति: अनुशीलन एवं मूल्यांकन, पृ० 132
29. विद्यापति पदावली, भाग 3, पद 23, पृ० 34
30. वही, भाग 3, पद 2, पृ० 287
31. वही, भाग 3, पद 34, पृ० 51
32. वही, भाग 3, पद 33, पृ० 49
33. विश्वनाथ—साहित्य दर्पण 3/95
34. गीत—विद्यापति, पद संख्या 52
35. पीन पयोधर दूबरि गाता
मेरु उपजल कनक लता। विद्यापति पदावली, भाग 3, पद 9, पृ० 14
36. वही, भाग 3, पद 160, पृ० 242
37. वही, भाग 2, पद 46, पृ० 197
38. वही, भाग 3, पद 58, पृ० 87
39. वही, भाग 3, पद 15, पृ० 24

□ प्राचार्य, हंडिया (पी०जी०) कालेज, हंडिया
इलाहाबाद (उ०प्र०)

यात्रा-साहित्य और डॉ० महेश 'दिवाकर'

डॉ० आदित्य प्रचंडिया, डी०लिट्०

प्रोफेसर हिंदी विभाग, दयालबाग शिक्षण संस्थान, आगरा (उ०प्र०)

मुक्तभाव से अनुभूतियों को सँजोता हुआ, देशकाल में फैले हुए अनंत जीवन में साँसें लेता हुआ यायावर या घुमक्कड़ जो इतिवृत्त या विवरण प्रस्तुत करता है, यात्रा-साहित्य कहलाता है। यायावरी से अभिप्राय है—यात्रा के लिए यात्रा करना, यात्रा में उल्लास तथा उमंग की अनुभूति प्राप्त करना। यायावर वही है जो चलता चला जाए, कहीं रुके नहीं, कोई बंधन उसे कसे नहीं और वह जो दर्शनीय है, ग्रहणीय है, स्मरणीय है अथवा संवेदनीय है उसे शब्दबद्ध करता चले।

यायावरी का मूलाधार 'प्रकृति की पुकार' होती है। प्राकृतिक दृश्यों के भाँति-भाँति के उत्कट आकर्षण में ही यात्रा का, यायावरी का, सच्चा आनंद रहता है। यात्रा-वर्णन में तटस्थता अपेक्षित होती है। तटस्थता की अनुपस्थिति में वर्णन संस्मरण बन जाता है। यात्रा में केंद्र-बिंदु यात्री नहीं, यायावरी और सौंदर्योपासना होती है। यात्रा तो साधन मात्र होती है। साध्य यही दो वृत्तियाँ होती हैं। इस विधा का सफल रचनाकार अपने आपको सामने नहीं लाता। वह अपने-आपको पीछे रखता है और आगे लाता है यायावरी को या सौंदर्योपासना को या दोनों को।

प्रत्येक यात्री न तो साहित्यिक होता है और प्रत्येक यात्रा-वर्णन न ही साहित्यिक। हिंदी का आरंभिक यात्रा-साहित्य अधिकाधिक यात्रोपयोगी साहित्य कहा जा सकता है वह या तो भौगोलिक अधिक है या धर्म-प्रधान। साहित्यिकता उसमें नहीं मिलेगी। भारतेंदु तक की परंपरा में विट्ठल जी की 'वन-यात्रा', जीमन जी की 'माँ की वन-यात्रा', किसी अज्ञात व्यक्ति की 'बात दूर देश की', श्रीमती बख्तावर सिंह की 'बद्री यात्रा कथा', रामसहाय की 'यात्रा परिक्रमा', भारतेंदु बाबू के पाँच यात्रा विषयक निबंध, प्रतापनारायण मिश्र तथा बालकृष्ण भट्ट के यात्रा-संबंधी निबंध, हरदेवी की 'लंदन यात्रा', भगवानदास वर्मा, दामोदर शास्त्री, तोताराम वर्मा, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की 'मेरी जर्मन यात्रा', 'यात्री मित्र', 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ', 'ज्ञान के उद्यान में', 'नई दुनिया के मेरे अद्भुत संस्मरण', 'अमरीका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी', शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रशिक्षण' तथा गोपालराम गहमरी की यात्रा-विषयक रचनाएँ आती हैं।

द्विवेदीयुग के अंतिम चरण से लेकर आज तक की परंपरा में वे रचनाएँ आती हैं जिन्हें सच्चे अर्थों में यात्रा-साहित्य के अंतर्गत रखा जा सकता है। इन रचनाओं में किसी दृश्य, स्थान अथवा व्यक्ति के आकर्षण अर्थात् सौंदर्य को उभारने की प्रवृत्ति मिलती है। किसी-किसी रचनाकार ने यायावरी को भी उभारने का प्रयत्न किया है। इस विधा के प्रमुख लेखक और उनकी रचनाएँ इस प्रकार हैं— रामनारायण मिश्र की 'यूरोप यात्रा : छह मास', कन्हैयालाल

मिश्र की 'हमारी जापान यात्रा', प्रो० मनोरंजन की 'उत्तराखंड के पथ पर', जवाहरलाल नेहरू की 'आँखों देखा रूस', सेठ गोविंददास की 'सुदूर दक्षिण पूर्व', 'पृथ्वी परिक्रमा', सूर्यनारायण व्यास की 'सागर-प्रवास', रामधारीसिंह दिनकर की 'देश-विदेश', 'मेरे यात्राएँ', यशपाल जैन की दस पुस्तकें 'जय अमरनाथ' (1955), 'उत्तराखंड के पथ पर' (1957), 'कोणार्क' (1957), 'अमरनाथ' (1958), 'रूस से छियालीस दिन' (1960), 'जगन्नाथपुरी' (1960), 'अजंता एलोरा' (1961), 'गोमुख' (1961), 'पड़ोसी देशों में' (1965), 'सागर के आर-पार' (1987), भुवनेश्वर प्रसाद 'भुवन' की 'आँखों देखा यूरोप', विष्णु प्रभाकर की 'हँसते निर्झर', 'दहकती भट्टी', राहुल सांकृत्यायन का 'घुमक्कड़ शास्त्र', 'मेरी लद्दाख यात्रा', 'लंका-तिब्बत में सवा वर्ष', 'मेरी तिब्बत यात्रा', 'मेरी योरूप यात्रा', 'जापान, ईरान, रूस में पच्चीस वर्ष', 'यात्रा के पन्ने', 'यात्रावली' तथा 'एशिया के दुर्गम खंडों में', भगवतशरण उपाध्याय की 'वो दुनिया', 'लालचीन', 'कलकत्ते से पीकिंग', 'सागर की लहरों पर', 'गंगा-गोदावरी', अमृतराय की 'सुबह के रंग', रांगेय राघव की 'तूफानों के बीच', अज्ञेय की 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूँद सहसा उछली', यशपाल की 'लोहे की दीवार के दोनों ओर', 'राहबीती', रामवृक्ष बेनीपुरी की 'पैरों में पंख बाँधकर', 'हवा पर', 'पेरिस नहीं भूलती', मोहन राकेश की 'आखिरी चट्टान तक', देवेश दास की 'यूरोप तथा रजवाड़े'। इस विधा के अन्य लेखक हैं— सत्यनारायण की 'आवारे की यूरोप यात्रा', 'युद्ध यात्रा', डॉ० विश्वनाथ शुक्ल की 'आस्ट्रिया की डायरी', डॉ० नगेंद्र की 'तंत्रलोक से यंत्रलोक तक', 'अप्रवासी की यात्राएँ', डॉ० महेंद्र सागर प्रचंडिया की 'मेरी शिखर जी यात्रा' और शिवनंदन सहाय, गोपाल नेवटिया, जगदीशचंद्र जैन, काका कालेलकर, हंसकुमार तिवारी आदि।

सहृदयी लेखक डॉ० महेश 'दिवाकर' की 'सौंदर्य के देश में' इस विधा की नवीनतम कृति है, जिसका प्रकाशन सन् 2009 में हुआ। इस नयनाभिराम कृति के प्रकाशक 'विश्व पुस्तक प्रकाशन, नई दिल्ली' हैं। नब्बे पृष्ठीय इस पुस्तक में नार्वे स्वीडन के यात्रावृत्त हैं। डॉ० महेश 'दिवाकर' 'दो शब्द' में कहते हैं— 'माँ सरस्वती की अपार कृपा! मुझे 5 दिसंबर, 2008 को नार्वे की सांस्कृतिक यात्रा हेतु जाने का आमंत्रण मिला। यह सांस्कृतिक यात्रा 5 दिसंबर 2008 को प्रारंभ होकर 16 दिसंबर 2008 को संपन्न हुई। इस यात्रा का श्रेय प्रवासी भारतीय साहित्यकार श्री सुरेशचंद्र शुक्ल 'शरद आलोक' नार्वे को जाता है। इस यात्रा में नार्वे के अतिरिक्त स्वीडन जाने का भी सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। अतः मैंने अपनी इस यात्रा को प्रस्तुत कृति 'सौंदर्य के देश में' शीर्षक से प्रस्तुत किया है। नार्वे-स्वीडन की यह यात्रा मेरे लिए सदैव स्मरणीय रहेगी।' डॉ० महेश 'दिवाकर' के इस यात्रा के सहज अनुभव पाठकों को प्रभावित करते हैं। डॉ० दिवाकर का विचार है कि यात्रावृत्त भाषाई दृष्टि से सरल और सरस प्रस्तुति लिए होने चाहिए। यही नहीं जिज्ञासा और कौतुहल का भाव भी यात्रावृत्त लेखन में आत्मसात् करना चाहिए तथा क्लिष्टता और दुरूहता को प्रस्तुति से दूर रखना चाहिए। 'सौंदर्य के देश में' पुस्तक की भाषा सहज और बोधगम्य है। सामान्य पाठक भी इसे पढ़कर नार्वे और स्वीडन की यात्रा का सहज आनंद उठा सकता है। कहीं भी दुर्बोधता के अभिदर्शन नहीं होते। प्रकृति चित्रण दर्शनीय है—'विमान की खिड़की से आकाश और धरती का दृश्य अत्यंत रोमांचकारी लग रहा है। धरती और आकाश अत्यंत विस्मयकारी लावण्य से भरे हैं। अंबर और धरती के

बीच तैरते बादल ऐसे लग रहे हैं। मानो बहुत बड़े-बड़े गुब्बारे हवा में तैर रहे हों। अद्भुत सौंदर्य चतुर्दिक दृष्टिगोचर हो रहा है। इसकी सुखद अनुभूति तो साक्षात् देखकर ही हो सकती है। वस्तुतः यह दृश्य और इससे उद्भूत आनंद वर्णनातीत है। प्रकृति का मनोरम किंतु मौनरूप देखकर मन अत्यंत भाव विभोर हो रहा है।’

डॉ० महेश ‘दिवाकर’ कवि हैं। विमान में सीट पर प्रफुल्लित बैठे हुए डॉ० दिवाकर का यात्रा पूर्व का कौतुहल और तनाव समाप्त हो चुका था। उन्हें एयरपोर्ट पर रात्रि की आतंकवादी घटना की स्मृति बनी हुई थी। सीट पर बैठते ही डॉ० दिवाकर ने दो मुक्तक आतंकवाद के विरुद्ध अपनी डायरी में लिख डाले—

शांति की गंगा सदा बहती रहेगी
आतंक के कौरव सदा ढहती रहेगी
दे रही बलिदान नित झुकेगी नहीं पर
यही कहानी प्यार की युग से कहेगी
और

चल रहे आतंक को जग से मिटाना चाहिए
आतंक को आतंक की भाषा बताना चाहिए
सद्भावना औ’ प्यार को आतंक जानता नहीं
मृत्यु का ही रास्ता इसको दिखाना चाहिए।

विमान में बैठे-बैठे डॉ० महेश ‘दिवाकर’ की लेखनी अविराम चल रही है। वह विमान से प्रकृति के सौंदर्य को दोहे छंद में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं—

लगे अनूठा यान से, वसुधा का वह छोर।
मनमोहक लगता बड़ा, उगता सूरज भोर।
ऊँची पर्वत श्रेणियाँ, लाल-लाल आकाश।
बाल अरुण करने लगा, अंबर बीच प्रकाश।
कितनी सुंदर भोर है, तन हो उठा विभोर।
यान उड़े आकाश में, नाच उठा मन-मोर।
बैठ यान से देखते, जब धरती का दृश्य।
लगता मानो धरा का, बदल गया परिदृश्य।

डॉ० महेश ‘दिवाकर’ का मानना है कि यात्रावृत्त में यथासंभव महत्त्वपूर्ण चित्रों की प्रस्तुति भी होनी चाहिए, जिससे जो कहने में छूट जाए, उसे चित्र प्रस्तुत कर सके। यात्रावृत्त की रोचकता प्रदान करना लेखक की प्रस्तुति और शैली-शिल्प पर निर्भर करती है। उसमें गद्य के साथ-साथ पद्य को भी समाहित करना चाहिए। जिससे पाठक एवं श्रोता को पढ़ने एवं सुनने में सहज आनंद की प्राप्ति हो। ‘सौंदर्य के देश में’ नामक यात्रावृत्त में तीन चित्रों की प्रस्तुति हुई है, जिससे रचनाकार ‘दिवाकर’ की यात्रा का उद्देश्य सजीव हो उठा है।

इस प्रकार डॉ० महेश ‘दिवाकर’ की पुस्तक सौंदर्य के गुणों से अभिमंडित है। इसका आवरण आकर्षक और मुद्रण मोहक है। निश्चय ही यात्रा-साहित्य की श्रीवृद्धि में डॉ० दिवाकर की ‘सौंदर्य के देश में’ नामक कृति महत्त्व रखती है।

समकालीन कहानीकारों की कथादृष्टि

डॉ० सुधा बी०

हिंदी विभाग, कालीकट विश्वविद्यालय
कालीकट

कहानी की चर्चा करते समय हम आदतन प्रेमचंद को केंद्र में रखकर अपने विचार प्रकट करते हैं। कारण यह है कि प्रेमचंद ने जिस यथार्थ की खुरदरी भूमि पर कथासाहित्य का विशाल वटवृक्ष खड़ा किया था, उसी की जड़ें समकालीन कथासाहित्य को समृद्ध, संपन्न और दृढ़ कर रही हैं। अतः प्रेमचंद की यथार्थ कथादृष्टि परवर्ती रचनाकारों पर पड़ी। परवर्ती रचनाकारों के लिए प्रेमचंद का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने उपन्यास और कहानी की नई कर्मभूमि की खोज की और दोनों का कायाकल्प भी किया। इस तरह प्रेमचंद की कथादृष्टि परवर्ती रचनाकारों के लिए प्रेरणा भी बनी और चुनौती भी। प्रेमचंद ने साहित्य के परंपरागत मानदंडों को बदलकर केंद्र में साधारण से साधारण आदमी को खड़ा किया, जिसे हर आम आदमी जानता पहचानता है। इस कारण उनके कथा-पात्र प्रतीक बने हुए हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी' को पढ़कर आज के अंधे राजनीतिज्ञों की शतरंज याद आती है। 'कफ़न', 'पूस की रात', 'ठाकुर का कुआँ' जैसी कहानियाँ समकालीन कथाकार के समक्ष एक जबरदस्त प्रयोग की प्रेरणा हैं। इस दौर की रचनाओं में प्रेमचंद सीधे नहीं कहते। उनमें एक-एक वाक्य हर क्षण पाठक की चेतना पर दस्तक देता है और उसे इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि इस दुनिया को ऐसे ही रहने नहीं देना है। उसमें आमूल परिवर्तन करना है। अतः आज समकालीन कहानीकारों की जो कथादृष्टि है वह प्रेमचंद से जुड़ी हुई है। इसका कतई यह अर्थ नहीं है कि समकालीन कथाकार प्रेमचंद का अनुकरण करना चाहते हैं। कोई भी विवेकवान पीढ़ी अपने पूर्वजों का अनुकरण नहीं करना चाहती है। हाँ वे प्रेरणा जरूर ग्रहण करते हैं। ये लेखक अपनी विरासत पर कुंडली मारकर बैठ नहीं जाते, अपने समय के संदर्भों में उसे नई अर्थवत्ता देते हैं।

जो चीज़ परंपरा और विरासत के रूप से विकसित होती है वह है कथाकार की संवेदना और दृष्टि और उसकी संवेदनाएँ। वैसे साहित्य और साहित्यिक वृत्तियों का विभाजन किसी तय की हुई तिथि के अनुसार नहीं किया जा सकता। कई आलोचकों ने स्वतंत्रता के बाद लिखी गई कहानियों को समकालीन कहानी के विशेषण से अभिहित किया है। इसके पश्चात् 65 से 85 तक की कहानियों को 'समकालीन कहानी' कहा है। इस कालखंड में भूमंडलीकरण और उससे जुड़े हुए बाज़ारवाद, उदारीकरण, नवउपनिवेशवाद के आवेश ने समकालीन कहानीकारों को प्रभावित किया। कथाकारों की कथादृष्टि, कालबद्ध, काल बिद्ध

और कालातीत का अंतर बताते हुए समकालीनता से बनता है, जो समय की तीक्ष्णता को पूरी बारीकी से परखने का प्रयास भी करती है। समकालीन कथाकारों का सीधा सरोकार अपने पात्रों की मानसिकता से उतरकर उन कोनों की महीन पड़ताल करता है, जो बहिर्मुख यथार्थ की हिंसक आक्रामकता, पेंच और पैतरों के दबाव में टूटते या धँसते हैं या फिर प्रत्याक्रमण का बल लेकर स्थितियों का सामना करने को सन्नद्ध होते हैं। राजनीति और अर्थतंत्र के अनेक हिस्से और हथकंडे उद्घाटित हुए हैं। शोषित जन की पक्षधरता को नेकनीयत के साथ जीवन के विविध क्षेत्रों की ओर भी लेखकों की दृष्टि गई है। मसीहाई के दावेदार, बड़े-बड़े उपदेश देनेवाले नेतानुमा चरित्र की असलियत का पर्दाफाश, दंगे, मानवीय त्रासदियों का धिनौना राजनीतिक इस्तेमाल आदि को भी समकालीन लेखकों ने पहचाना है। संजीव, अलिखेश, मिथलेश्वर, गोविंद मिश्र, चित्रा मुद्गल, सूर्यबाला, राजी सेठ, कमलकुमार आदि ऐसे लेखक हैं, जिन्हें समाज की गतिविधियों को आँकने के लिए किसी संकीर्ण नारों की जरूरत नहीं पड़ी है। जीवन के बनावटीपन से उसकी दृष्टि कोसों दूर है। मजदूर पीड़ितों के प्रति लिखकर वे अपने-आपको प्रगतिशील नहीं कहलवाना चाहते। यदि इन कहानीकारों में कहीं भी प्रगतिशील दृष्टि दिखाई पड़ती है तो ये आरोपित नहीं है। यह उनकी स्वतन्त्रता और आत्ममूल्यांकन का परिणाम है।

महानगर सभ्यता के केंद्र कहे जाते हैं। यहाँ की जीवन शैली कैसी भी हो सबको आकृष्ट करती है। जीवन की विविधताएँ सोच को धार देती हैं। इस कारण लेखक चाहे नई कहानी के हों या समकालीन कहानी के वे महानगरों को भोगते हैं और अनुभवों को कथा में ढालते हैं। महानगरों की दोहरी ज़िंदगी, भूमंडलीकरण का आतंक, शिथिल हो रहे संबंध, मशीनी सभ्यता का खोखलापन आदि ऐसे विषय हैं, जिसे रचनाकार अनदेखा नहीं कर सकता।

उत्तर आधुनिक युग में सबसे ज़्यादा चर्चित विषय है 'स्त्री', 'दलित', 'पर्यावरण' और 'सांप्रदायिकता' आदि। मध्यकाल के संत कवि कबीर कह गए थे कि 'नारी की झाँई पड़त अंधा होत भुजंग, तिनकी को गति जो नितनारी के संग। आज की इक्कीसवीं सदी में तो नारी की झाँई का भी उपभोग किया जा रहा है। स्त्री को वस्तु मानने की प्रकृति आज के युग की एक खास विशेषता है। नारी की झाँई से भागने वाले ये नन्ही बच्चियों को भी बख्शाते नहीं हैं। चित्रा मुद्गल की लघुकथा 'बयान' में इसका जीवंत विवरण प्राप्त होता है। कामासक्त कापुरुष के लिए पाँच वर्ष की बच्ची और अस्सी साल की वृद्धा सब 'माल' है। चित्रा जी ने एक जगह कहा भी है कि 'पुरुष की कंडिशनिंग हुई है स्त्री को 'जिस्म' के रूप में लेने के लिए। गाँवों में 'पति' या पुरुष मिलेंगे रात को अटारी में, जहाँ स्त्री उसके लिए 'रात' है और वह 'रात' उसकी ज़िंदगी से कभी मिटती नहीं है।

उत्तर आधुनिक युग में स्त्री के जीवन में व्यापक परिवर्तन तो हुए हैं। बदलते परिवेश में स्त्री परिवार के बीच पुरुष के प्रभुत्व को चुनौती देती हुई परिधि से केंद्र में आने की कोशिश कर रही है। कुछ हद तक उसे सफलता भी मिली है। इसके बावजूद भी वह शोषित, पीड़ित और अपमानित है। मिथलेश्वर की कहानी 'त्रिया जन्म' स्त्री के अपमान शोषण का सशक्त दस्तावेज है। कहानी का एक संदर्भ इस प्रकार है 'लड़के आराम के कुसुम होते हैं और लड़कियाँ पाँव की धूल हैं।' कहानी की स्त्री सुनमना जीवनांत पति के पाँव की धूल

बनकर रह जाती है। ऐसी अनेक सुनमनाएँ हमारे परिवार में हैं, जो पति, ससुर, जेठ, देवर आदि के द्वारा इस्तेमाल होती हैं। स्त्री चाहकर भी कुछ कह नहीं पाती। वह गूंगी बनी रहती है। उसके गूंगेपन का प्रमुख कारण हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ हैं। क्योंकि भारतीय समाज में बचपन से ही स्त्री की कंडीशनिंग होने लगती है। उसे सब-कुछ बर्दाश्त करना है। क्या क्षमा सहनशीलता जैसे गुण स्त्री के आभूषण हैं? आज की इस इक्कीसवीं सदी में भी प्रायः सभी पुरुष स्त्री को उक्त रूप में ही देखना पसंद करते हैं। समाज द्वारा निर्धारित अवस्थाओं से बाहर आकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को एक नई पहचान देना आसान कार्य नहीं है। 'औरत के लिए औरत' में नासिरा शर्मा लिखती हैं। औरत और अनुसंग स्त्रियाँ और कोमलता, महिलाएँ और मर्यादा—ये ऐसे शब्द हैं जिनमें निष्ठा, आस्था, अंधविश्वास की जगह तो है मगर समझ, तर्क, क़ानून का स्थान नहीं है। मर्द समाज ने औरत से जवाब सुनना कभी पसंद नहीं किया और न ही उनकी समझदारी को आदर की दृष्टि से देखा। त्याग, ममता, स्नेह, समर्पण, श्रृंगार, कोमलता जैसे पुरुषप्रिय गुणों के परिधानों को ओढ़े हुए स्त्री-अस्तित्व की परंपरागत परिकल्पना स्त्री की रूढ़ छवि को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। हमारे समाज का 80 प्रतिशत सभ्य पुरुष स्त्री की यह रूढ़ छवि ही पसंद करता है। स्त्री कुछ कहे न। जहाँ स्त्री-पुरुष की हॉ में हॉ मिलाए वहाँ कोई टक्कर या तक़रार नहीं होता। जहाँ स्त्री अपनी राय या अपने विचार सुनाने लगती है वहाँ समस्याएँ सिर उठाने लगती हैं। स्त्री कब तक मोम की गुड़िया बनी रहेगी। अपमान और अत्याचार सहते-सहते वह सहनशीलता की पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है, जहाँ उसके स्त्रीत्व का दूसरा रूप प्रकट होता है। यह दूसरा रूप बड़ा ही भयंकर और आक्रामक होता है। पीड़ित स्त्री का आक्रोशमय विस्फोट है स्त्री का प्रतिरोध अर्थात् युगों से अपमानित शोषित स्त्री अब अन्याय के विरुद्ध मौन साधने वाली नहीं है। बल्कि अन्याय के विरुद्ध चिघाड़ने की शक्ति उसमें आ गई है।

ऐसी एक स्त्री है चित्रा मुद्गल की कहानी 'केंचुल' की कमला। कमला शराब का धंधा करती है। पति के कापुरुष होने के कारण कमला को धंधा करने के लिए पराए पुरुषों के सामने सहायता की भीख माँगनी पड़ती है। बानी ऐसा एक आदमी है, जिससे कमला पैसा उधार लेती है। बानी पैसा देता है और उसकी दृष्टि कमला की बेटी पर पड़ती है। कमला जब यथार्थ से अवगत होती है बड़ी सख्त भाषा से अपना प्रतिरोध व्यक्त करती है। कमला अनपढ़ और अशिक्षित होते हुए भी व्यावहारिक है। जब वह बेटी के प्रेम-संबंध के बारे में जान जाती है वह बेटी से कहती है, 'भैया लोगों पर अपन को विस्वास नहीं ... एक जोरन मुलुक में रखते, एक औरत इधर फँसाते, तू सरना का चक्कर छोड़ दे....' यहाँ चित्रा जी एक अशिक्षित स्त्री की व्यावहारिक बुद्धि को उकेरती हैं। 'मर्द' कहानी की स्त्री भी अपने पति की कापुरुषता पर शब्दों से प्रहार करती है। स्त्री को पशु या वस्तु मानने वाली विकृत मानसिकता का निषेध चंद्रकांता कृत 'साउथ-एक्स' की सीता में है। आज की इक्कीसवीं सदी में परिवार में बच्चियों का जन्म गहरे उच्छ्वासों के बीच होता है। रामदरश मिश्र की कहानी 'लडकी' इस विसंगति को दर्शाती है। चित्रा मुद्गल की कहानी 'दूध' में बेटी माँ से पूछती है, जब मैं जन्मी थी तो दूध उतरा था तुम्हारी छाती में या फिर तूने मेरे हिस्से का दूध भी घर के मर्दों को पिलाया था। कमल कुमार की कहानी 'अंतर्यात्रा' का प्रतिपाद्य भी यही है।

स्त्री-विमर्श की तरह दलित-विमर्श को लेकर भी समकालीन कथाकारों ने कई सिक्के उछाले हैं। रमणिका गुप्ता की 'दूसरी दुनिया का यथार्थ', डॉ० एन० सिंह की 'यातना की परछाइयाँ', में संकलित कहानियाँ यह प्रभावित करती हैं कि दलित कहानीकारों की कई श्रेष्ठ कहानियाँ रचनात्मक दृष्टि से सक्रिय हो चुकी हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सपना' में शिक्षित गौतम केवल अनुसूचित जाति का होने के कारण मंदिर की मूर्ति की स्थापना के साथ अग्रिम पंक्ति में बैठ नहीं पाता। जो अवस्था साठ-सत्तर साल पहले हमारी सामंती व्यवस्था में थी। वही स्थिति आज की इक्कीसवीं सदी में देखी जा रही है या फिर हम कह सकते हैं आज अतीत से भी बदतर स्थिति दलितों के साथ घटित हो रही है। चित्रा मुद्गल की कहानी 'डोमिन काकी' की दादी माँ अपनी नासमझ पोती के मन में जाति, धर्म, छूआछूत के भेदभाव को भरकर उसे पसोपेश में डाल देती है। एक बार बच्ची अनजाने में घर में काम करनेवाली डोमिन को छूती है। इतने में दादी माँ उस पर चिल्लाती है। मूरख ... छू लिया तूने रत्नी को? बड़ी काकी को पुकार कर दोनों के ऊपर गंगाजल छिड़कने और दो बाल्टी पानी स्नान के लिए रख देने को कहती है। इस पर भी दादी माँ का गुस्सा शांत नहीं होता। चेटावनी देती हुई कहती है, आइंदा ख्याल रखो बिट्टो रत्नी को कुछ भी देने के लिए कहूँ तो छूना मत...। दादी की बातें सुनकर बच्ची के अंदर अनगिनत सवाल कौंधने लगते हैं। सूरजपाल चौहान की कहानी 'बदबू' में एक शिक्षित सभ्य दलित लड़की का अपमान स्वयं उसके घरवाले करते हैं। राजनीतिक अपराधीकरण और राष्ट्रीय सांस्कृतिकवाद के ख़ौफ़ पर भी समकालीन कथाकारों ने विशेष दृष्टि डाली है। चंद्रकांता ऐसी लेखिका है, जिनकी कहानियों में चेतना के कई रूपों को अनावृत किया गया है। चित्रा मुद्गल की एक लघुकथा है 'आतंकवाद'। पाँच वाक्यों से लिखी यह कहानी पचास पृष्ठों तक अपना अर्थ विस्तार दे सकती है। इस कहानी का संदेश यह है कि आज का हर इंसान आतंकवाद के ख़ौफ़ से भयभीत है। सुबह उठकर अख़बार पढ़ने में उसे डर लगता है कि कहाँ आतंकवादियों ने बम-विस्फोट में कितनों की जान ली है। वास्तव में यह नई पीढ़ी के लिए एक संकट की स्थिति है। भीष्म साहनी की कहानी 'अमृतसर आ गया है' सांप्रदायिक ख़ौफ़ को ध्वनित करती है।

इन मुद्दों के अतिरिक्त समकालीन कहानीकारों ने नव उपनिवेशवाद से उत्पन्न बाजारीकरण, उदारीकरण, भूमंडलीकरण के आतंक में फँसे मानव की विद्रूपताओं को स्पष्ट किया है। ये विभीषिकाएँ बहुआयामी हैं, जैसे अर्थ का जुनून, टूटते मूल्य, कुंठा, अकेलापन, सेक्स, पाश्चात्यीकरण आदि। समकालीन कहानीकारों में चित्रा मुद्गल की कहानी 'वाइफ़ स्वैपी' पाश्चात्य संस्कृति के विकृत और घिनौने यथार्थ को प्रकट करती है। 'वाइफ़ स्वैपी' संपन्न लोगों के मन बदलाव की एक क्रीड़ा है। बड़े-बड़े क्लबों में आधी रात के समय शराब के नशे में अपनी पत्नियों को एक्सचेंज करते हैं। संपन्न लोग इसे आधुनिकता का खेल मानते हैं। काम-वासना, भोग के अनियंत्रित जीवन में पथराते रिश्तों को राजकुमार गौतम की 'क़ब्र' कहानी में देख सकते हैं। उत्तर औपनिवेशिक युग में मनुष्य के संस्कार, मान्यताएँ, जीवनादर्श सभी पाश्चात्य विखंडित समाज की विकृत धाराओं के अनुरूप ढल रहे हैं। इनमें किसी को दोष करार नहीं दे सकते, क्योंकि सारा देश ही नव उपनिवेशवाद से उत्पन्न बाजारीकरण,

उदारीकरण, वैश्वीकरण, भूमंडलीकरण के शिकंजे में फँसकर अपने अस्तित्व को खो रहा है।

‘क़ब्र’ कहानी शैलजा और रस्तोगी दंपती के सेक्स के जानवराना भोग पर केंद्रित है। यौन जीवन का स्वच्छंद उपभोग करते समय उन्होंने अपने परिवार को अनदेखा किया। बढ़ते बच्चों की चिंता नहीं की। परिणामस्वरूप रस्तोगी के बेटे-बेटी एक-दूसरे को भोगने पर तुल जाते हैं। रस्तोगी इसे अपनी आँखों से देखता है। मानसिक आघात से उसे हार्ट-अटैक हो जाता है। राजकुमार गौतम की दूसरी कहानी ‘इंटीमेल चैनल’ नई जन्मी भोगवादी संस्कृति के अपसंस्कार को उजागर करती है। इस कहानी की ‘मात्रा’ चुलबुली अंदाजों वाली टी०वी० एंकर है, जो शादी को सिर्फ जिस्म का खेल मानती है। इसी कारण दो-दो शादियाँ करके दोनों को छोड़कर किसी तीसरे के साथ जीवन की खुशियों को लूट रही है। आज टी०वी० पर प्राइवेट चैनलों की भरमार है। ऐसे कई चैनल हैं, जिन पर भोग और संभोग की क्रियाओं का लाइव टेलीकास्ट किया जाता है। ऐसे चैनल इंटीमेट चैनल के नाम से जाने जाते हैं। इस तरह के चैनलों का प्रमुख लक्ष्य दर्शकों को आकर्षित करना है और इसके एंकर भी अर्धनग्न शरीर में उभारों को लेकर प्रस्तुत होते हैं। ऐसी ही एक एंकर है ‘मात्रा’ जिसकी मासिक आय पचास हजार है। पैसे का जुनून और भोग की कोशिश उसकी भावनाओं को रौंद देती है। अपने पिता की मृत्यु की खबर वह चैनल के पर्दे पर पढ़कर गणेशन को हमबिस्तर होने के लिए उकसाती है।

कैलास वनवासी की कहानी ‘प्रतीक्षा’ मशीनी सभ्यता के प्रभाव से टूटते पारिवारिक संबंधों का यथार्थ है। राकेश मिश्र ने भी नव उपनिवेशवाद की विभीषिकाओं को अपनी कहानियों का आधार बनाया है। ‘बाकी धुआँ रहने दिया’ में उत्तर आधुनिक संस्कार Use & throw away वाली रीति को उभारा गया है। आज के आधुनिक प्रेम का मूल मुद्दा यही है। आज प्रेम का आधार स्नेह, संवेदना, त्याग, समर्पण, सहनशीलता नहीं, बल्कि भोग, सेक्स का उन्मुक्त प्रदर्शन है। प्रेम का पाश्चात्यीकरण हो गया है, या फिर कह सकते हैं कि पाश्चात्य देशों में भी एडवांस हो गए हैं भारत के क़स्बों के प्रेमी इस कहानी के अविनाश और सरिता दोनों Free Sex पर विश्वास करनेवाले हैं। सेक्स का आकर्षण गया तो लव भी गायब। गोविंद मिश्र की ‘शापग्रस्त’ एक स्त्री के उच्छृंखल जीवन रीतियों पर आधारित है। भारतीय संस्कृति सभ्यता में स्त्री का एक गरिमामय स्वरूप है। स्त्री में एक माँ का रूप है, जो परिवार में रिश्तों को जन्म देती है। पाश्चात्य देशों में स्त्री का भोग्या रूप पहले आता है, वह बाद में पत्नी है और उसके भी बाद माँ। आज की आधुनिक स्त्रियाँ पाश्चात्य स्त्रियों के संस्कारों को अपनाकर भ्रष्ट हो रही हैं और उसके बाद पश्चात्ताप की अग्नि में जलकर कुछ तो आत्महत्या कर लेती हैं और कुछ कुंठित जीवन-यापन करती हैं, जैसे रीता लंदन जाकर हर तरह के बंधनों से मुक्त होना चाहती है। इसका कितना बुरा प्रभाव बच्चों पर पड़ता है, इससे वह अनजान है। ऐसी संतान ही बड़े होकर दिग्भ्रमित हो जाती है। नशीले पदार्थों का सेवन करती है। समाज को इस तरह की विकृत पीढ़ी को जन्म देने के ज़िम्मेदार स्वयं माँ-बाप ही हैं।

रामदरश मिश्र की ‘मिसफिट’ कहानी नवउपनिवेशवादी संस्कृति की विसंगतियों को दर्शाती है। चंद्रकांता की कहानी ‘इस दौड़’ नव उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों से रिक्त हो रहे पारिवारिक संबंधों को उजागर करती है, जहाँ परिवार, पत्नी, बेटा केवल शब्द की पूर्ति के

साधन हैं। जीवन में उनका कोई महत्त्व नहीं। कमलकुमार की 'मर्सी किलिंग' परंपरागत मूल्य और स्त्री के आभिजात्य के चरमराने का संदेश देती है। आज के अर्थप्रधान युग में पूँजी से निःसृत उपभोक्तावादी ताकतें हमारे समाज में नैसर्गिक रूप से निःसृत जीवन-रस को सुखा रही हैं। 'ब्रेख्त' ने सही लिखा है, जब जीवन बदलता है तब चित्रित करने के लिए जरूरी है कि हम चित्रण के साधनों को बदलते हैं। पूँजीवाद के आक्रमण में स्त्री-पुरुष रिश्ते ही नहीं संपूर्ण परिदृश्य ही बदल गए हैं। आज के अर्थ प्रधान युग में पातिव्रत्य धर्म या सात फेरों के रस्मों का कोई अर्थ नहीं है। हर इंसान अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए जीता है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। 'मर्सी किलिंग' कहानी में उषा का पति एक दुर्घटना में अपाहिज हो जाता है। शुरू-शुरू में वह उसकी खूब सेवा करती है। बाद में जीवन की एकरसता से वह ऊब जाती है। वह सोचती है कि जीवित लाश के साथ जीते-जीते वह जीने का अर्थ भूल गई। वह अपने यौवन को, अपनी जिंदगी को नया अर्थ देना चाहती है। उषा उत्तर आधुनिक युग की परिवर्तित स्त्री है, जो सत्ता और पैसा चाहती है। अपने आकर्षित यौवन को वह यँ ही गँवाना नहीं चाहती। अपने पति को सोने के लिए नौद की गोलियाँ देकर वह घर से निकल जाती है। उसे लगता है अरुण के साथ जीवन जीकर वह अपने-आपको धोखा दे रही है। कमलकुमार की कहानी 'खोखल' खोखले हो रहे संस्कारों को उभारती है। इसका पात्र दिनेश अपने विशालकाय घर के शोकेसों उपनिषद्, पुराण, गीता, योग, दर्शन की किताबों की जिल्दों से सजाता है। पत्नी के पूछने पर कहता है 'दिस वास द पार्ट आफ फरनिशिंग ऑफ द हाउस। ... जस्ट फोर ग्लैमर।' संस्कारों को महत्त्व देनेवाली पत्नी को लगता है कि वह जिस घर में जी रही है, वह खोखला होता जा रहा है। वह घर के फालतू कबाड़ की तरह अनवासरिड भी हो गई है। समाज की अमानवीयता और रिश्तों के ठंडेपन का अहसास उसे तब होता है जब वह दिनेश को बुआ की मौत की खबर देती है। तब वह बिना हिचकते कहता है— 'यू जस्ट कीप क्वाइट एंड रिलैक्स। इस वक्त पार्टी का मजा खराब न करो। बाद में देखा जाएगा ... सो टेक योअर ड्रिंक एंड फारगेट दिस।' संबंधों की अर्थहीनता, रिश्तों की शिथिलता, रिश्ते संस्कार आदि हमारे समाज के लिए ख़तरे की घंटी हैं। इसके बारे में कमलकुमार लिखती हैं कि 'मीडिया विस्फोट और सूचना क्रांति ने सामाजिक सरोकारों को एक नया अर्थ दिया है। वैश्वीकरण की आर्थिक अवधारणा ने पुराने मूल्यों को विस्थापित कर दिया है।

समकालीन कहानीकारों ने नव उपनिवेशवादी संस्कृति की एक-एक परत को उधेड़कर परिवर्तित जीवन संदर्भों को प्रस्तुत करने की कोशिश की है। उनके पात्र विश्व समुदाय का प्रतिनिधान करते हैं, जो पाश्चात्य संस्कृति के विखंडित रूप को आधार बना रहे हैं। यह नई पीढ़ी के लिए एक अनिवार्य विभीषिका बन गई है। नई पीढ़ी को इससे मुक्त करना अनिवार्य है। उस अतीत के महत्त्व का परखना अति आवश्यक है जहाँ हमारे राजनेता, भाई-बंधु समस्त देशवासियों ने एकजुट होकर उपनिवेशन से मुक्त होने के लिए स्वतंत्रता का संग्राम लड़ा था।

नागार्जुन के काव्य में जीवन के प्रति आस्था निष्ठा एवं जिजीविषा का स्वर

डॉ० दीपा त्यागी

वरिष्ठ प्रवक्ता हिंदी विभाग

इस्माइल नेशनल महिला कॉलिज, मेरठ (उ०प्र०)

हिंदी-साहित्य-जगत में नागार्जुन का अवतरण प्रगतिवादी कवि के रूप में हुआ। इस युग की पृष्ठभूमि में अस्त-व्यस्त राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक परिस्थितियाँ थीं तथा देश द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से संतुलित था। भ्रष्टाचार, अन्याय एवं शोषण का इतना बोलबाला हुआ कि उससे सत्य, अहिंसा, विश्वास और प्रेम जैसे मानवीय मूल्यों का लोप हो गया। ऐसी विकट परिस्थितियों में अनास्था के स्वर का मिलना स्वाभाविक था, पर प्रगतिवादी कवियों के आशावादी दृष्टिकोण ने जीवन के विकास और उत्कर्ष को ध्यान में रखकर साहित्य-सृजन किया। 'प्रगतिवादी कवियों ने देश की सामयिक पुकार से प्रभावित हो अपनी जीवन-सिद्धि और साहित्यिक सफलता जीवन की प्राप्ति और उसके निरूपण में समझी और अपने साहित्य में उसी को वाणी प्रदान की। इसी कारण प्रगति साहित्य आरंभ से अंत तक जीवन का सबल और सक्षम साहित्य है।' नागार्जुन भी उन्हीं कवियों में से एक थे, जिनकी कविता में जीवन की ऊष्मा है तथा आस्था उनकी कविताओं में प्राण भरती है। यद्यपि वे विद्रोही थे, उनमें विषम परिस्थितियों के प्रति आक्रोश था फिर भी विश्वास का दीप सदैव जलता रहता था। धरती के नित्यप्रति के दुख-दर्द को क्षणिक और सामयिक समझकर तिरस्कृत करनेवाले नागार्जुन को पलायनकर्ता एवं मतिभ्रष्ट लगते थे। उनमें निराशावादिता या पलायनवादिता नहीं थी, अपितु संघर्षों का सामना करने की, उनसे जूझने की शक्ति थी। उन्होंने अपने जीवन में संघर्षों को झेला था, परंतु कभी हार नहीं मानी। यही कारण है कि उनके काव्य में जीवन का संदेश है, जीवन के प्रति निष्ठा का भाव है। उनकी कविताएँ जिजीविषा के स्वर को मुखरित करती हैं।

नागार्जुन भगवान बुद्ध से प्रभावित थे और भगवान बुद्ध की मान्यता है कि सब-कुछ दुखमय है। संसार में चारों ओर करुणा का प्रसार है, सब-कुछ क्षणिक है। अतः नागार्जुन भी एक ओर जीवन को नश्वर मानकर उससे मोह त्याग देते हैं, दूसरे ही क्षण उनमें जिजीविषा का स्वर मुखरित होने लगता है। 'युगधारा' की 'तुम जर्गी संसार जाये जाग'; कविता में कवि भगवान बुद्ध की बात याद करके कह उठता है 'सब क्षणिक है, सभी नश्वर,² परंतु शीघ्र ही झींगुर जैसा तुच्छ जीव, कवि के भीतर जीवन का संदेश पहुँचा जाता है और कवि झींगुरों की

झंकार से प्रेरणा लेकर जीवन के प्रति आस्थावान हो उठता है—

झींगुरों का हो गया झंकार वह आरंभ

एक रस अविराम

शिरायें फड़कीं

धमनियों में हुआ फिर नव स्फूर्ति का संचार

जिंदगी का दे रहे, संदेश ये झींगुर हज़ार-हज़ार।³

नागा बाबा जनवादी थे। सामान्यजन ही उनकी कविता का विषय था, तभी तो उनकी पीड़ा उन्हें पीड़ित कर जाती थी तथा उनका आर्तनाद उन्हें उद्वेलित कर जाता था। वे जिस जीवन के प्रति आस्थावान थे वह उन दलितों, शोषितों का जीवन है, जो उच्चवर्ग के अत्याचारों का शिकार है। व्यक्ति के सुख-दुख पर प्रगतिवादी साहित्यकार पीड़ा का अनुभव नहीं करता, उसे तो समाज की पीड़ा से कष्ट की अनुभूति होती है। उसे अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना, व्यक्ति को समष्टि से पृथक् देखने का प्रयत्न मिथ्या प्रतीत होता है और एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक लगता है ... जीवनगत मूल्यों को प्रगतिवादी साहित्यकार ने जनहित में देखा, जनहित से अलग नहीं।⁴ प्रगतिवादी नागार्जुन की भी व्यक्तिगत जीवन के प्रति नहीं, बल्कि समष्टिगत जीवन के प्रति आस्था है। यद्यपि दुखों एवं कष्टों ने उन्हें कटु कहने वाला बना दिया, परंतु वे कुंठित एवं निराशावादी नहीं हुए, अपनी समस्त सहानुभूति सामान्यजन के प्रति समर्पित करते हुए कवि उनकी स्वतंत्रता, सुख-शांति की कामना करता है—

सब स्वतंत्र हों, सभी सुखी हों, सबका हो कल्याण,

व्यक्ति-व्यक्ति में संचारित हो नवजीवन नव प्राण।⁵

‘नागार्जुन जी ने अपनी रचनाओं में अपने जीवन के दुख-दर्द का ही नहीं, श्रमिक, दलित तथा शोषित समाज के दुखों और कष्टों का भी चित्रण किया है, किंतु वास्तविकता को चित्रित करते हुए भी उनकी दृष्टि निराशावादी नहीं है। वे जीवन के भयंकर यथार्थ का चित्रण करने के साथ उस सुख का भी चित्रण करते हैं, जो अप्रत्यक्ष रूप से उसमें निहित है।⁶ नागार्जुन की एक कविता है ‘अकाल और उसके बाद’ इसमें बाबा ने दो स्थितियों का चित्रण किया है—अकाल के समय की दुखद तथा अकाल के पश्चात् सुखद। अकाल का समय दुख एवं कष्ट का है जब व्यक्ति दाने-दाने के लिए मोहताज हो जाता है—

कई दिनों तक चूल्हा रोया, चक्की रही उदास

कई दिनों तक कानी कुतिया सोई उनके पास

कई दिनों तक लगी भीत पर छिपकलियों की गश्त

कई दिनों तक चूहों की भी हालत रही शिकस्त।⁷

ऐसी कारुणिक दशा का चित्रण करने के पश्चात् भी कवि निराशावादी नहीं हुआ यद्यपि अभाव की स्थिति निराशा उत्पन्न करती है पर जनवादी को पूर्ण विश्वास है कि दुख-सुख चक्रवर्त हैं। इस दुख के बाद सुख अवश्य ही आएगा

...दाने आए घर के अंदर कई दिनों के बाद,

धुआँ उठा आँगन से ऊपर कई दिनों के बाद,

चमक उठी घर भर की आँखें कई दिनों के बाद,
कौए ने खुजलाई पाँखें कई दिनों के बाद।⁸

जीवन की दुखद परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा के अंधकार में आशा की किरण दिखाकर ही नागार्जुन शांत नहीं बैठते क्योंकि शांत बैठ जाना तो निष्क्रियता होगी, यह निष्क्रियता उन्हें स्वीकार नहीं थी, तभी तो वे दुखी और शोषित को जागृति का संदेश देते हैं। जीवन-समर में उतर जाने की प्रेरणा देते हुए कवि कहता है—

तो उठो
मन और तन की समूची ताक़त लगाकर
विघ्न बाधा के पहाड़ों को गिरा दो, ढाह दो
अमंगल के, अशुभ के उन हेतुओं को ध्वस्त कर दो।⁹

‘नागार्जुन के यहाँ आशा, विजय और विश्वास का स्वर अधिक शक्तिशाली है ... जनता के जीवन से उनका सक्रिय और अटूट नाता है। समाजवाद के महान ध्येय के प्रति समर्पित अपने संघर्षों में उन्हें आस्था, जनता के कर्म, संघर्ष और परिवर्तन की क्षमता पर उन्हें भरोसा है। वे जीवन-संग्राम में विश्वासपूर्वक उतरने की प्रेरणा देते हैं।’¹⁰ उनका विश्वास रहा है कि यदि व्यक्ति कर्म में लीन हो जाएगा, तो उसके आगे कुंठा, निराशा, दैन्यता जैसे भाव टिकेंगे ही नहीं, यही कारण है कि उनके श्रमिक श्रम भी करते हैं तथा प्रसन्नचित भी रहते हैं, जीवन को पूरी निष्ठा के साथ जीते हैं। ऐसा नहीं है कि उनमें कुंठा न हो पर वे अपनी पीड़ा एवं घुटन को ठहाकों से दबा लेते हैं—

उनकी घुटन ठहाकों में घुलती है।¹¹

नागार्जुन ने अपने काव्य के माध्यम से उन जीवन-मूल्यों को स्थापित किया, जो सामान्यवर्ग में जिजीविषा को मुखर कर सके, उनमें जीवन के प्रति निष्ठा जाग्रत कर सके, भय की दीवारों के पीछे छिपी हुई मानव-चेतना को कवि ने नए-निर्माण का अग्रदूत बनाया। अनास्थावादी विचारों के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। कवि की इच्छा, आशा और विश्वास अधिक पूर्ण और मानवी है। नागार्जुन नाम है, उस जीवित इकाई का जो स्वयं ही जीवन नहीं व्यतीत करती, अन्य को भी जीवन का संदेश देती है तथा पूरे विश्वास के साथ—

देखोगे, सौ बार मरूँगा
देखोगे, सौ बार जियूँगा
हिंसा मुझसे थर्राएगी
मैं तो उसका खून पियूँगा
प्रतिहिंसा ही स्थायीभाव है मेरे कवि का
जन-जन में जो उर्जा भर दे, उद्गाता हूँ उस रवि का।¹²

कवि नागार्जुन जन-जन में ऊर्जा भरने वाले सूर्य के उद्गाता हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। समाज के व्यवधानों और जड़ सीमाओं को कवि तोड़ता है। किसी भी प्रकार का वैषम्य उसे स्वीकार नहीं है, क्योंकि इससे न्याय शक्ति कुंठित होती है। फलस्वरूप जीवन-गति अवरुद्ध हो जाती है। जीवन के लिए यह भी आवश्यक नहीं है कि दीर्घ ही हो, भले ही अल्पायु हो, परंतु इसमें सुख-शांति तो हो, जिससे जीवन में आस्था बनी रहे। ‘बुलबुले’

कविता में कवि बुलबुले के माध्यम से जीवनेच्छा को प्रकट करता है। बुलबुले का जीवन कितना छोटा है, फिर भी उसमें जीवन से पलायन करने की प्रवृत्ति नहीं है। छोटी-सी आयु के प्रत्येक क्षण के मूल्य का महत्त्व उसे मालूम है और वह उसे हर्षोल्लास में व्यतीत करना चाहता है—

हैं अपने जीवन की लघुता
अति लघुता का भी ख़याल तुम्हें?
यह हँसी खुशी यह अलमस्ती,
कर दें न कहीं बेहाल तुम्हें?¹³

इन पंक्तियों के माध्यम से कवि उन व्यक्तियों में आशा का संचार करता है, जो जीवन को क्षणिक मानकर हताश एवं निराश रहते हैं। उनका मानना था कि जीवन कितना भी हो पर व्यतीत करना चाहिए पूरे उल्लास एवं उत्साह के साथ, क्योंकि जीवन का प्रत्येक क्षण मूल्यवान है। यद्यपि 'आधुनिक जीवन अपनी जटिलताओं में इस प्रकार उलझा हुआ है कि जीवन के प्रति अनास्था उत्पन्न हो जाती है'¹⁴ और यही अनास्था पलायन की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है। निराश मानव या तो जीवन से मुक्त होना चाहता है, या फिर आध्यात्मिकता का आश्रय लेता है, लेकिन कवि नागार्जुन को मानव की ये दोनों ही स्थिति स्वीकार नहीं हैं, क्योंकि उनका कर्म पर विश्वास है। जीवन में संघर्षों से विमुख होकर यथार्थ के कठोर धरातल से पलायन करनेवाले कवि की दृष्टि मतिभ्रष्ट है तभी तो अरविंद जी पर भी कवि व्यंग्य करता है—

क्षणिक सत्य की तुच्छ भूमि फैली है नीचे
शाश्वत ज्योतिर्मय असीम इस ब्रह्मलोक में
तुम बिराजते हो दृग मींचे।¹⁵

जीवन में संघर्ष-पथ पर चलने की प्रेरणा देने वाले नागार्जुन ऐसी आध्यात्मिकता के विरोधी थे, जो मनुष्य को निष्क्रिय बना दे। उनके लिए तो प्रकृति भी प्रेरणादायी है, जो सदैव जीवन का ही संदेश देती है। जीवन और प्रकृति एक-दूसरे से जुड़े हैं। प्रकृति स्वयं अपने परिवर्तन, विकास और विनाशलीला में परवश है। मनुष्य का जीवन भी इन स्थितियों से गुज़रता है, फिर प्रकृति के समान ही मनुष्य में भी आशा, विश्वास एवं हर्षोल्लास सदैव बने रहने चाहिए। कवि को लहराते धान के पौधे, हरे-भरे क्षेत्र सभी जीवन का संदेश देते हुए प्रतीत होते हैं—

मृत्यु नहीं, जीवन का देते आए हैं संदेश
झूमते लहराते धान के पौधे
नाश नहीं निर्माण के प्रतीक हैं साक्षात्
दिग्दगंत फैले हरित-शाद्वल क्षेत्र।¹⁶

इतना ही नहीं है बल्कि सूर्योदय भी नई चमक, नया उत्साह लेकर आता है। 'जय अरुणोदय। यह सिंदूरी किरण सुहानी।' कहकर कवि उसका स्वागत करता है, क्योंकि सूर्योदय कवि के भीतर नवीन उत्साह का संचार करता है तभी तो कवि-हृदय कह उठता है— 'उछल रही है तुझे देखकर नई जवानी।'¹⁷ कितनी जीवंत है नागा बाबा की कविता जो निराशा एवं

घुटन में पलायन की भावना नहीं भरती। एक विश्वास सदैव बना रहता है कि 'यों ही गुजरेंगे हमेशा नहीं दिन बेबसी में खीझ में, घुटन में, ऊबों में। आएँगी वापस जरूर हरियाली।'¹⁸ निस्संदेह कवि स्वयं संघर्षों से प्रेरणा ग्रहण करता है और साथ ही दूसरों को भी संघर्षों से जूझने की प्रेरणा प्रदान करता है। प्रेमचंद जी का मानना है कि—'साहित्य समाज का दर्पण ही नहीं, एक दीपक है, जिसका प्रकाश जीवन को नया मार्ग प्रदान करता है। इस मान्यता की कसौटी पर नागार्जुन का काव्य खरा उतरता है। आज का परिवेश इतना नैराश्यपूर्ण, संदेहयुक्त एवं संघर्षशील है कि मानव निराशा एवं कुंठा में जीवन-यापन कर रहा है, उसमें पलायन की प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है। ऐसे विषम वातावरण में नागार्जुन का काव्य दीपक की तरह ही है। उनके आस्थावान स्वर जन-जीवन को नए निर्माण की ओर अग्रसर करते हैं। मानव को मात्र जीवन का संदेश देना उनका ध्येय नहीं है क्योंकि खीज एवं घुटन से युक्त जीवन वास्तविक जीवन नहीं है। उसके लिए आवश्यक है, जीवन में निष्ठा एवं विश्वास। पुलकित तन और मुकुलित मन ही जीवन के प्रति निष्ठा का भाव ला सकते हैं।

संदर्भ

1. सुशील गुप्ता, आधुनिकहिंदीकाव्य में प्रवृत्तिमूलक दार्शनिकता, पृ० 449
2. नागार्जुन, युगधारा, पृ० 33
3. वही, पृ० 33
4. डॉ० नगेंद्र, आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृ० 101
5. नागार्जुन, पुरानी जूतियों का कोरस, पृ० 36
6. डॉ० राजेंद्रसिंह गौड़, हमारे कवि, पृ० 322
7. नागार्जुन, सतरंगे पंखों वाली, पृ० 32
8. वही, पृ० 32
9. नागार्जुन, युगधारा, पृ० 73
10. डॉ० रामविलास शर्मा, निराला की साहित्य-साधना, भाग 2
11. नागार्जुन, प्यासी पथराई आँखें, पृ० 54
12. नागार्जुन, हज़ार-हज़ार बाँहों वाली, पृ० 11
13. नागार्जुन, पुरानी जूतियों का कोरस, पृ० 105
14. डॉ० परशुराम शुक्ल 'विरही', आधुनिक कवियों का जीवन दर्शन, पृ० 221
15. नागार्जुन, हज़ार-हज़ार बाँहों वाली, पृ० 18
16. नागार्जुन, युगधारा, पृ० 85
17. वही, पृ० 103
18. डॉ० प्रभाकर माचवे, नागार्जुन गीत, पृ० 91

वैश्वीकरण और हिंदीभाषा

डॉ० अरुण रानी

असि० प्रोफेसर हिंदी विभाग

गुलाबसिंह हिंदू (पी०जी०) कॉलेज, चाँदपुर-स्याऊ (बिजनौर) उ०प्र०

वैश्वीकरण आधुनिक विश्व-व्यवस्था की आधारभूत विशेषता है। सतही तौर पर वैश्वीकरण का सीधा अर्थ है किसी भी 'विचार', 'वस्तु' अथवा 'मानक' का भूमंडलीकरण, किंतु जिस तकनीकी प्रतिमान में हम आज वैश्वीकरण को देख रहे हैं वह वस्तुतः अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण है।¹ आज प्रतिस्पर्धा के कारण बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था 'नए विश्व'² का ऐसा सम्मोहन बन चुकी है, जिसके जादू में न केवल 'तृतीय विश्व' के देश अपितु एक समय के धुर समाजवादी समझे जाने वाले देश भी मंत्र-मुग्ध हैं।³ भले ही इस 'छछिया भर छाछ' के लिए इसकी शर्तों पर भविष्य में नर्तन क्यों न करना पड़े, क्योंकि इस व्यवस्था में 'माखन' तो पूँजीवादी धन कुबेरों के पल्ले ही पड़ेगा।⁴ ऐसे में भारतीय संत परंपरा की यह बानी याद आती है—

गगन मंडल में गऊ बियानी, भुईं पे दही जमाया।

माखन माखन संतन खाई, छाछ जगत बरपानी।

बीसवीं सदी के आखिरी दशक के पूर्वार्द्ध से ही विभिन्न देशों में विदेश निवेशकों को आमंत्रित करने के लिए अर्थव्यवस्था का उदारीकरण या बाज़ारीकरण प्रारंभ किया गया और अंततोगत्वा अर्थव्यवस्था का वैश्वीकरण हुआ। जिसने देखते ही देखते मानव-जीवन के कमोवेश प्रायः प्रत्येक पहलू को अपने अधिकार में कर लिया।⁵

वैश्वीकरण के इस युग में अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने की प्रतिस्पर्द्धा में 'निवेशकों' ने अपना पूँजी निवेश उन्हीं क्षेत्रों या देशों में किया, जहाँ से उन्हें अधिकाधिक लाभ की संभावनाएँ थीं। अतः बढ़ता कुपोषण, ग़रीबी, बेरोज़गारी, महँगाई, शोषण एवं गाँव की हर झोपड़ी में सुख-समृद्धि का चिराग़ जलाने के सवाल हाशिये पर रह गए।⁶ अर्थात् 'निवेशक कहे सो सही'⁷ रंग में रँगी व्यवस्था के बीच जनकल्याणकारी राष्ट्रीय प्राथमिकताएँ गौण महत्त्व का विषय बनकर रह गईं तथा दरिद्र और दरिद्र होने को विवश हुआ।⁸

वैश्वीकरण व्यवस्था में मनुष्य मनुष्य को 'क्रेता', 'विक्रेता', 'उपभोक्ता' की बाज़ारवादी दृष्टि से देखने लगा। मानवीय रिश्ते, जीवन्त जीवनमूल्य सभी व्यवसायीकरण के रंग में रँग गए। चारों ओर 'हर माल मिलेगा दो आना, बाल कटाना दो आना, सेब मुड़ाना दो आना' की तर्ज पर बाज़ारवादी हुल्लड़ नज़र आने लगा।⁹ ऐसे में बाण भट्ट की नायिका भटनी ने भले ही 'नरलोक से किन्नरलोक तक हृदय के रागात्मक संबंध का स्वर एक सुना हो 10

अब 'हृदय' का स्थान 'मस्तिष्क' ने लिया और 'चालाकी' को 'विवेक' का पर्याय मान लिया गया।

वैश्वीकरण का युग 'संक्रमण' का काल है, जिसमें घबराने की आवश्यकता नहीं 'धैर्यपूर्वक'¹² मस्तिष्क से काम लेने की आवश्यकता है।¹³ आज भी विश्व के स्थायी विकास का मार्ग गांधी-दर्शन से ही जाता है। गांधी जी आर्थिक आत्मनिर्भरता पर बल देते थे। आज समय आ गया है कि इस तथ्य को पुनः समझा जाए।

वैश्वीकरण और हिंदीभाषा के संदर्भ को समझने के लिए हमें आधुनिक काव्य प्रणेताओं में से कुछ कवियों के विचारों से अवगत होना अनिवार्य है। गांधी जी राष्ट्रभाषा हिंदी के समर्थक थे, जबकि 'जब चढ़ जाता है नशा भाषण होते हैं/ अँग्रेजी में गांधी पर/ जोर-जोर से बजती है तालियाँ।' भवानीप्रसाद मिश्र का प्रश्न है कि जब हमारे नेतागण गांधीजी के सिद्धांतों की सर्वथा अवहेलना करते रहते हैं, तो विदेशों से आए तमाशबीनों को 'गांधी की झोपड़ी, उसकी लाठी, उसका चश्मा' क्यों दिखाया करते हैं।¹³

आज देश में पब्लिक स्कूलों की भरमार है, जहाँ हिंदी को हेय दृष्टि से देखा जाता है। रामदरश मिश्र ग्रामीण बच्चों की मनोव्यथा को इस प्रकार वाणी देते हैं। जो गँवई स्कूलों में पढ़कर/पब्लिक परीक्षाओं के लिए मूर्ख करार दिए जाते हैं/ सभ्याचरण विहीन अँग्रेजीविहीन।¹⁴ सुरेश किसलय बच्चों को अपने पिता से यह शिकायत करते चित्रित किया कि उसने स्वाधीनता सेनानी होने का (सच्चा/मिथ्या) सर्टीफिकेट क्यों नहीं सहेजकर रखा था जिसके अभाव में 'कैसे वे पब्लिक स्कूलों में पढ़ते? कैसे कहलाए राष्ट्र की संपत्ति।' अब तो उन्हें सामान्य स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों जैसी यह नियति भोगनी पड़ रही है कि वे निगम के तंबूनुमा स्कूलों में/ पट्टी पर बारहखड़ी लिखते हुए/ ग़लत हिस्सों में जोड़ते-घटाते हुए/ माध्यमिक स्कूलों के ट्यूशन खोरे/ कसाई मास्टर्स की बेतों से सड़ते हुए/ स्कूल से भागते रहते हैं।¹⁵

राष्ट्रभाषा हिंदी के राष्ट्रीय स्तर पर प्रयोग को राजनीतिज्ञों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के दृष्टि से उलझा दिया, परंतु राष्ट्रभाषा का प्रश्न स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए किए जाने वाले प्रयासों के दिनों से ही समस्या के रूप में उत्पन्न होता रहा है। यह विवाद आरंभ में हिंदी और उर्दू के झगड़े के रूप में पनपा था। स्वातंत्र्योत्तर काल में सरकारी काम-काज में राष्ट्रभाषा हिंदी का प्रयोग होना चाहिए या अँग्रेजी का प्रयोग चलते रहना चाहिए, विवाद का रूप धारण कर लिया। कालक्रम की दृष्टि से विचार करें तो भारतेंदु का दृष्टिकोण प्रतापनारायण मिश्र के 'हिंदी हिंदू हिंदुस्तान' संबंधी नारे की अपेक्षा व्यापक है। भारतेंदु हिंदी की उन्नति किए जाने के प्रबल पक्षधर थे और उन्होंने हिंदी को न्यायालयों की भाषा बनवाए जाने की दिशा में प्रयत्न भी किए थे, किंतु वह देश की उन्नति की दृष्टि से अँग्रेजी भाषा का पढ़ना-लिखना सीखना भी आवश्यक स्वीकार करते थे। वह इसलिए कि अँग्रेजी सीखकर देशवासी विलायत जाएँ तथा वहाँ से भारत को आयत किए जाने वाले कागज़, कपड़ा, चमड़ा आदि उद्योगों, पुलों के निर्माण तथा सेना के लिए युद्ध कौशल आदि विधियों को सीखकर आएँ।¹⁶

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने फरवरी 1905 की सरस्वती में अँग्रेजी के ग्रंथों के हिंदी में अनुवाद किए जाने का समर्थन तो किया था, परंतु अँग्रेजी तथा उर्दू की शिक्षा के व्यापक

प्रयोग के घोर विरोधी थे। इन्होंने भारतवासियों से आक्रोशपूर्वक कहा था—

हिंदू होकर भी हिंदी में यदि कुछ भी न भक्ति का लेश।
दूर देश की भाषाओं से यदि इतना है प्रेम विशेष।
इंगलिस्तान, अरब, फारिस, को तो अब तुम कर दो प्रस्थान।
यहाँ तुम्हारा काम नहीं कुछ छोड़ो मेरा हिंदुस्तान।¹⁷

हरिऔध ने बंगाली, मराठी और उर्दू की समुन्नत दशा की ओर संकेत करते हुए दुख व्यक्त किया है। वे हिंदुओं से प्रश्न करते हैं कि 'क्या उर्दू साहित्य में आपकी पुरानी जातीय संस्कृति का कोई चिह्न है? क्या आप हसन की मनसवी पर मुग्ध होकर रामायणरूपी रत्न को फेंक देंगे? क्या आप दानवीर कर्ण का स्थान हातिमताई को देने को तैयार हैं?

देखकर उर्दू कुतुब यह दीजिए मुझको बता,
आपकी जातीयता का है कहीं उसमें पता?
क्या हसन की मनसवी से आप होकर मुग्धमन,
फेंक देंगे हाथ से वह दिव्य रामायन रत्न।
कर्ण की ऊँची जगह जो हाथ हातिम के चढ़ी,
तो समझिए ढह पड़ेगी, आपकी गौरव गढ़ी।¹⁸

इन्होंने ईश्वर से यह प्रार्थना की थी कि वह हिंदुओं को ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि वे सरकारी पदों के लोभ में फँसकर अँग्रेजी और उर्दू भाषाएँ ही पढ़ने की ओर उन्मुख न रहें। मैथिलीशरण गुप्त ने भारत भारती में कहा है—

राष्ट्रभाषा भी अभी एक देश में कोई नहीं
हम निज विचार जना सके, जिससे परस्पर सब कहीं।¹⁹

उन्होंने इस स्थिति पर भी संकेत किया था कि 'हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने का यद्यपि कुछ प्रांत भी विरोध कर रहे हैं 'पर एक उर्दू दा अधिकतर, बन रहे बाधक यहाँ।'

गांधी जी हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के प्रबल समर्थक थे। रघुवीरशरण मिश्र ने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं को परामर्श दिया कि—'परायी, भाषा का दास होना पाप है। अतः वे भारतीय भाषाओं में ही वक्तव्य दिया करें।' 30 अप्रैल 1935 को इंदौर के हिंदी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष पद से दिए गए भाषण में इस तथ्य पर बल दिया था, 'यदि हमको उत्तर से दक्षिण, पश्चिम से पूरब जाना है। तो अनिवार्य सीखना हिंदी सबको हो जाता है भाई, तथा समझ-बोल लेते हैं हिंदी ज्यादातर तो लोग देश के, किंतु कठिन कहते हैं इसको कुछ सज्जन दक्षिण प्रदेश के।' ²⁰

स्वातंत्र्योत्तर काल में हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित कर दिए जाने पर इसकी घोषणा का क्रियान्वयन नहीं हो सकता है। गुप्त जी ने राष्ट्रीयता का स्मरण करते हुए यह दुख व्यक्त किया है कि—

मन की मन में कसक रही, हिंदी की यह अभिलाषा,
तुमसे पीठ न टुकला पाई, जब वही बनी राष्ट्रभाषा।²¹

पंत ने राजकाज में अँग्रेजी का प्रचलन बने रहने को भारतीयों की मानसिक दासता के साथ उनको स्वाभिमान-शून्यता का प्रतीक बताया है। जयप्रकाश मिर्लिद, गोपालप्रसाद

व्यास आदि ने भी अँग्रेजी की भर्त्सना की है। मिलिंद ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है कि हमारा मुँह काला कुछ देशी काले अँग्रेजों ने करवाया है।²²

कहने को स्वतंत्र्योत्तर कालीन काव्य में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने पर प्रबल कविताएँ लिखी गई हैं। हिंदी को पावन-पुनीत गंगा जन-जन से जोड़ने वाली, अवरोधों को तोड़ने वाली तथा संस्कृति-संगम का प्रतीक माना गया है। किंतु हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के विरोध में हुए भाषाई दंगे एक नवीन कहानी प्रस्तुत करते हैं। इन भाषाई दंगों व राष्ट्रनेताओं द्वारा अपनाई गई उपेक्षावृत्ति के संबंध में अनेक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं। शमशेर बहादुर ने भारतीयों को भाषाई दंगों में अपने को गिरवी रखकर विदेशियों से ली गई पूंजी तथा अँग्रेजी के लिए खेली जाने वाली ऐसी होली बताया है, जिसमें देव और दानव दोनों ही भूमिका अदाकर रहे हैं। धूमिल का कहना है—

‘भाषा और भाषा की बीच की दरार में/ उत्तर और दक्षिण की तरफ़/ फन पटकता, हुआ/ एक दो मुँहा विषधर/ रेंग रहा है/ रोजी के नाम पर/ जगह-जगह/ जहर/फेंक रहा है/ ... हाय! जो असली कसाई है/ उसकी निगाह में/तुम्हारा यह तमिल दुख/ मेरी इस भोजपुरी पीड़ा का/ भाई है/ भाषा उस तिकड़मी दरिंदे का कौर है/ जो सड़क पर और है/ संसद में और है/’²³ धूमिल ने राष्ट्रभाषा समस्या की जड़ का सूक्ष्मदर्शिता से परिचय दिया है। रामप्रसाद मिश्र का मानना है कि विभिन्न प्रांतों के व्यक्ति भाषा आदि के लिए झगड़ते हैं, जबकि बिल्लियों के झगड़े में अँग्रेजी का बंदर/ लाभ उठाता है, हँसता रहता है। धूमिल ने हिंदीभाषियों के आत्मगौरव को धिक्कारते हुए कहा है—‘यह जानकर कि तुम्हारी मातृभाषा/ उस महरी की तरह है, जो/ महाजन के साथ रात-भर/ सोने के लिए एक साड़ी पर राजी है।’²⁴ इसके अतिरिक्त और क्या कर सकते हो कि ‘तुम चुप रहोगे और लज्जा के निरर्थक गूंगेपन से इस तथ्य को सहन कर लोगे। धूमिल ने हिंदी को एक साड़ी मात्र के लिए अपना सतीत्व बेचने को प्रस्तुत महरी तुल्य बताकर उसकी दयनीय स्थिति को उभारा है, तो रघुवीर सहाय ने हिंदी को दुहाजू की नई पत्नी बताते हुए कहा है ‘हमारी हिंदी सुहागिन है, खुश है।’ उन्होंने उसकी इस इच्छा का भी उल्लेख किया है कि वह अपने ‘खसम से पहले मरे।’ कवि की इस टिप्पणी ‘पर पहले खसम उससे बचे/ तब वह अपनी साध पूरी करे।’²⁵ से ध्वनित होता है कि भाषा का प्रश्न सरकार को ही ले डूबेगा। अतः सन 1990 तक इस स्थिति में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ है।

आज वैश्वीकरण के दौर में प्रत्येक भाषा को अपनी उपयोगिता सिद्ध करना अनिवार्य हो गया है। इसलिए हिंदी को अपने राष्ट्रभाषा के क्षेत्र से दूर जाकर ‘ग्लोबल’ भाषा बनना पड़ेगा। क्योंकि भारत से बाहर लगभग 150 विश्वविद्यालयों में हिंदी के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। अमेरिका के कैलीफोर्निया, शिकागो, टैक्सास, कोर्लाबिया आदि विश्वविद्यालयों में हिंदी अध्यापन की व्यवस्था है, जिसके माध्यम से भारतीय संस्कृति, संगीत, दर्शन, भोग आदि को जानने की जिज्ञासा व्यक्त होती है। ब्रिटेन, अमेरिका, कनाडा, नीदरलैंड, स्वीडन, डेनमार्क, जर्मनी, नार्वे आदि देशों के साथ केन्या, दक्षिणी अफ्रीका, इंडोनेशिया, जापान, कोरिया, चीन, श्रीलंका, यूगोस्लाविया, बुल्गारिया, हंगरी, रोमानिया के बुखारेस्ट, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया,

मंगोलिया, पौलैंड, मास्को, मारीशस, फीजी, त्रिनिदाद, सिंगापुर आदि देशों के निवासी भारतीयों ने हिंदी के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। यही कारण है कि हिंदी ने भौगोलिक सीमाओं का अतिक्रमण कर वैश्विक परिदृश्य में अपनी उपस्थिति अंकित की है। विदेशों में हिंदी चैनलों की बढ़ती माँग और बी०बी०सी० के विदेशी श्रोताओं की बढ़ती संख्या यह सिद्ध करती है कि हिंदी अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ प्राप्त कर रही है।

इस वैश्वीकरण के युग में उसी भाषा का अस्तित्व दिखाई देनेवाला है, जो भाषा कंप्यूटर, इंटरनेट, ई-मेल और वेबसाइट की दुनिया में अपनी सूक्ष्म, गहन और प्रभावी उपस्थिति दिखाने वाली है तथा जो नई उपलब्धियों को अपने में समायोजित करनेवाली है, उसी भाषा का भविष्य रहेगा। अभिप्राय यह है कि जो भाषाएँ परिवर्तन को स्वीकार कर साहित्य, ज्ञान-विज्ञान, व्याकरण, कोश आदि क्षेत्रों में अग्रगण्य होंगी, उनकी प्रगति निश्चित है। हिंदी इस दिशा में आगे तो बढ़ रही है, पर उसे अपने मार्ग में अनेक चुनौतियों का सामना भी करना पड़ेगा। सबसे बड़ी चुनौती तो यही है कि भारत में भाषा का प्रश्न अत्यंत संवेदनशील है। इसके लिए हिंदी को सभी भारतीय भाषाओं की शक्ति को आत्मसात् करते हुए समर्थ बनाना आवश्यक है तभी हिंदी जागतिक स्तर पर शक्तिशाली बन पाएगी।

संपूर्ण विश्व में सूचना प्रौद्योगिकी के कारण प्रत्येक क्षेत्र में, आयी क्रांति उपभोक्ता को केंद्रित करने में सफल रही है। 'विश्व बाजारवाद', 'वैश्वीकरण' और 'विश्वग्राम' में संकल्पनाएँ वास्तविक रूप में दिखाई देती हैं। इसलिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए हिंदी को शुद्धतावाद को छोड़ना आवश्यक है। साथ ही हम भारतीयों को चाहिए कि हिंदी के लिए जो उपयोगी है उसका स्वागत करें, नहीं तो हठवादी भूमिका हिंदी के लिए गला घोटने के समान है।

आज हम इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुके हैं। यह एक ऐसी सदी है, जिसमें वैश्वीकरण की प्रक्रिया के कारण पूरे विश्व में तीव्र परिवर्तन हो रहे हैं। इस परिवर्तन के संदर्भ में राष्ट्रभाषा हिंदी के समक्ष अनेक चुनौतियाँ प्रकट हो गई हैं। ये आशंका बुद्धिजीवियों द्वारा बार-बार उठाई गई है। संपूर्ण विश्व को एक बाजार में परिवर्तित करने के लिए पश्चिम जगत का मंत्र भाषा और संस्कृति पर प्रहार करेगा। यह भय बुद्धिजीवियों को सताता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ की सांस्कृतिक इकाई यूनेस्को की एक रिपोर्ट ने इस भय को यथार्थ में परिवर्तन की पुष्टि कर दी है कि कुछ वर्षों में विश्व की कई भाषाओं और बोलियों का अस्तित्व समाप्त हो जाएगा तथा दो दशकों में छोटे-छोटे भौगोलिक क्षेत्रों में कई भाषाएँ और बोलियाँ इतिहास का हिस्सा बन जाएँगी।

भारत की लगभग 200 बोलियों और आठ भाषाओं का वर्णन भी रिपोर्ट में किया गया है। यूनेस्को की यह रिपोर्ट बंद कमरे में बैठकर बनाई गई रिपोर्ट नहीं है, अपितु भाषायी विशेषज्ञों की एक कमेटी ने कई महिनों के गंभीर अध्ययन, अवलोकन और सर्वेक्षण के पश्चात् यह रिपोर्ट तैयार की है। इसलिए इसे काल्पनिक बनाकर इसकी सत्यता को नकारा नहीं जा सकता है।

वास्तव में हम भारतीय अपनी भाषा और बोली के प्रति गंभीर नहीं होते। यही कारण है कि इस रिपोर्ट को देश में किसी ने भी गंभीरता से नहीं लिया। न ही इन भाषाओं से जुड़े

व्यक्तियों ने इसके प्रति चिंता व्यक्त की और न ही भाषा और साहित्य का ध्वज फहराने वाली संस्थाओं ने ही। इसी कारण सरकार से कोई आशा रखने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है।

दूसरे देशों ने अपनी भाषाओं को बचाने के प्रयास शुरू कर दिए हैं परंतु हमारे देश में अभी तक ऐसा कदम नहीं उठाया गया है। इसका यह कारण भी हो सकता है कि या तो हमने रिपोर्ट को गंभीरता से नहीं लिया या हमें अपनी भाषाओं व बोलियों के महत्त्व का ज्ञान नहीं है। वस्तुतः कोई भी भाषा या बोली संप्रेषण के साथ ही व्यक्तियों के सामुदायिक संस्कार और इस क्षेत्र की पूरी संस्कृति से जुड़ी रहती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक भाषा या बोली के विलुप्त होने का अर्थ है एक पूरी संस्कृति का विलुप्त होना। अतः भाषाओं का अस्तित्व ही खतरे में नहीं है, अपितु सांस्कृतिक विरासत पर भी खतरे की तलवार मंडरा रही है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है। आश्चर्य है कि हमारा पूरा समाज मौन धारण किए है, वह आने वाले खतरे से अनभिज्ञ है।

यदि हम शीघ्र चैतन्य नहीं हुए तो विलुप्त होती भाषाओं और बोलियों की संख्या समय के साथ बढ़ती जाएगी। अपनी भाषाओं को बचाने के लिए हम वैश्वीकरण की प्रक्रिया को रोक तो नहीं सकते, परंतु उससे उत्पन्न चुनौतियों को संभावनाओं में परिवर्तित कर सकते हैं।

संचार माध्यमों के कारण हिंदी बोलने वालों और इसको समझने वालों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। इस कारण इसका लाभ प्रत्येक भारतीय को उठाना चाहिए। प्रत्येक भारतीय को चाहे वह देश के किसी भी भाग में हो हिंदी का प्रयोग करना चाहिए तथा ग़लत ढंग से अँग्रेज़ी बोलने वाले की अपेक्षा ग़लत हिंदी बोलने वाले का स्वागत करना चाहिए। तभी वैश्विक संदर्भ में हिंदी की गति बढ़ेगी।

टी०वी० पर हिंदी चैनलों की संख्या निरंतर बढ़ रही है। बाज़ार की स्पर्धा के कारण अँग्रेज़ी चैनलों का हिंदी अनुवाद हो रहा है। यह हिंदी के लिए शुभ संकेत है। यदि क्षेत्रीय भाषाएँ और बोलियाँ टी०वी० और फिल्मों से जुड़ जाएँ, तब किसी क्षेत्र विशेष की बोली या भाषा की गूँज पूरे देश में सुनाई देगी और उससे जुड़े लोग भी सम्मानित अनुभव करेंगे।

भाषायी संवाद की प्रक्रिया में हिंदी महत्त्वपूर्ण व केंद्रीय भूमिका निभा सकती है। हिंदी विश्व की दूसरी सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। हिंदी का प्रभाव पाकिस्तान, बांग्ला देश, नेपाल, मारीशस, फिजी और गुयाना के अतिरिक्त विश्व के अन्य देशों में फैलता जा रहा है।

रचनाकार जब अपनी अभिव्यक्ति में दूसरी भाषाओं और बोलियों के छंदों, मुहावरों, लोकोक्तियों का प्रयोग करेंगे तो दोनों ही भाषाएँ समृद्ध होंगी। इससे यह लाभ होगा कि आम व्यक्ति भी अपनी बोलचाल की भाषा में नए शब्दों को जोड़ेगा। इसी प्रकार स्थानीय भाषाओं के रचनाकारों की रचनाओं के प्रकाशन, अनुवाद व प्रसार की व्यवस्था का दायित्व निभाना होगा। यदि विभिन्न भाषाओं और बोलियों में रचा गया साहित्य हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं और बोलियों में उपलब्ध होगा तो हर भाषा और बोली का प्रसार होगा और उससे जुड़े व्यक्तियों के हृदय में एक नई ऊर्जा का संचार होगा। आज अमेरिका सरकारी नौकरी के इच्छुक प्रत्याशियों से ओबामा²⁶ प्रशासन यह सवाल पूछ रहा है कि 'क्या आप भोजपुरी या

हरियाणवी बोलना जानते हो।' अमेरिका में विश्व की 101 भाषाओं में से 20 भारतीय भाषाओं का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट होता है कि विदेश में भी भारतीय भाषाओं और बोलियों को कितना महत्त्व दिया जा रहा है।

आज हिंदी अंतर्राष्ट्रीय भाषा बनने की ओर अग्रसर है। विश्व हिंदी सम्मेलनों के आयोजन इसी प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति है, जो हमें अपने सामर्थ्य और न्यूनताओं के मूल्यांकन, सफलताओं और अवरोधों की समीक्षा उसकी प्रवृत्तियों और परिवर्तनों के अध्ययन का अवसर प्रदान करते हैं। वास्तव में विश्व मंच पर हिंदी की उपस्थिति अधिक प्रभावी भी हो सकती है। जब उसमें सारी भारतीय भाषाओं और बोलियों में अंतर्निहित चेतना समाई हो। भाषायी संवाद की प्रक्रिया हिंदी को भारतीय भाषाओं की यही ऊर्जा प्रदान करेगी। दूसरी ओर इस प्रक्रिया के चलते देश की दूसरी भाषाएँ और बोलियाँ भी सशक्त और समृद्ध हो सकेंगी। साथ ही महत्त्वपूर्ण भाषा और बोलियों को सम्मिलित कर यही प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर दोहराई जा सकती है। इसके परिणामस्वरूप हिंदी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर और अधिक प्रभावी होकर उभरेगी। जागतिक स्तर पर उसका निर्विवाद महत्त्व बढ़ेगा। महादेश की यह भाषा विश्व-जीवन की नई-नई उपलब्धियों को स्पर्श कर विश्व में अपना सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करेगी।

यह दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है कि भारत में 0.5 प्रतिशत अँग्रेजी बोलने वाले हिंदी के अवरोधक हैं। सिनेमा के माध्यम से हिंदी की पहुँच दूरस्थ ग्रामीणों तक हुई है। इस हिंदी के बल पर अकूत संपदा प्राप्त करनेवाले जब अँग्रेजी में साक्षात्कार देते हैं, तब दोहरी मानसिकता उजागर होती है। यही नहीं जब हमारे राजनेता विदेश में अँग्रेजी बोलते हैं। एक विदेशी ने पूछ लिया 'क्या आपकी अपनी भाषा नहीं है? विदेशी राजनेता जब भारत में आते हैं, तब वे अपनी भाषा में व्याख्यान देते हैं। उन्हें अपनी भाषा पर गर्व है। अँग्रेजी के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि वह वैश्विक संपर्क और विज्ञान प्रौद्योगिकी की भाषा है, किंतु फ्रांस, जर्मनी, रूस, जापान और चीन ने अपनी ही भाषा के माध्यम से अभूतपूर्व उपलब्धियाँ प्राप्त कर उक्त कथन को निराधार सिद्ध किया है।

आगामी होने वाले विश्व हिंदी सम्मेलन में यह विचार करना चाहिए कि भाषा व संस्कृति की रक्षा का भार हमारे अँग्रेजों ने पीढ़ियों के कंधों पर छोड़ा था, उसे आगे ले जाने में पीढ़ियाँ कितनी सफल रही हैं। भाषा और संस्कृति के समक्ष इतने खतरे गुलामी के समय में भी नहीं थे, जितने स्वतंत्र भारत में मौजूद हैं। इन खतरों को हिंदी से जुड़े सभी हिंदी संगठन, समितियाँ समझ रहे हैं, लेकिन सरकार का पूर्ण सहयोग बिना भाषा की लड़ाई के संभव नहीं है। स्वतंत्रता-संग्राम के समय देश के उद्योगपति और राजनेता भाषा को आगे बढ़ाने में साहित्यकारों और भाषानुरागियों का सहयोग कर रहे थे। सर सेठ हुकुमचंद और जमनालाल बजाज जैसे उद्योगपतियों के सहयोग से ही गांधी जी ने वर्धा में हिंदी संस्थान की स्थापना की थी। आज देश के उद्योगपतियों को अपने पूर्वजों के द्वारा किए गए कार्यों का अनुकरण कर देश की जातीय भाषाओं के प्रति प्रेम होना चाहिए। देशीय भाषाओं को संरक्षित रखने में रोजगार एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है। रोजगार की इसी भूमि पर अँग्रेजी का पौधा फला-फूला है। इसी भूमि पर हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं का विकास तथा

संरक्षण संभव है। परंतु यह कार्य उद्योगपतियों को साथ लिए बिना संभव नहीं है। यह विचारणीय है कि विश्व का हर शिक्षा शास्त्री का यह कथन है कि बच्चों की प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए, लेकिन स्वतंत्रता के 61 वर्षों में हम इस मूलवाद को गंभीरता से नहीं समझ पाए। हम कल्पना कर सकते हैं कि भारत का एक अशिक्षित व्यक्ति भारत की न्याय-व्यवस्था में किस प्रकार संघर्ष करता है और अपने ही विषय में लिए जाने वाले निर्णय को अंग्रेजी में लिखा हुआ देखकर हृदय से कितना रोता होगा। प्रश्न यह उठता है कि स्वतंत्र भारत के नागरिकों को इतना भी अधिकार नहीं है कि वह अपनी भाषाओं में अपने निर्णय को पढ़ सके। ऐसे अनेक विचारणीय प्रश्न हैं। जिन पर विचार किया जाना चाहिए। आगामी होने वाला विश्व हिंदी-सम्मेलन में उक्त विषयों पर विचार किए बिना यदि सम्मेलन समाप्त हो जाता है, तब हिंदी के साथ घोर अन्याय होगा।

संदर्भ

1. Gurmeet Kanwal. The new world order An Appraisal II Jasjit singh (Ed.) Strategic Analysis July 1999 Page 544. Vol XXII No. 4 (I.D.S. A New Delhi 1999)
2. D. Banerjee. The past cold war Era; Neither peace nor war. Jasjit singh (Ed) Strategic Analysis January 1993 Page No 898 Vol XV No. 10 (I.D.S.A New Delhi 1993)
3. अवधेशकुमार, पूँजीवाद की मादकता दुनिया पर गहराता आर्थिक संकट, हिंदुस्तान रविवासरीय (नई दिल्ली) 5 नवंबर 1995
4. मृणाल पांडेय, माखन-माखन संतन खाई, हिंदुस्तान (नई दिल्ली) 21 दिसंबर 1993
5. File://A:\JKPGLO\JKPGLO\Globalisation and democracy Htm 11/26/01, Page 1-11
6. हिंदुस्तान (नई दिल्ली), 23 नवंबर 1994
7. वही, 25 जून 1995
8. मृणाल पांडेय, विदेश पूँजी निवेश-भ्रांति से सच्चाई तक, हिंदुस्तान, नई दिल्ली 23 नवंबर 1994
9. पुष्पेश पंत, 1995 : मोहभंग का वर्ष (हिंदुस्तान), नई दिल्ली 30 दिसंबर 1995
10. द्रष्टव्य, बाण भट्ट की आत्मकथा, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
11. वही
12. बृहस्पति दर्शन, भूमंडलीकरण : समाजार्थिक व मानवीय संदर्भ, डॉ० के०के० मिश्र
13. भवानीप्रसाद मिश्र, गांधी-पंचशती, पृ० 337
14. रामदरश मिश्र, पक गई है धूप, पृ० 94
15. सुरेश किसलय, हलफनामा, पृ० 19 (1975)
16. भारतेंदु ग्रंथावली, भाग 2 (2010 वि०), पृ० 736
17. महावीरप्रसाद द्विवेदी, द्विवेदी काव्यमाला, पृ० 448
18. शंकर सर्वस्व, नाथूराम शर्मा : अनुरागरत्न
19. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, 175/112-13

20. भवानीप्रसाद मिश्र, गांधी-पंचशती, पृ० 18-19
21. मैथिलीशरण गुप्त, अंजलि अर्घ्य, पृ० 25
22. जयप्रकाश मिलिंद, नई किरण (1966), पृ० 49-50
23. धूमिल, संसद से सड़क तक, पृ० 101-105
24. वही, पृ० 15
25. रघुवीर सहाय, आत्महत्या के विरुद्ध 1958, पृ० 78-79
26. दैनिक जागरण 16 फरवरी 2009, (ओबामा ने पूछा-भोजपुरी-हरियाणवी जानते हो) पृ० 13
27. वीणा जुलाई 2007, म०हि०साहि० समिति० की मासिक पत्रिका।

अलका सरावगी का उपन्यास 'एक ब्रेक के बाद'

और उत्तर-आधुनिकतावाद

डॉ० शिवांगकुमार भावसार

प्रथम उपन्यास 'कलिकथा वाया बायपास' से ही अलका सरावगी एक सशक्त उपन्यासकार के रूप में स्थापित हो चुकी हैं। अलका सरावगी ने 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास के विषय का ताना-बाना समसामयिक कार्पोरेट जगत को कथावस्तु का आधार लेते हुए बना है। यह कार्पोरेट जगत की वैचारिकता (?) और धोखाधड़ी को प्रस्तुत करता है। उपन्यास में कार्पोरेट जगत की चकाचौंध के बीच देश की एक तिहाई जनता को 'कुत्ते' की तरह ज़िंदगी बिताते हुए दिखाया है, जो देश की सबसे बड़ी विडंबना है, जबकि कार्पोरेट वर्ल्ड का मानना है कि 'ट्रिकल डाउन इफेक्ट' के अनुसार अंततः इस विकास का लाभ उस जनता को ही पहुँचेगा। 'अंततः आर्थिक सुधार का फायदा गरीबों को होगा। आखिर यह विकास का रास्ता है। ज़्यादा नौकरियाँ होंगी, रुपए का दाम गिरना कम होगा, सामान सस्ता मिलेगा, सेवाओं में ज़्यादा लोगों के काम की गुंजाइश होगी। अभी जो पब्लिक सेक्टर और अमीर किसान देश का खून चूस रहे हैं, वह पैसा गरीबों के काम में लगाया जा सकेगा। उसके लिए मुफ्त स्कूल और अस्पताल खोले जा सकेंगे। पूरा देश एक दिन खुशहाल होगा...एक दिन यहाँ डाल डाल पर सोने की चिड़िया बसेरा करेगी।' ¹

मार्केटिंग में उच्च पद पर स्थित एक्जीक्यूटिव को प्रमुख चरित्रों के रूप में प्रस्तुत करते हुए सरावगी ने उपन्यास की विषयवस्तु उत्तर आधुनिक उपभोक्तावादी व्यक्ति से जोड़ी है। के०वी०, गुरुचरण उर्फ गुरु और भट्ट ऐसे ही चरित्र हैं, जो ग्लोबलाइजेशन के इस समय में ग्लोबल सपनों को बेचते हैं। यह सपने मध्यवर्गीय समाज पर हावी हो रहे हैं और देश की तीस करोड़ निम्न-मध्यवर्गीय जनता का जीवन इन सपनों को प्राप्त करने के सपनों में ही समाप्त हो जाता है। सपनों की आभासी दुनिया (वर्चुअल वर्ल्ड) का सच सामने आता है जब ग्लोबल और आंतरिक सपनों की टकराहट होती है। 'अलका सरावगी के इस उपन्यास में असली ब्रेक तब आता है जब सपनों की टकराहटों, व्यक्ति के पार्श्व में छिप गए मनुष्य की आदिम इच्छाओं के साथ पाठक का संपर्क होता है। यह वह बिंदु है जहाँ उपन्यास में ग्लोबल और आंतरिक सपनों की टकराहट होती है, गुरुचरण अजबदास यानी गुरु के साथ भट्ट जैसे सहज आदमी के साथ गहन आंतरिक संवाद होता है और यह स्पष्ट होता है कि सपनों का सच क्या है।' ² आगे चलकर उपन्यास में गुरु के ही सपने भट्ट के माध्यम से उजागर होते हैं, हिमालय के सपनों की कब्रगाह पर अब नए सपने उग आए हैं।

'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास कार्पोरेट जगत के चरित्रों को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ

प्रस्तुत करता है तथा पाठक के सामने एक नवीन तथ्य को लेकर आता है। के०वी० नामी कंपनियों में मार्केटिंग के उच्च पदों पर रह चुका है। उसने घाट-घाट का पानी पिया है। इंडियन स्काई शॉप को स्काई तक पहुँचाने वाला के०वी० ही है। अपने ऊपर किसी बॉस की तानाशाही हरगिज पसंद न करनेवाला के०वी० कई नामी कंपनियों की नौकरी छोड़ चुका है। स्काई शॉप को छोड़कर कोरडिया के पास पुनः वापस आता है, क्योंकि कोरडिया ने उसे हमेशा अपने बराबर सम्मान दिया था। बाद में चलकर वह खुद की ही कार्बन क्रेडिट की कंपनी के०वी०एस०आई० डाल देता है और वैसे भी वह मानता है कि—‘पहले कोई आदमी बरसों तक एक ही कंपनी में काम करता, तो वह वफ़ादार और भरोसेमंद समझा जाता था। अब वह ‘डल’, ‘बोरिंग’ और ‘बुद्धू’ समझा जाता है।’³ उपन्यास का दूसरा पात्र भट्ट भी किसी की गुलामी करना नहीं चाहता। दिल्ली, नेपाल आदि पूरे भारत में घूमता रहता है और हर छह महीने बाद वापस अपने घर कोलकाता लौट आता है। भट्ट की मौसी कहती है—‘यों ही भटकते-भटकते चालीसी तो आ गई तुम्हें भी। जब देखो दफ़्तर बदल लेते हो, नौकरी बदल लेते हो, शहर बदल लेते हो। अब चलो, तुम्हें तुम्हारे जैसे ही एक आदमजात (गुरु) से मिलवा देती हूँ, जो कभी एक जगह टिककर छह महीने भी नहीं रहता।’⁴ रंगनाथन का चरित्र भी कुछ ऐसा ही है। इन चरित्रों में अलका सरावगी ने तार्किकता या किसी प्रकार की एक-सूत्रता तलाशने का आधुनिकवादी वृत्तांत समाप्त प्रायः कर दिया और उसके स्थान पर ‘असंगतिपूर्ण संगति’ की उत्तर-आधुनिकतावादी स्थिति को मुखर किया है। गुरु के अनुसार असंगतिपूर्ण संगति की यह स्थिति मूलतः मानव-मन से ही संबद्ध है—‘जानते हो लद्दाख में एक लामा ने बताया था कि आदमी का दिमाग एक दिन में चौरासी करोड़ बार विचारों की उधेड़बुन करता है। इसलिए कोई खास बात नहीं है कि अभी तुम क्या सोच रहे हो?’⁵

गुरुचरण उपन्यास का सबसे सशक्त पात्र है, जिसको लेकर अन्य सभी चरित्रों के मन में जिज्ञासा बनी रहती है। गुरु कभी किसी से अपने बारे में कुछ बात नहीं करता। वह किसी से घनिष्ठ संबंध बनाकर बँधना भी नहीं चाहता, हमेशा मुक्त रहना चाहता है। ‘मन अलबत्ता कहीं लगेगा नहीं किसी का। चार घंटे में नहीं, तो चार दिन में ऊब जाएगा। पर घूमता रहेगा आदमी। यहाँ से वहाँ। शायद इस बार मन लग जाए—हमेशा के लिए। ऐसा कुछ भ्रम पालते हुए।’⁶ गुरु की यह जीवन-शैली के०वी० और भट्ट दोनों के मन में अनेक भ्रम उत्पन्न करती है, जिनके उत्तर पाने की तलाश में भट्ट पहाड़ियाँ खूँदता रहता है और के०वी० बार में बैठे पैक पर पैक पिए जाता है। जिज्ञासा, दुविधा और भ्रम के मायाजाल में फँसा व्यक्ति ज़िंदगी का मकसद ही नहीं ढूँढ पाता। ‘सुविधाओं के लिए पैसा जरूरी होता है—जैसे समझ लो कि इस पहाड़ की यात्रा करना। इस अर्थ में पैसा सुविधा भी है और आनंद भी है, पर जीवन का असली मकसद तो इसके लिए छोड़ा नहीं जा सकता। अब बस यही ढूँढना बाकी रहा कि ज़िंदगी का असली मकसद आखिर है क्या?’⁷ गुरु से जुड़ा हुआ भ्रम, गुरु का बंधनों को तोड़ना और हमेशा स्वतंत्र जीवन जीने की हिमायत करना आधुनिक विचारधाराओं और विचारात्मक युटोपिया को ध्वस्त कर देता है। कार्पोरेट वर्ल्ड की उपयोगितावादी/वस्तुवादी दृष्टि और आगे चलकर गुरु द्वारा इस दृष्टि से भी दरकिनार करके परिधि पर स्थित आदिवासी गुटों से जा मिलना और उनकी ज़मीन के लिए लड़ना आदि आधुनिक महावृत्तांतों को करारी चोट पहुँचाते हैं।

उपन्यास के उत्तरार्द्ध में गुरुचरण लापता हो जाता है। गुरु के लापता हो जाने के रहस्य पर से परदा उठ जाने की आशा तब बँधती है, जब गुरु की डायरियों का पार्सल के०वी० के घर आता है। दिन-भर गुरु की डायरियाँ पढ़कर भी के०वी० उसमें से कोई ऐसी बात नहीं ढूँढ पाता जो उसके मन की व्यग्रता को दूर कर सके, क्योंकि नाम तो गुरुचरण ने लिखा ही नहीं है। पूरी डायरी में एक भी शख्स का नाम नहीं है। शायद इसका यह मतलब हो कि व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। वह कौन है, क्या कर रहा है या क्या सह रहा है, यही जानने की बात है।⁸ व्यक्ति-विघटन की यह स्थिति फ्राइड के सिद्धांत का विलोम है। उत्तर आधुनिक समय में व्यक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ हो जाती हैं, जिसमें वह स्वतंत्र रूप से अपनी पसंद का कोई भी कार्य करने के लिए मुक्त है।

के०वी० और उनके विचार उपन्यास में उसके संपर्क में आनेवाले सभी किसी को प्रभावित करते हैं; पर गुरुचरण की डायरियों में जिस पाठ का आलेखन किया गया है उसमें के०वी० का दिमाग चकरा जाता है। तीन बार डायरियाँ पढ़ने पर भी वह इन में से इतना ही समझ पाता है कि उसमें गुरुचरण की कंपनी की वार्षिक रपट मात्र है। के०वी० जिस कार्पोरेट के नजरिए को लेकर जीवन जिया था वह इन डायरियों में कंपनी की लाभ-हानि के अलावा और कुछ नहीं देख पाती, गुरु के व्यक्तित्व को नहीं समझ पाती। के०वी० हैरान होकर उसे भुलाने की कोशिश करता है, पर संवेदनाहीन होकर एक वस्तु में परिणत हो चुके के०वी० की उलझन तब सुलझती है, जब उसकी पत्नी गुरु की डायरियों का सही पाठ उसे समझाती है। 'वह जहाँ-जहाँ लिखता है कि—'आप कहते हैं कि...', वहाँ वह 'आप' और कोई नहीं, तुम हो के०वी०। उसने वही बात लिखी है, जो तुमने अभी कही थी। यही कि वह दो कौड़ी के लोग दो कौड़ी की ज़मीन से चिपके रहेंगे, देश का विकास रोकने के लिए। तुम चाहो जो कहो के०वी०, पर वह तुम्हारा दिमाग पढ़ सकता था के०वी०। तुम जो आगे सोचोगे और कहोगे, वह पहले से जानता था।' ⁹

रोलाँ बार्थ के 'लेखक के अंत' को यहाँ इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। गुरु की डायरियों का पाठ उत्तर-आधुनिक पाठ है, जिसमें भाषा की यादृच्छिकता को नकार दिया गया है। इसका कारण यही है कि यहाँ यथार्थ है ही नहीं, यह अतियथार्थ का दौर है जहाँ संकेतों के द्वारा यथार्थ पकड़ा जाता है।

उपन्यास में कार्पोरेट वर्ल्ड के चरित्रों के माध्यम से उत्तर-आधुनिक समय में बाज़ार, विज्ञापन और वस्तु के रूप में व्यक्ति को भी उपयोगितावादी दृष्टि से देखना आदि की सफल प्रस्तुति हुई है। यहाँ हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है। उपन्यास की शुरूआत से ही अय्यर दंपती शीतयुद्ध की तरह ठंडे घर्षण की स्थिति में जी रहे हैं, किंतु इंडियन स्काईशॉप को बुलंदियों तक पहुँचाने के लिए के०वी० पत्नी का एक वस्तु के रूप में उपयोग करते हैं। रंगनाथन के अनेक हथकंडों का उपयोग कर वह अपनी कंपनी की मार्केटिंग करता है, साथ ही 'असफल जीनियस को कौन पूछता है' भी कहता है और उपन्यास के उत्तरार्द्ध में कार्बन क्रेडिट के लिए नौकर रामा का उपयोग करता है, जिसमें रामा जैसे कई किसानों को पैरों से चलानेवाला 'ट्रेडल' देकर कार्बन क्रेडिट के द्वारा मुनाफा कमा सके। 'सरकार, कंपनी और किसान सब अपना-अपना फायदा देख रहे हैं। के०वी० को किसी से क्या मतलब और किसी को के०वी० से क्या?' ¹⁰ ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में बाज़ार 'वसुधैव

कुटुम्बकम्' की संकल्पना को भी नए परिप्रेक्ष्य (कार्बन क्रेडिट) में प्रस्तुत करता है।

वर्तमान बाजारवादी व्यूह रचनाएँ किस प्रकार भारतीय जनता की जीवनशैली में परिवर्तन लाती हैं, इस बात पर अलका सरावगी ने प्रकाश डाला है। 'इस पोस्ट-ग्लोबल दुनिया में जवान दिखना, सुंदर दिखना, वजन घटाना अरबों डॉलरों का कारोबार है। लेकिन कम-से-कम इंडिया में ज्यादातर लोग यह नहीं चाहेंगे कि किसी को पता चले कि वे इस तरह के कामों के लिए पैसे खर्च कर रहे हैं।¹¹ अलका सरावगी ने विज्ञापन को श्रद्धा बरक्स खड़ा किया है। वैसे श्रद्धा को आधुनिकतावादी तर्क ने ही खारिज कर दिया था, पर इस उपन्यास में सरावगी जी ने विज्ञापन को श्रद्धा के समान ऊँचाई पर प्रतिष्ठापित कर दिया है। अर्थात् अब श्रद्धा का केंद्र ईश्वर से बदलकर व्यक्ति हो गया है। 'रविकांत के जन्मदिन पर सुबह सात बजे से लोग 'एंबर डिपार्टमेंटल स्टोर' के बाहर बीबी-बच्चों सहित लाइन लगाकर खड़े हो गए थे, जैसे तिरुपति बालाजी के दर्शन के लिए खड़े हों।'¹² कार्पोरेट इंडिया बनाम पोंगापंथी भारत में सरावगी के०वी० के माध्यम से स्पष्ट ही कहलवाती हैं कि खरीदने वाले चाहे तो खरीदें, हमें तो सिर्फ कुछ बेचने से मतलब है। कोई अंधविश्वासी हो, तो उससे हमें क्या?

'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में प्रेम के जिस रूप की आकांक्षा गुरुचरण करता है वह किसी को किसी भी प्रकार के बंधन में नहीं बाँधता। वह मानता है कि प्रेम में किसी प्रकार की ईर्ष्या नहीं होती वरन् पूर्ण समर्पण होता है। गुरुचरण प्रेम के विषय में कहता है—'मैं देखना चाहता हूँ, क्या कोई औरत मेरे लिए कृष्ण की मीरा बन सकती है? कोई राधा की तरह प्रेम कर सकती है? लोग शर्तों पर प्रेम करते हैं... लोग कुनकुना प्रेम करते हैं... प्रेम के आभास को प्रेम समझ लेते हैं।'¹³ इसीलिए गुरु जीवन-भर शादी नहीं करता 'क्योंकि मुझे कहीं असली प्रेम नहीं मिला। जो मिला, जहाँ मिला, उसमें हमेशा कोई न कोई कसर थी। मुझे समझौता नहीं करना था।'¹⁴ इसीलिए वह अलग-अलग स्त्रियों के संपर्क में रहकर सच्चे प्रेम की तलाश करता है। उपन्यास में प्रेम का स्वतंत्र और उत्तर-आधुनिक रूप तब सामने आता है, जब रुक्मिणी का पति भट्ट को कहता है। गुरु से प्रेम करने से पहले रुक्मिणी प्रेम का अर्थ नहीं जानती थी। वही एकदम अधूरी थी। मैं अपनी कालेज के दिनों में एक लड़की से बेतहाशा प्रेम करता था, पर हमारी शादी नहीं हो सकी थी। इस बात के लिए रुक्मिणी ने मुझे तब तक माफ नहीं किया था, जब तक वह खुद गुरु से प्रेम नहीं करने लगी थी। गुरु के हमारे जीवन में आने से ही मैं और रुक्मिणी एक सच्चे दोस्त बन पाए। पहले उसकी देह एकदम निष्प्राण, कड़ी और सूखी रहती। बाद में जब प्रेम का ज्वार आया ...'¹⁵ रुक्मिणी के पति के इस कथन में जहाँ अलका सरावगी ने नारी की देह-मुक्ति के रूप में नारी के अस्मितावादी विमर्श की संभावना को प्रस्तुत किया है, दूसरी तरफ प्रेम की इस प्रकार की अभिव्यक्ति जो अब तक अप्रस्तुति योग्य ही मानी जाती रही है, उसे सरावगी ने उत्तर-आधुनिक परिवेश में प्रस्तुत किया है। नारी विमर्शवादी दृष्टि से देखते हुए अलका सरावगी ने यहाँ पर प्रेम की पुरानी परिभाषा को पूरी तरह उलट दिया है।

इस प्रकार 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में अलका सरावगी ने कार्पोरेट वर्ल्ड को विषय-वस्तु का आधार बनाते हुए व्यक्ति के सपने, जिज्ञासा, भ्रम और मानव-मन की उलझनों को उत्तर-आधुनिक दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। बाजार एक तरफ सामान्य

व्यक्ति को सपने दिखाता है, जिसको पूरा करना उसके लिए कठिन है, पर फिर भी वह उसे पूरा करने की दौड़ में लग जाता है। वही दूसरी तरफ़ बाज़ारवाद व्यक्ति को केवल एक वस्तु के रूप में देखता है, जो मात्र अपना उत्पाद बेचने से मतलब रखता है। मानवीय संवेदना किस प्रकार वस्तुवादी दृष्टि में परिवर्तित हो रही है, उसका एक दस्तावेज़ बनकर यह उपन्यास पाठक के सामने आता है। हर छह महीने में नए शहर में नई नौकरी के लिए भटक रहे उपन्यास के चरित्र 'असंगतिपूर्ण संगति' की उत्तर-आधुनिक स्थिति को ही प्रस्तुत करते हैं। गुरु का रहस्यमय जीवन उपन्यास के अन्य पात्रों में जिज्ञासा और भ्रम का मायाजाल बनाता है, जिसमें विचारधाराएँ स्वाहा हो जाती हैं और महावृत्तांतों को करारी चोट मिलती है। ईर्ष्या मुक्त प्रेम में किसी तीसरे को सहज स्वीकार करते हुए प्रेम का जो रूप इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है, वह न केवल प्रेम की परंपरावादी विचारधाराओं से मुक्ति दिलाता है, बल्कि नारीवादी विमर्श को भी प्रस्तुत करते हुए नारी की पूर्ण स्वतंत्रता की घोषणा भी करता है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में आदिवासी समूहों को प्रधानता देकर परिधि पर स्थित समूह को केंद्र में लाया गया है, जो उत्तर-आधुनिकता की प्रमुख पहचान है। के०वी० की डायरियों का पाठ एक उत्तर-आधुनिक पाठ है, जो के०वी० को उलझाकर रख देता है, क्योंकि उसे अतियथार्थ संकेतों से पकड़ना पड़ता है। इस प्रकार यह उपन्यास उत्तर-आधुनिकतावाद को प्रस्तुत करता है।

संदर्भ

1. एक ब्रेक के बाद, अलका सरावगी, पृ० 52
2. हितेंद्र पटेल, <http://hittisaba.blogspot.com/2009/08/blog-post.html>
3. एक ब्रेक के बाद, अलका सरावगी, पृ० 73
4. वही, पृ० 30
5. वही, पृ० 65
6. वही, पृ० 33
7. वही, पृ० 61
8. वही, पृ० 169
9. वही, पृ० 172
10. वही, पृ० 149
11. वही, पृ० 119
12. वही, पृ० 68
13. वही, पृ० 93
14. वही, पृ० 88
15. वही, पृ० 109

□ 154/1846, सूर्या III
सोला रोड, पारसनगर
नाराणपुरा, अहमदाबाद (गुजरात) 380013

डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन' के साहित्य में

पत्र-साहित्य की भूमिका

श्रीमती निधि, शोध-छात्रा

डॉ० विदुला सिंह, निदेशिका

रीडर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग

जे०वी० जैन कालेज सहारनपुर (उ०प्र०)

कवि, आलोचक, प्राध्यापक और शोधकर्ता के रूप में विख्यात डॉ० अंबाप्रसाद 'सुमन' का आकर्षक-विलक्षण व्यक्तित्व उनकी हास्यप्रियता के साथ-साथ उनकी ज्ञान-गंगा का पुष्ट प्रमाण था। वे जब जहाँ होते, अपनी हास्य-विनोद की फुलझड़ियों से सभी को इतना आनंदित और प्रभावित कर देते कि श्रोता अनायास उनका अपना बन जाता। यह हास्य मात्र हास्य न होता, उसमें अंतर्निहित ज्ञान की विविध धाराएँ वास्तव में उनकी उपस्थिति की सार्थकता स्वयं सिद्ध करतीं। ऐसा अनूठा व्यक्तित्व न केवल व्याकरण कोश, ज्योतिष, साहित्यशास्त्र, इतिहास, भूगोल और संस्कृति का प्रभूत ज्ञाता था वरन् भौतिकी, गणित व अर्थशास्त्र का भी पर्याप्त जिज्ञासु था।

डॉ० 'सुमन' के साहित्यकार का प्रारंभ कवि-रूप में हुआ था। एक समय था जब वे कवि-सम्मेलनों में पूर्णरूपेण छाए हुए थे। परंतु शनैः-शनैः वे तार्किक एवं बौद्धिक होते गए और आलोचक के रूप में ख्याति प्राप्त करते गए। व्यवसाय से वे अध्यापक थे ही। अतः 'कविता उनकी सहज प्रतिभा की उपज और आलोचना उनके लिए अध्यापकी की देना। वे कवि थे तो ब्रजभाषा और खड़ी दोनों के एक साथ थे। ब्रजी उनकी मातृभाषा है और खड़ी उनकी व्यवहार-सिद्ध भाषा। जब वे अपने-आपमें होते थे, आत्मीय जनों के साथ होते थे आत्मीयता और अंतरंगतापूर्ण क्षणों को जी रहे होते थे, उनकी वाणी से ब्रजमाधुरी छलक पड़ती थी। जब वे विद्वत्सभाओं में होते थे, वैचारिक लेखन कर रहे होते थे तो खड़ी उनके साथ खड़ी हुई होती थी। आलोचक और शोधकर्ता के रूप में ज्ञान की कितनी शाखाओं और पांडित्य की कितनी सूक्ष्मताओं को वे सहेज-सँवार और सँभालकर चल लेते थे, यह वही जान और सराह सकते हैं, जिन्होंने उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ा है। शोधकर्ता के रूप में वे भाषाविद् थे। वे कोश के ज्ञाता नहीं थे, स्वयं एक कोश थे—एक विश्वकोश।¹

बहुमुखी व्यक्तित्व के धनी डॉ० 'सुमन' का 'जीवन ही कृतित्वमय है। आपके व्यक्तित्व की हर घटना या तो किसी कृतित्व का आधार होती है या फिर सीधे-सीधे कोई कृतित्व। चाहे परिजनों से बातचीत कर रहे हों, चाहे यात्रा में यात्रियों से गपशप लड़ा रहे हों, चाहे शिष्यों की कुशलता पूछ रहे हों, चाहे मित्रों से ठहाके लगा रहे हों, सभी जगह साहित्य,

संस्कृति, भाषा, धर्म आदि की प्रचुर सामग्री उद्भूत होती मिलेगी। तात्पर्य यह है कि उनका समग्र व्यक्तित्व माँ सरस्वती से आच्छादित है।² इतना ही नहीं, उन्होंने भाषा और व्याकरण-संबंधी न जाने कितनी सूक्ष्मताओं को देखा-समझा और परखा। वे शब्दों के ऐसे सजग पारखी थे कि उनकी प्रतिभा का लोहा मानना पड़ता है।

सुमन जी का विपुल साहित्य उनके गंभीर चिंतन-मनन और अध्ययन का साक्षी है। उन्होंने न केवल हिंदी साहित्य की विविध विधाओं की विवेचना की वरन् विविध समस्याओं का उद्घाटन करते हुए उनके समाधान भी प्रस्तुत किए। उनके सभी आलोचनात्मक ग्रंथों में उनका शब्द-मीमांसक का रूप सर्वाधिक मुखर हुआ है। वास्तव में वे शब्दों के सच्चे पारखी और भाषावैज्ञानिक थे। शब्दशास्त्र का विवेचन उन्होंने व्युत्पत्तिशास्त्र, निरुक्तशास्त्र, व्याकरण, काव्यशास्त्र और अर्थविज्ञान के संदर्भ में किया है।

‘उन्होंने अपने, भाषिकी के ग्रंथों में भाषाशास्त्र का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनकी अभिरुचि साहित्येतिहास से अधिक भाषाशास्त्र में थी। कहना न होगा कि उनका समस्त साहित्यशास्त्रीय अध्ययन अंततोगत्वा भाषाशास्त्रीय अनुशीलन में पर्यवसित हुआ है। उनकी भाषाशास्त्रीय निरूपण-पद्धति आदर्शवादी और अध्यात्मवादी है। उनके पास पर्याप्त रूप से समृद्ध आन्वीक्षिकी विद्यमान थी। तभी वे भाषिकी को प्राप्य सामग्री को नवीन अवबोध और प्रांजल वैचारिकी के साथ उपस्थित करते थे। उनमें परस्पर भिन्न अनेकानेक तत्त्वों के अवधान और विवेक के साथ उपयोग और प्रयोग की विलक्षण क्षमता थी।’³

‘भाषा और व्याकरण की बात करते हुए भी ‘सुमन’ की अभिव्यक्ति में नीरसता और शुष्कता समाई नहीं थी। वे केवल नियमों का उल्लेख करके पाठक के मन को बेचैन नहीं करते, बल्कि व्यावहारिक जगत् में शब्दों के बीच घूमते-घामते उनकी नाना अर्थच्छवियों से, उनके प्रयोगों से, कथात्मक और काव्यमय उद्धरणों से, प्राचीन ग्रंथों के आधार पर शब्दों के इतिहास, रूप और अर्थ से इस तरह परिचित कराते चलते थे कि सहज संवाद का सुख बना रहता था और बुद्धिग्राह्य बात भी हृदयग्राही बन जाती थी। सुमन भाषा-व्याकरण और साहित्य के व्याकरण का भेद जानते थे।’⁴ उनकी निम्नलिखित 13 कृतियाँ इसी का प्रमाण हैं—

1. कृषक जीवन-संबंधी ब्रजभाषा, शब्दावली (भाग 1 और 2)
2. रामचरितमानस-वाग्वैभव
3. रामचरितमानस-भाषा-रहस्य
4. संस्कृति, साहित्य और भाषा
5. भाषा : शब्द और उसकी संस्कृति
6. शब्द : ब्रह्म की ज्योति
7. हिंदी-भाषा : अतीत और वर्तमान
8. हिंदी और उसकी उपभाषाओं का स्वरूप
9. मानस-शब्दार्थ-तत्त्व
10. भाषाविज्ञान : सिद्धांत और प्रयोग
11. आचार्य किशोरीदास वाजपेयी और हिंदी भाषा-व्याकरण
12. भाषा-चिंतन

13. मैं और मेरा भाषा-चिंतन

निबंधकार और संस्मरण-लेखक के रूप में 'सुमन' जी का योगदान 'वाङ्मयी' (सन् 1949 ई०), 'आदर्श विभूतियाँ' (सन् 1949 ई०), 'अछूत और हम' (सन् 1950 ई०), तथा 'मेरे मानस के श्रद्धेय चित्र' (सन् 1088 ई०) के माध्यम से समझा जा सकता है। 'वाङ्मयी' में 21 निबंध संकलित हैं, जिनमें रहस्यवाद, छायावाद, प्रगतिवाद आदि पर विचार करते हुए 'काव्यकला और वेदना' का विश्लेषण किया गया है। साथ ही महाकाव्य, खंडकाव्य, चंपू, उपन्यास तथा कहानी का शिल्पगत विवेचन करने के पश्चात् हिंदी के प्रमुख निबंधकारों (भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर तत्कालीन निबंधकारों) का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। 'आदर्श विभूतियाँ' में महापुरुषों के आदर्श चरित्रों की गाथा प्रस्तुत करते हुए गौतम बुद्ध, ईसामसीह, महाराणा प्रताप, छत्रपति शिवाजी, हाड़ा रानी और भारत के प्रथम राष्ट्रपति बाबू राजेंद्रप्रसाद के विशिष्ट गुणों पर प्रकाश डाला गया है। 'अछूत और हम' में मुख्यतः हरिजनों पर होने वाले अत्याचारों का उल्लेख करते हुए लेखक ने इस समस्या के निदान का प्रयास किया है। 'मेरे मानस के श्रद्धेय चित्र' में कुछ ऐसे साहित्यिक व्यक्तियों के 'मानस-चित्र' हैं, जिन्होंने 'सुमन' जी को सर्वाधिक प्रभावित किया। ये हैं—पं० गोकुलचंद्र शर्मा, डॉ० नगेंद्र, पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला और आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। इन सातों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रभावी व्यक्तित्व भी इनमें अनायास आ गए हैं, जैसे—डॉ० हरवंशलाल शर्मा। आचार्य शुक्ल का रेखांकन उनकी जीवनी के माध्यम से किया गया है, क्योंकि उनसे 'सुमन' जी केवल एक बार ही मिले थे, लेकिन इतने प्रभावित हुए थे कि लिखे बिना न रह सके। शेष सभी के साथ लेखक का रागात्मक संबंध रहा। अतः 'व्यक्ति सत्य' के साथ 'समाज सत्य' और 'समाज सत्य के साथ', 'निजी सत्य' या 'आत्मसत्य' स्वतः उद्घाटित हो गया है। व्यक्ति-विशेष के स्वभाव और व्यवहार की बारीक निरख-परख करना और कोई बात जँच जाएँ, तो उसे अपना लेना, अपने जीवन-कर्म का हिस्सा बना लेना, उनका स्वभाव था। जैसे उनका जिज्ञासु मन यह जानना चाहता है कि नगेंद्र आखिर नहाते हुए दो तौलिए क्यों और किसलिए इस्तेमाल करते हैं, और फिर उनको संतोष होता है तभी, जब वे स्वयं उसी राह चलने लगते हैं।⁵

भारतीय संस्कृति के अनन्य उपासक डॉ० सुमन 'स्वाध्याय और अभ्यास के सातत्य के जीवंत प्रतीक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने गीता के इस वचन—'स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते। (17/15) के मर्म को समझने और उसे अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया था। इसी मानी में वे एक तपी थे।'⁶ उनके इस तप के प्रमाण हैं—'गीता : एक नव्य चिंतन' (सन् 1982 ई०) 'महाभारत के नारी-पात्र' (सन् 1992 ई०) और 'देह से विदेह की ओर' (सन् 1995 ई०)। 'गीता : एक नव्य चिंतन' में 'सुमन' जी का एक गहन अध्येता का रूप मुखर हुआ है। उन्होंने गीता के एक-एक शब्द की सूक्ष्म व्याख्या करते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुन के बीच हुए वार्तालाप को सरल-सरस तथा रोचक रूप में उपस्थित करके अपने 'अमृतमय चिंतन' का परिचय दिया है। 'महाभारत के नारी-पात्र' द्वारा 'सुमन' जी ने 'भारतीय नारी के चरित्र और व्यवहार का, आदत और स्वभाव का, समाज में उसके स्थान और महत्त्व का, उत्कर्ष और

अपकर्ष का यथार्थ की धरती पर खड़े होकर लोक, शास्त्र और मनोविज्ञान की गवाही में सप्रमाण अनुसंधान प्रस्तुत किया है।⁷ 'सुमन' जी नारी के भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित रूप और स्वरूप के ही पक्षधर और प्रशंसक हैं, चाहे वह रूप गृहिणी का हो, विदुषी का हो, गायिका का हो या फ़िल्मी अभिनेत्री का हो।⁸ पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के भड़कीले रंग में रंगी हुई, अपने-आपको सभ्य और उन्नत कहने वाली आधुनिक नारी उन्हें सोने से मढ़ी होने पर भी नहीं सुहाती।⁹ 'सुमन' जी के संबोधनों में सच्चे ऋषि और उपदेशक की हुंकार भी है और गर्जना भी है, ललकार भी है और अनुनय-भरी पुचकार भी है।¹⁰ प्रस्तुत रचना में एक ओर इतिहास की-सी घटनात्मकता विद्यमान है तो दूसरी ओर उपन्यास की-सी रोचकता और तीसरी ओर नाटक की-सी संप्रेषणीयता। 'देह से विदेह की ओर' एक पूर्ण आध्यात्मिक दिव्य दृष्टि को ग्रहण किए अलौकिक पुस्तक है। 'देह से तात्पर्य है-धारा और विदेह से तात्पर्य है-राधा। सामान्यतया मनुष्य जीवनधारा में ही बहता है। उस धारा का प्रवाह आत्मा, बुद्धि की ओर बुद्धि, मन की ओर, मन और इंद्रियों की ओर इंद्रियाँ सांसारिक विषय की ओर यात्रा करती हैं। इस धारा को पलट देना ही राधा प्रवाह है। राधा अर्थात् आत्मा। राधा-प्रवाह में इंद्रियाँ मन की ओर, मन बुद्धि की ओर, बुद्धि आत्मा की ओर और आत्मा परमात्मा की ओर प्रवाहित होती है। देह से विदेह की ओर का अर्थ ही धारा से राधा की ओर समझना चाहिए।'¹¹

भारतीय संस्कृति के व्याख्याता रूप में डॉ॰ 'सुमन' का एक अनूठा ग्रंथ संस्कृति साहित्य और भाषा (सन् 1979 ई॰) उपलब्ध है, जो पत्रात्मक शैली में लिखा गया है। इस ग्रंथ में उनका पत्र लेखक का रूप सहज ही प्रस्फुटित हो उठा है।

'सुमन' जी के पत्र-साहित्य की भूमिका :

सुमन जी के संपूर्ण साहित्य के मध्य उनका पत्र-साहित्य 'मुकुट-मणि' के रूप में जाना जा सकता है। उनके पत्रों में मात्र राजी-खुशी नहीं होती वरन् होता है-अपार ज्ञान, प्रबोध, किसी समस्या का निदान, भाषा-साहित्य और संस्कृति का अपूर्व भंडार। 'ये जीवन के बहुविध पक्षों से संबंधित पत्र हैं। संस्कृति, साहित्य तथा भाषा की समस्याओं पर उन्होंने अपने गुरुजनों, मित्रों, शिष्यों तथा साहित्य विचारकों को अनेक पत्र लिखे हैं। यदि इन पत्रों को पढ़ा जाए तो पाठक को सहज ही संस्कृति, धर्म, दर्शन, समाज और राष्ट्र-संदर्भ के साथ साहित्यिक वादों की भी प्रामाणिक व्याख्याएँ मिल जाएँगी। शोधार्थियों को इन पत्रों से नया आलोक मिलेगा।'¹² पत्र-लेखन की यह कला ही 'सुमन' जी को 'पं॰ बनारसीदास चतुर्वेदी के बराबर लाकर खड़ा कर देती है। यदि खाना खाते वक्त भी पत्र मिल गया, तो खाना छोड़ 'सुमन' जी पत्र लिखने लग जाते थे। छोटा या बड़ा 'सुमन' जी से उत्तर सबको मिला।'¹³

'सुमन' जी के पत्र कालजयी हैं। वर्तमान, भूत, भविष्य को अपने में समेटे ये चिरंतन साथी हैं। इन पर समय-चक्र का प्रभाव हावी नहीं। 'निरीक्षण, परीक्षण और प्रमाणीकरण उनकी तीन विशेषताएँ हैं। हिंदी में पं॰ महावीरप्रसाद द्विवेदी और पं॰ किशोरीदास बाजपेयी या महापंडित राहुल सांकृत्यायन जैसे लोग कहाँ हैं, जो बेखटके दूसरों की ग्लतियों पर अंगुली रख सकें और उन्हें सीधी राह पर ले आएँ? मगर अंबाप्रसाद 'सुमन' हिंदी के पहरेदारों में शायद अकेले हैं, जो इस नीति का निर्वाह करते आ रहे थे और दुस्साहस के साथ कर रहे थे। मगर उनका यह धर्मयुद्ध एकतरफ़ा आक्रमण नहीं था। वे स्वयं पर भी दूसरों के बाण

झेलते थे। जितना प्रत्युत्तर देय होता था, देते थे।¹⁴ प्रत्युत्तर देने में वे न केवल व्यावहारिक तर्क प्रस्तुत करते थे वरन् गीता, महाभारत, मनुस्मृति, श्री रामचरितमानस और उपनिषदों के भी अनेक प्रणाम उपस्थित करते थे। यही था उनका विशद ज्ञान, जो उन्हें ऋषि, मुनियों और तपस्वियों की श्रेणी में लाना बैठाता था।

‘सुमन’ जी के पत्रों की तीन श्रेणियाँ हैं—

1. संस्कृति से संबंधित
2. साहित्य से संबंधित
3. भाषा से संबंधित

सभी पत्र कथ्य और शिल्प की दृष्टि से प्रभावी, प्राञ्जल, सरस और प्रवाहपूर्ण हैं। ‘सबसे अधिक बढ़िया बात इन पत्रों में यह है कि डॉ० ‘सुमन’ ने अपनी युक्तियों और तर्कों को सबल एवं प्रामाणिक बनाने के लिए अपने कथन-संपुष्टि में उपयुक्त एवं अभीष्ट उदाहरण एवं उद्धरण, पूर्ण संदर्भ के साथ प्रस्तुत किए हैं। जिज्ञासु पाठक अपनी सारस्वत जिज्ञासाओं का समाधान जानने के लिए जब इन्हें पढ़ता है, तब उसे पर्याप्त संतोष मिलता है और मन भी रमता है।’¹⁵

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि डॉ० ‘सुमन’ के साहित्य एवं व्यक्तित्व की समग्र विशेषताओं का संश्लिष्ट रूप है—उनका पत्र-साहित्य।

संदर्भ

1. शब्द शिल्पी, डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’, शीर्षक ‘डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’ और उनका सारस्वत अवदान, डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित, पृ० 146-147
2. आस्था और पीड़ा, डॉ० कमल, शीर्षक मेरे प्रेरणा-स्रोत, पृ० 29-30
3. शब्दशिल्पी डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’ शीर्षक प्रसिद्ध भाषाशास्त्री पुण्यलोक ‘सुमन’ जी का सौमनस्य, डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव, पृ० 76
4. वही, शीर्षक डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’ और उनका सारस्वत अवदान, डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित, पृ० 147
5. वही, पृ० 147
6. वही, शीर्षक, वाङ्मय तप के तपस्वी, डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’, डॉ० कुमार विमल, पृ० 166
7. वही, शीर्षक, महाभारत के नारी-पात्र, डॉ० दरवेशसिंह, पृ० 135
8. महाभारत के नारी-पात्र, पृ० 27-28
9. वही, पृ० 32-33
10. शब्दशिल्पी डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’, शीर्षक महाभारत के नारी-पात्र, डॉ० दरवेश सिंह, पृ० 135
11. वही, शीर्षक, देह से विदेह की ओर, एक दिव्य अनुभूति, डॉ० अरुणा दीक्षित, पृ० 144
12. वही, शीर्षक, भाषाशास्त्र के समर्पित आचार्य : डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’, डॉ० सुभाष विद्यालंकार, पृ० 150
13. वही, शीर्षक, तस्मै श्री गुरुवे नमः, डॉ० दरवेश सिंह, पृ० 46
14. वही, शीर्षक, डॉ० अंबाप्रसाद ‘सुमन’ और उनका सारस्वत अवदान, पृ० 147
15. संस्कृति, साहित्य और भाषा, भूमिका, लेखक डॉ० नगेंद्र, पृ० 3

बिहार में हिंदी आलोचना की विकास यात्रा

डॉ० हरेराम पाठक

बिहार में हिंदी गद्य-लेखन का प्रारंभ मूलतः सदल युग (सन् 1800-1850) से माना जाता है। फोर्ट विलियम कॉलेज में भाषा मुंशी के रूप में नियुक्त होकर उन्होंने 'चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान (1803) की रचना की। सन् 1806 ई० में उन्होंने 'अध्यात्मरामायण' का खड़ीबोली में अनुवाद किया। पं० सदल मिश्र का काल हिंदी-गद्य के विकास का प्रयोगकाल था। अतः उसमें भाषा-संबंधी अनेक प्रयोग होते रहे। गद्य पर क्षेत्रीय भाषाओं का प्रभाव हावी रहा। पं० सदल मिश्र के गद्य की भाषा भावात्मक तथा विशेष लयात्मक है, अतः उसमें चिंतन की गहनता एवं समालोचना की प्रखरता नहीं आ पाई है।

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक तीन दशकों का साहित्येतिहास आंदोलन, विस्तार, प्रचार और अंतर्दृष्टि की व्यापकता की प्रतिष्ठा का काल था। इस काल में, बिहार में समालोचनात्मक गद्य के विकास में जिन समालोचकों की भूमिका रही है, उनमें अयोध्याप्रसाद खत्री, शिवनंदन सहाय, यशोदानंदन अखौरी, सकलनारायण शर्मा, चंद्रशेखरधर मिश्र तथा रामावतार वर्मा और इनके परवर्ती समालोचकों में लक्ष्मीनारायण सुधांशु, जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज', जगन्नाथप्रसाद मिश्र, बुद्धिनाथ झा 'कैरव', रामधारीसिंह 'दिनकर', शिवपूजन सहाय, रामदहिन मिश्र, रामवृक्ष 'बेनीपुरी' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी गद्य-लेखकों एवं समालोचकों के अतिरिक्त बिहार में हिंदी-समालोचकों की अबाधित शृंखला आजतक समालोचना को समृद्ध करने में अनवरत संलग्न है। आलोचना की इस व्यापक एवं समृद्धशाली परंपरा को इस आलेख में समेटने का प्रयास किया जा रहा है। अस्तु,

अयोध्याप्रसाद खत्री (1857-1905 ई०) ने 'खड़ीबोली-आंदोलन' के माध्यम से समालोचनात्मक गद्य-लेखन का आंदोलन प्रारंभ किया। हिंदी में समालोचनात्मक पत्र को प्रकाशित करने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी थी। खत्री जी ने कई समालोचना प्रकारों तथा भाषा-चिंतन से प्रेरित होकर अपने विचार प्रकट किए तथा तत्कालीन साहित्य-रूपों को उन्होंने अपनी आलोचना से प्रभावित किया। खत्री जी का समालोचनात्मक गद्य सौंदर्यपूर्ण एवं आलंकारिक है। यथा, 'अब फ़ारसी-उर्दू शब्द इसमें मिलते जाते हैं, क्योंकि अब आपके बड़े-बड़े प्रामाणिक हिंदीकाव्यों में फ़ारसी-अरबी के शब्द ग्रहण किए तो हमारे और आपके निकाले वे शब्द हमारी भाषा की नस में अंतःप्रविष्ट हो रहे हैं, क्योंकि निकल सकते हैं। बल्कि इसमें विरुद्धता दिखलाना वैसा ही है जैसा किसी वेगगामिनी नदी के प्रवाह को अकेले एक हाथ से रोक देने का यत्न करना।'¹

खत्री जी के उपर्युक्त कथन से एक ओर हिंदी-उर्दू विवाद की पुष्टि होती है, तो

दूसरी ओर यह प्रमाणित होता है कि हिंदी में आनेवाले अरबी-फ़ारसी के शब्दों को रोक पाना उस समय भी एक जटिल कार्य था।

खत्री जी के समीक्षात्मक गद्य की शब्दावली तथा वाक्य-रचना की शैली मुख्यतः पत्रकारिता एवं वक्तृत्व शैलियों का संश्लिष्ट रूप है, जो अब तक स्थिर एवं आदर्श रूप को प्राप्त नहीं कर सकी थी और जिन्हें बीजवत् विकास के लिए उन्होंने अपने सामयिक एवं परवर्ती समालोचकों पर छोड़ दिया।²

बिहार के समालोचनात्मक गद्य के विकास में शिवनंदन सहाय (1860-1932) का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। 'बाबू शिवनंदन सहाय ने प्रामाणिक रीति से बड़ी-बड़ी जीवनियाँ लिखकर हिंदी में सबसे पहले जीवनी-साहित्य-निर्माण की मनोवैज्ञानिक शैली प्रचलित की।'³ सहाय जी की विवेचन शैली काव्य-गंधी है, पद-लालित्य एवं भावात्मकता से युक्त उनकी गद्य-शैली देखने योग्य है—

'पहले से तो केवल 'खड्ग विलास यंत्रालय' दीन हिंदी पर दया दिखाकर, दिन-दिन सुंदर पुस्तकों के द्वारा लोगों का हित-साधन करता आता है। परंतु अब पथार आरा निवासी पं० रामदहिन मिश्र भी दाहिने होकर स्वयं तथा अपने इष्ट मित्रों की सहायता से पाठ-पुस्तकों का हार बनाकर पाठकों को उपहार दे रहे हैं।'⁴

शिवनंदन सहाय जी की समीक्षात्मक गद्य-शैली तार्किक है एवं उससे तत्कालीन साहित्यिक एवं भाषागत विवादों के ऐतिहासिक विवरण प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरणार्थ— '.. कोई बिहारियों के लेखों में दोष ही दिखाने में उद्यत होते हैं। दोष प्रायः यही दिखाए जाते हैं कि बिहारी लेखक 'ने' विभक्ति चिह्न तथा लिंग के प्रयोग में भूलें करते हैं। ऐसी भूले संभव हैं। इसका कारण भी है। बिहार की उपभाषाओं में, जिनका घर में व्यवहार होता है, 'ने' विभक्ति नहीं है एवं कारकों तथा विशेष्य-विशेषण में लिंग का झमेला नहीं है और लिंग के प्रयोग में तो हम अन्य प्रांत के लोगों को भी भूलते देखते हैं।'⁵ इस प्रकार शिवनंदन सहाय ने यहाँ यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि खड़ीबोली हिंदी पर स्थानीय प्रभाव हर जगह देखने को मिलता है। अतः किसी प्रांत-विशेष के व्यक्तियों को भाषा-प्रयोग के नाम पर नाम ले-लेकर कोसना युक्तिसंगत नहीं है।

अखौरी यशोदानंदन जी (1869 ई०) दार्शनिक एवं धार्मिक लेख तथा गंभीर साहित्यिक निबंध लिखने में काफ़ी दक्ष रहे हैं। 'इत्यादि की आत्म कहानी' उनकी बहुप्रसिद्ध निबंधात्मक रचना है, जिसमें व्याकरण के विभिन्न उपकरणों को आत्मकथात्मक शैली में प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ—'सच पूछिए तो शब्द-समाज में यदि मैं, 'इत्यादि' न रहता, तो लेखकों और वक्ताओं की न जाने क्या दुर्दशा होती। ... अपने जन्म का सन्-संवत्-मिति-दिन मुझे कुछ भी याद नहीं। याद है इतना ही कि जिस समय 'शब्द का महाअकाल' पड़ा था, उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता 'इति' और पिता 'आदि' हैं। मेरी माता अविकृत 'अव्यय' घराने की है। मेरे लिए यह थोड़े गौरव की बात नहीं है; क्योंकि भगवान फणींद्र की कृपा से 'अव्यय' वंश वाले, प्रतापी महाराज 'प्रत्यय' के कभी अधीन नहीं हुए। वे सदा स्वाधीन से विचरते आए हैं।'⁶

रोचकता, लालित्य एवं संप्रेषणीयता से संपन्न प्रभाववादी समीक्षा के सिद्धहस्त

हस्ताक्षर अखौरी जी तत्कालीन समीक्षा के मानक साबित होने लगे थे। परंतु अनुसंधानात्मक समीक्षा के क्षेत्र में भी अखौरी जी का योगदान कम नहीं रहा है। हिंदी के आदि गद्यलेखक के संबंध में सभी मतवादों का खंडन करते हुए अखौरी जी अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं— 'जो कुछ भी हो, किंतु यह कहना और मान लेना कि बिहार के आरा निवासी श्री सदल मिश्र जी ही हिंदी-गद्य के आदि-लेखक हैं, किसी प्रकार विवादास्पद और आपत्तिजनक नहीं है। न्याय के काँटे पर तौलने पर तो यही ठीक जँचता है। आगे पक्षपात करनेवालों और बोलनेवालों की मनमानिता।' ⁷

समालोचना के विकास में पं० चंद्रशेखरधर मिश्र (सन् 1850-1949 ई०) का सहयोग ऐतिहासिक महत्त्व का है। उन्होंने हिंदी के प्रचार-प्रसार-हेतु लगभग ढाई सौ संस्थाएँ स्थापित की थीं। हिंदी-समालोचना की यथास्थिति से लोगों को अवगत कराते हुए उन्होंने लिखा— 'सालभर में सभा ने पाँच लेख लिखे, सो भी कोई चार पेज, कोई पाँच पेज, कोई चार ही लाइन का—इसी भरोसे पर सभा समालोचक-समाज खोलेगी? नागरी हितैषिणी पत्रिका निकालेगी? सभा अपने को पहले ऐसा कर ले कि उसकी बातों को संसार माने, तब फिर जगत को राह दिखावे।' ⁸ मिश्र जी की उपर्युक्त उक्ति से यह ज्ञात होता है कि उनके समय तक आलोचना का कोई स्थिर मानक स्थापित नहीं हो पाया था।

भाषा के प्रमाणीकरण एवं संस्कृत तथा लोकप्रचलित मुहावरों के प्रयोग को आवश्यक बतलाने वाले महामहोपाध्याय सकलनारायण शर्मा (1871) का हिंदी-आलोचना के क्षेत्र में काफ़ी महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'हिंदी-सिद्धांत-प्रकाश' तथा 'शिक्षा' की टिप्पणियों में उन्होंने भाषा-शुद्धता पर पूर्ण विचार किया है। उनका विचार था कि जहाँ संस्कृत शब्दों से काम चलता हो, वहाँ प्रांतीय शब्दों का व्यवहार नहीं किया जाना चाहिए। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं— 'शैली के विषय में एक बात बहुत विवादास्पद है कि हिंदी में भोजपुरी, मगही अथवा मैथिली के शब्दों का प्रयोग उचित है कि नहीं। जैसे 'हम बिहने आए हैं। इसमें 'बिहने' शब्द विचारणीय है। यहाँ 'बिहने' के स्थान पर 'भोर' बोलना उचित है, किंतु जो प्रांतीय शब्द किसी वस्तु, स्थान अथवा प्रथा का बोधक हो, उसका प्रयोग अनिवार्य है; जैसे 'इमली घोटाना।' बिहार में कई स्थानों में लड़के के विवाह में माता बारात जाने के पूर्व रोती है, उसका भाई उसे पानी पिलाकर चुप कराता है तथा उसे रुपए-पैसे देता है। इस प्रथा का नाम 'इमली घोटाना' है।' ⁹

इस प्रकार भाषा के प्रतिमानीकरण पर शर्मा जी का विशेष ध्यान रहा।

बिहार में हिंदी की समालोचनात्मक गद्यशैली के विकास में पं० रामावतार शर्मा (सन् 1877-1929 ई०) का विशेष महत्त्व है। चिंतन की नूतन भंगिमा, अर्थ की स्पष्टता, व्यर्थ शब्दों का अभाव एवं व्याकरण के नियमों का सुसंगत प्रयोग उनके समालोचनात्मक गद्य की मुख्य विशेषता है। भारतीय दर्शन एवं अध्यात्म के परिप्रेक्ष्य में उनका तर्कपूर्ण वैदिक एवं आध्यात्मिक चिंतन द्रष्टव्य है— 'आधिदैविक मूल पर अनंत आकाश को शरत्कालिक स्वच्छ रूप में विष्णु कहते हैं। सूर्य, चंद्रमा इनकी आँखें हैं। चार महीने आँखें मूँदने के बाद यह देव कार्तिक में उठते हैं। लक्ष्मी, श्री या शोभा इनकी स्त्री हैं। वेदों में भी 'द्यौः पिता' लिखा है। इसी बुनियाद पर पश्चिम के लोगों में द्युतिपर या 'ज्युपिटर' की कल्पना हुई है। वेद टटोलने

पर इस मूल का पता यूरोपियन लोगों को मिला।¹⁰

ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि पं० रामावतार शर्मा के निबंधों में आधुनिक ललित निबंध के बीज-गुण सुरक्षित हैं। शर्मा जी शब्द-सर्जक हैं। उन्होंने अनेक अँग्रेजी शब्दों के समानांतर हिंदी शब्द गढ़े हैं। जैसे—‘आक्सफोर्ड’ (उक्षप्रतर), ‘कैम्ब्रिज’ (कामसेतु), ‘एलेक्जेंडर’ (अलीकचंद्र), ‘न्यूटन’ (नवतन) आदि।

बिहार में हिंदी-आलोचना का मौलिक एवं साहित्यशास्त्रीय स्वरूप डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु, आचार्य शिवपूजन सहाय, पं० रामदहिन मिश्र, श्री रामधारीसिंह ‘दिनकर’, पं० जनार्दनप्रसाद झा ‘द्विज’, पं० जगन्नाथ मिश्र एवं पं० जगन्नाथ झा ‘कैरव’ आदि समालोचकों ने समृद्ध किया। इन महानुभावों में काव्य की सच्ची परख थी। आलोचना के लोचनों को इन लोगों ने नई परख एवं नई दृष्टि दी।

डॉ० लक्ष्मीनारायण सुधांशु आदर्शवादी आलोचक थे। आदर्श के विषय में उन्होंने लिखा है—‘आदर्श अति प्राकृत या अप्राकृत नहीं है। वह पूर्णतः प्राकृतिक है। उसका मूल मनुष्य की वास्तविक प्रकृति है। किसी अतींद्रिय क्षेत्र से उसका कोई संबंध नहीं रहता। इच्छा की चेतना का दिशा-निर्देश या लक्ष्य ही आदर्श है।’¹¹

आलोचक के दायित्व पर प्रकाश डालते हुए सुधांशु जी लिखते हैं—‘प्रत्येक व्यक्ति आलोचक है। अपनी धारणा या विचार को कौन किस रूप में अभिव्यक्त कर सकता है, उसी से आलोचक की क्षमता प्रकट होती है। धारणा बनाने का काम भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। सामान्य मनुष्य या साहित्यकार की अपेक्षा आलोचक का काम विशेष दायित्वपूर्ण है, क्योंकि उसे अपनी धारणा का धारणीकरण करना पड़ता है।’¹²

‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’ तथा ‘जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत’ सुधांशु जी की दो कालजयी आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। ‘जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धांत’ की रचना श्रुति-लेखन प्रणाली द्वारा हुई है।

शास्त्रीय समालोचना से भिन्न इस युग में समसामयिक, अखबारी अथवा पत्र-समीक्षा जैसी आलोचना भी अपने उत्कर्ष पर थी, जिसके प्रथम आचार्य शिवपूजन सहाय थे। सहाय जी ने पुस्तक-आलोचना के दायित्व को पूर्ण सजगता के साथ स्वीकार किया तथा इस कला में उन्हें पूरी निपुणता हासिल हुई। संपादकीय टिप्पणियों तथा पुस्तक-समीक्षाओं में उन्होंने प्रायः विवरणात्मक आलोचनाएँ की हैं, जिसमें उनकी शैली सरल, बोधगम्य तथा विशेषण-बहुल है। ‘तुलसी प्रयुक्त क्रियाएँ’ शीर्षक निबंध का अंश यहाँ देखने-योग्य है—‘तुलसीरचित साहित्य में क्रियाओं के जैसे सुंदर प्रयोग मिलते हैं, वैसे अभी शिष्ट हिंदी में विशेष प्रचलित नहीं हुए हैं। उन प्रयोगों को आधुनिक गद्य में खपाने की चेष्टा भी अधिकारी विद्वान नहीं करते।’¹³ सहाय जी की इन पंक्तियों से खड़ीबोली के व्याकरण के प्रति उनकी चिंता बड़े महत्त्व की है।

रामधारीसिंह ‘दिनकर’ मूलतः कवि हैं, फिर भी उनकी ऐतिहासिक समीक्षा-दृष्टि बहुत ही प्रभावशाली एवं तार्किक है। ‘संस्कृति के चार अध्याय’ नामक ग्रंथ में ‘दिनकर’ जी ने बहुत सी ऐसी सामाजिक, साहित्यिक एवं ऐतिहासिक स्थापनाओं का खंडन किया है, जो प्राचीनकाल से हमारी सोच का मानक बनी हुई थीं। उदाहरणार्थ, बीसवीं सदी में आकर भारत का जो विभाजन हुआ, उसका मूल कारण हम अँग्रेजों की कूटनीति एवं दुर्नीति मानते हैं; परंतु

‘दिनकर’ जी देश-विभाजन का बीज मुगल-काल में ही शेख अहमद सरहिंदी के इस्लाम-धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उसकी कट्टर नीतियों में देखते हैं। भारत की सांप्रदायिक समस्या को समझने में इससे काफी सहायता मिल सकती है। दूसरी ओर इस ग्रंथ के अध्ययन से भाषा, इतिहास, संस्कृति एवं धार्मिक मान्यताओं-संबंधी बहुत-सी अटकलें एवं समस्याएँ सुलझ जाती हैं।

जनार्दनप्रसाद झा ‘द्विज’ (1904-1964) हिंदी के एक सुपरिचित कवि, कथाकार ही नहीं, बल्कि एक प्रखर समालोचक भी थे। सन् 1933 ई० में पहली बार ‘प्रेमचंद की उपन्यास कला’ पर पुस्तक छपी थी, जिसके लेखक ‘द्विज’ जी थे। उनकी आलोचना-शैली मूलतः तुलनात्मक है। ‘द्विज’ जी एक जगह लिखते हैं— ‘रूसी भाषा के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार मैक्सिम गोर्की अपनी रचनाओं में अपने देश की स्थिति का चित्रण उसी तरह करते हैं, जिस तरह प्रेमचंद जी। गोर्की वर्तमान रूस की सामाजिक और राजनीतिक क्रांति के सबसे बड़े विश्लेषक हैं और प्रेमचंद जी आधुनिक भारत की सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के।’¹⁴ जनार्दनप्रसाद झा ‘द्विज’ की उपन्यास की समझ अपने समय के अन्य आलोचकों से अधिक विकसित है। वे उपन्यास और इतिहास के गहरे संबंधों को पहचानते हैं। इसीलिए उन्होंने प्रेमचंद के उपन्यासों के स्थायित्व की ओर संकेत करते हुए लिखा है—‘इनका साहित्य आगे चलकर हमारे युग के इतिहास का भी काम करेगा। हमारी सामाजिक एवं राष्ट्रीय अवस्थाओं के स्वरूप-परिवर्तन की जो चेष्टाएँ की जा रही हैं, उनसे हमारे जातीय इतिहास का स्वरूप भी बदल जाएगा और आनेवाली पीढ़ी के लोग इन्हीं प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कर्मभूमि आदि उपन्यासों के द्वारा हमारे युग की मूल प्रवृत्तियों का सच्चा परिचय प्राप्त करेंगे, यह संभावना भी इनकी कला के स्थायित्व का एक आधार है।’¹⁵

विख्यात छायावादोत्तर कवि एवं समालोचक हंसकुमार तिवारी की आलोचनात्मक पुस्तक ‘कला’ सन् 1936 ई० में भागलपुर की एक प्रकाशन संस्था से पहली बार प्रकाशित होकर आई। तिवारी जी ने सात शीर्षकों में विभाजित करके साहित्य के विभिन्न पहलुओं का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। ये विभाजन हैं—1. कला चर्चा, 2. कला की परिभाषा, 3. कला का वर्गीकरण, 4. कला का प्रयोजन 5. सौंदर्य, 6. कला का सौंदर्य, 7. कला की सार्वजनीनता। तिवारी जी ने सत्यं, शिवम्, सुंदरम् के भारतीय दृष्टिकोण को ही अपनी आलोचना का मानदंड बनाया है। उनका मत है कि सत्य दर्शन का विषय है, शिव धर्म का अनुसंधान है और कला का मूल स्रोत सुंदर का शोध है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि मात्र 18 वर्ष की अवस्था में तिवारी जी ने इस पुस्तक का प्रणयन किया था और आज भी यह पुस्तक अपनी तरह की अकेली एवं अपनी गुणवत्ता में अक्षुण्ण है।

बिहार में हिंदी-समालोचना को उच्चासन पर प्रतिष्ठित करनेवालों में पं० नलिनविलोचन शर्मा का नाम भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। पं० नलिनविलोचन शर्मा ‘उस सूत्र शैली एवं व्यंजक गद्य के प्रणेता थे, जिसमें प्रत्येक शब्द का एक ही अर्थ होता है, वे आलोचना में मतगणना-प्रणाली के प्रयोगकर्ता और ‘प्रामाणिक समीक्षा-पद्धति’ के प्रकल्पक थे, वे तात्विक शोध के प्रस्तावक, साहित्य को अध्ययन का विषय नहीं, बल्कि पदार्थ मानते हुए सामग्री का निर्मम-एकाग्र अध्ययन करके इतिहास के लिए साक्ष्य और अंतर्दर्शन प्रस्तुत

करनेवाले नव्य विवरणशास्त्र एवं नव्यालोचन के विधायक तथा साहित्येतिहास-दर्शन के जनक थे।¹⁶ नलिन जी ने आलोचना को 'कला का शोषांश' कहा है। उनकी सूत्रात्मक शैली आज भी आलोचना के क्षेत्र में ब्रह्मवाक्य बनी हुई है। 'गोदान' की गद्यशैली की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए नलिन जी लिखते हैं— 'गोदान में प्रेमचंद की शैली उर्दू गद्य की आलंकारिकता के निर्मोह से सर्वथा मुक्त हो गई है। 'गोदान' की महत्ता का स्थापत्य-कौशल के अतिरिक्त मुख्य कारण है शैली; वह शैली, जिसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता। यहाँ तक कि विद्वानों ने उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा है।'¹⁷ नलिन जी की आलोचना नए शब्द गढ़ती है, उसे प्रयोग में लाती है।

प्रो० केसरीकुमार प्रयोजनमूलक 'पस्पशा' पुनर्स्थापक, साहित्य, साधारणीकरण और समाजवाद की राजनीतिक बाह्य-चेतना के अभिनव व्याख्याकार माने जाते हैं। उनकी साहित्यिक समालोचना हमें एक नई दृष्टि देती है। केसरी जी शैली-वैचित्र्य के आचार्य हैं। कबीर के संबंध में वे कहते हैं—'जनमानस में कबीर एक कवि-व्यक्ति नहीं है, वह एक पद्धति है, जीवन-पद्धति, एक रचना-पद्धति।'¹⁸ शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति के विषय में अपना तर्क देते हुए वे लिखते हैं—'खंडों और स्थापनाओं में प्रायः चमत्कृत कर देनेवाली तथा अपने समय और बाद तक भी सर्वोच्च शुक्लीय समीक्षा-पद्धति यदि अवतारणा-काल में ही अपर्याप्त हो गई, तो इसलिए नहीं, जैसा मान लिया जाता रहा है, कि वह रसवादी या लोकमंगलवादी थी, बल्कि कहे गए कारणों से और इसलिए कि उनकी विधेयवादिता ऐतिहासिकता सातत्य यानी प्रत्येक युग की स्थिति और जाति के तनाव को पकड़ न सकी, स्पष्टतः उस विद्रोह को, जिसके अध्ययन के बिना हिंदी-साहित्य की आलोचना का कोई सही मध्यमान शायद नहीं बन सकता।'¹⁹

संप्रेषणीयता पर, जो साहित्य की लोकप्रियता एवं पठनीयता का आवश्यक अंग है, टिप्पणी करते हुए केसरी जी महत्त्वपूर्ण तर्क देते हैं—'संप्रेषण रचना की, अभिव्यक्ति की, एक बुनियादी समस्या है। संप्रेषण रचना की जीवन-पद्धति का वह साहस है, जो भय के बावजूद काम करता है।'²⁰ सूरदास के पदों पर आलोचनात्मक टिप्पणी करते समय केसरी जी भारतीय संस्कृति में सराबोर पौराणिक अंतर्कथाओं, मनोवैज्ञानिक भाव-भंगिमाओं, अंतर्दशाओं एवं लोकविश्वासों तथा रीति-रिवाजों का पूरा ध्यान रखते हैं। राधा-माधव के मिलन का एक दृश्य अवलोकनीय है और साथ ही केसरी जी की अद्भुत शैली भी—'यहाँ राधा से कृष्ण की भेंट होती है, जब वे मेले से लौटते हैं—'सूरदास प्रभु तहँ पग धारे जहँ दोऊ ठकुरानी।' यह राधा-माधव भेंट दो देहों की नहीं (देह का तो स्पर्श तक नहीं हुआ), दो प्राणों की, बल्कि प्रेम और शील की भेंट है। यह मिलन अपनी गहराइयों में विश्व साहित्य का एक अद्वितीय बिंदु है, एक इष्ट्य मानदंड। राधा माधव-रस से भीग रही है, माधव राधा-भाव से।'²¹

बिहार में हिंदी-आलोचना के अद्यतन विमर्शकारों में कुमार विमल, गोपालराय, नंदकिशोर नवल, सुरेंद्र चौधरी, खगेंद्र ठाकुर, मैनेजर पांडेय, निशांतकेतु, रामवचन राय, मारुतिनंदन पाठक, रामनिरंजन परिमलेंदु, ज्योतिष जोशी, जितेंद्र वत्स, श्रीरंजन सूरिदेव, अरुणकमल, श्री भगवानसिंह, कर्मेंदु शिशिर, रेवतीरमण, राजेंद्रप्रसाद सिंह आदि प्रमुख हैं।

कुमार विमल ने साहित्य के सौंदर्यशास्त्र पर सारगर्भित एवं शोधपूर्ण कार्य किया है।

सौंदर्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप में डॉ० कुमार विमल साहित्य-जगत में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। 'भारत के स्वतंत्रता-आंदोलन में साहित्य की भूमिका' विवेचनात्मक निबंध में डॉ० कुमार विमल लिखते हैं—'क्रांति, विद्रोह और युद्ध के समय साहित्य अपनी विविध विधाओं के माध्यम से, बहुत ही सार्थक और महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है; क्योंकि स्वभाव से व्यवस्था-विरोधी होने के कारण जन-मानस को उद्वेलित कर पाता है, तरुणों को बलिदान के लिए प्रेरित करता है और वेगवान प्रभंजन को 'परिवर्तन' लाने के लिए आमंत्रित करता है। इसलिए स्वतंत्रता-आंदोलन के दौर में भारतीय साहित्य ने उल्लेखनीय भूमिका अदा की।' ²² हिंदी की राष्ट्रीय कविताओं में जहाँ हर्ष और उल्लास की अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर विषाद-पक्ष भी सामने आया है। डॉ० कुमार विमल ने उसके विषाद-पक्ष पर भी गहराई से विचार किया है। डॉ० कुमार विमल के आलेख आलोचनात्मक हैं। बड़े ही स्पष्ट एवं सरल शैली में वे विभिन्न उदाहरणों के द्वारा अपनी बातों को प्रतिष्ठापित करते चलते हैं।

गोपालराय ने उपन्यास-शिल्प के परीक्षण में अपनी आधुनिकता का परिचय दिया है। गोपालराय मूलतः उपन्यास एवं कहानी के समीक्षक हैं। इन दोनों गद्य-विधाओं की तलस्पर्शी समीक्षा में गोपालराय जी सिद्धहस्त हैं। 'हिंदी कहानी : पहचान और पारिभाषिक पदों की समस्या' नामक आलोचनात्मक आलेख में गोपालराय ने कहानी की व्यापकता और उसकी प्रभावान्विति को केंद्रित करते हुए कहानी के स्वरूप पर विशद् रूप से चर्चा की है। हिंदी-कहानी की व्यापक रूप से पड़ताल करते हुए उसमें होने वाले परिवर्तनों एवं भविष्य में उसकी स्थिति-परिस्थिति का आकलन करते हुए गोपालराय लिखते हैं—'हिंदी का कहानीकार भी इस दिशा में सक्रिय है, पर विश्व-स्तर पर पहुँचने की जल्दबाजी और उतावली ने अनेक कहानीकारों को हास्यास्पद भी बना दिया है। ... इक्कीसवीं शताब्दी की हिंदी-कहानी की संरचना कैसी होगी, यह हिंदी-क्षेत्र के जीवन में आने वाले बौद्धिक-सांस्कृतिक बदलाव पर निर्भर है।' ²³

नंदकिशोर नवल मूलतः एक प्रतिबद्ध समालोचक हैं। वे प्रगतिशील आलोचक के रूप में अपनी ख्याति अर्जित कर चुके हैं। डॉ० रामविलास शर्मा की साहित्यिक अवधारणाओं की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—'कला और साहित्य की आलोचना का आधार सौंदर्यशास्त्र होता है। यह सौंदर्यशास्त्र एक नहीं, बल्कि दो हैं। एक सौंदर्यशास्त्र है भाववादी और दूसरा सौंदर्यशास्त्र है—भौतिकवादी। भाववादी सौंदर्यशास्त्र के अनुसार सौंदर्य का स्रोत है आत्मा, जबकि भौतिकवादी सौंदर्यशास्त्र वर्ग-समाज की देन है।' ²⁴ प्रतिबद्ध मार्क्सवादी समीक्षा की कुछ सीमाएँ भी हैं; नंदकिशोर नवल भी उन सीमाओं से परे नहीं हैं। उदाहरणस्वरूप वे यह मानते हैं कि शुक्ल जी की आलोचना अथवा 'उनके दृष्टिकोण का आधार मध्यवर्गीय था इसीलिए उनकी आलोचना में यदाकदा असंगतियाँ देखने को मिलती हैं। ... डॉ० शर्मा ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण की सहायता से हिंदी-आलोचना को ऐसी तमाम असंगतियों से मुक्त किया।' ²⁵ नवल जी के कहने का तात्पर्य यह है कि केवल मार्क्सवादी समीक्षक ही आलोचना की असंगतियों को दूर कर सकते हैं तथा दृष्टिकोण का मध्यवर्गीय आधार असंगतियों से पूर्ण होता है।

सुरेंद्र चौधरी हिंदी के उन आलोचकों में से हैं, जिन्होंने कम लिखकर भी अधिक ख्याति अर्जित की है। हिंदी कहानी-आलोचना की उनकी एकमात्र कृति 'हिंदी-कहानी :

प्रक्रिया एवं पाठ' उस समय छपकर आई थी, जब साहित्य-जगत में नई कहानी का दौर चल रहा था। सन् 1963 में पॉकेट बुक के आकार में पटना से छपकर यह पुस्तक आई थी। कहानी की रचना-प्रक्रिया-संबंधी सुरेंद्र जी की यह स्थापना ध्यान देने योग्य है, जिसमें उन्होंने कहानी की रचना-प्रक्रिया को जीवन के व्यवहारों से जुड़े होने की घोषणा की है। यथा-‘चूँकि कहानी की रचना-प्रक्रिया जीवन के व्यवहारों से ही संबद्ध है, इसलिए उसकी विधाओं के संबंध में आत्यंतिक रूप से और झटके से कुछ कहना उचित नहीं है। आवश्यकता यहाँ इस बात की है कि कहानी की रचना-प्रक्रिया समझाने की चेष्टा में हम अधिक-से-अधिक व्यवस्थित रूप में जीवन के व्यवहारों के आंतरिक और क्रियात्मक ढाँचे का परिज्ञान करें। रचनात्मक मानस इन समस्त जीवन-व्यवहारों को एक ही रूप में ग्रहण नहीं करता, वह कुछ को स्वीकार करता है और कुछ को अस्वीकार। ये दोनों ही प्रक्रिया रचयिता के अवधान और सामान्य जीवन परिस्थितियों से उसके संबंध का परिणाम है।’²⁶ इस प्रकार कहानी की रचना-प्रक्रिया पर सुरेंद्र जी के विचार काफ़ी ठोस एवं जीवनानुभवों के सन्निकट हैं।

बिहार के हिंदी-आलोचकों में खगेंद्र ठाकुर ने अपनी विशेष पहचान बनाई है। खगेंद्र जी मार्क्सवादी समीक्षक हैं, अतः उनकी आलोचना में मार्क्सवादी प्रतिबद्धता होगी ही। 1937 में जन्मे खगेंद्र ठाकुर की आलोचनात्मक कृतियाँ हैं-‘आलोचना के बहाने’, ‘कविता का वर्तमान’ आदि। ‘हिंदी-आलोचना में वैचारिक संघर्ष’ नामक आलोचनात्मक आलेख में खगेंद्र जी आलोचना के कर्म एवं उसकी व्यापकता को रेखांकित करते हुए लिखते हैं-‘साहित्य की रचनात्मक आलोचना को केवल रचनाओं की समीक्षा या व्याख्या या मूल्यांकन के रूप में देखना आलोचना के व्यापक ऐतिहासिक महत्त्व को कम करना है। हम किसी रचना की आलोचना करने को प्रवृत्त होते हुए असल में अपनी सामाजिक-वैचारिक और एक हद तक राजनीतिक भूमिका भी तय करते हैं और कुल मिलाकर अपना सामाजिक दायित्व निभाते हैं। ... इस दृष्टि से आलोचना का रचनात्मक साहित्य से अनिवार्य संबंध होते हुए भी, उसे साहित्य का अनुगामी समझना ग़लत होगा।’²⁷ खगेंद्र ठाकुर की आलोचना में स्पष्टवादिता, सोच की मौलिकता एवं चिंतन की गहराई है। वे आलोचना के क्षेत्र में निरंतर सक्रिय हैं।

प्रख्यात हिंदी-आलोचक मैनेजर पांडेय का जन्म 1941 ई० में हुआ। आलोचनात्मक निबंधों की इनकी आठ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। हिंदी भक्तिकाव्य पर उनकी आलोचनात्मक देन विशेष प्रकार की रही है। ‘कृष्णकथा की परंपरा और सूरदास का काव्य’, ‘भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य’ उनकी महत्त्वपूर्ण आलोचनात्मक कृतियाँ हैं। समकालीन आलोचना की जड़ता पर व्यंग्य करते हुए मैनेजर पांडेय लिखते हैं-‘समकालीनता की मारी आज की हिंदी-आलोचना ने कबीर को अध्यात्म-प्रेमी विदेशियों तथा उनके देशी सहयोगियों को सौंप दिया है और तुलसीदास को ‘जय श्रीराम’ का नारा लगाने वाले शाखामृगों की मरजी पर छोड़ दिया है। लगता है कि जायसी, सूरदास और मीराबाई की कविता ऐसे उपयोगों-दुरुपयोगों की छूट नहीं देती, इसीलिए वे अभी बचे हुए हैं।’²⁸

मीरा में भक्ति की जड़ों को खोदते हुए मैनेजर पांडेय लिखते हैं-‘मीरा का विद्रोह एक विकल्पविहीन व्यवस्था में अपनी स्वतंत्रता के लिए विकल्प की खोज का संघर्ष है। उनको विकल्प की खोज के संकल्प की शक्ति भक्ति से मिली है। यह भक्ति-आंदोलन का

क्रांतिकारी महत्त्व है।’²⁹ मैनेजर पांडेय द्वारा भक्तिकाल की संवेदनात्मक गहराई को मापने का कार्य स्तुत्य है।

आचार्य निशांतकेतु गंभीर पांडित्य के प्रखर समालोचक हैं। वे समीक्षा के भारतीय मानदंडों में पूर्ण आस्था रखते हुए उसे बार-बार खंगालते एवं अपने तरीके से उसकी चिंतनपूर्ण व्याख्या करते हैं। भाषा पर आचार्य जी का ज़बरदस्त अधिकार है। सुलभ-साहित्य अकादमी की पत्रिका ‘चक्रवाक’ का हरेक अंक उनकी विद्वत्तापूर्ण संपादकीय से आप्लावित रहता है। ‘आधुनिकता बनाम मॉडर्निटी’ शीर्षक से लिखे संपादकीय में आचार्य जी लिखते हैं—‘गाँव की लड़की को जींस पैट-शर्ट पहनाकर क्लब ले जाने से वह मॉडर्न नहीं बन जाती। गैरिक वस्त्र धारण कर और संन्यासी होकर भी विवेकानंद मॉडर्न थे। चिन्मयानंद में आधुनिकता एक दृष्टिकोण और आचरण-चर्या दोनों है। इसके बाद ही पोशाक, खान-पान, भाषा-शैली इत्यादि का स्थान आता है।’—आधुनिकता के नाम पर समाज में जो विकृतियाँ आई उस पर चर्चा करते हुए वे आगे लिखते हैं—‘सेक्स की खुली चर्चा। शाम को शराब का दौर। शराब के साथ जितना कम पानी, उतना अधिक आधुनिक। नीट तो अत्याधुनिक। हर दृष्टि, विचार-लेखन और बातचीत में रूस, चीन और साम्यवाद की चर्चा साँसों की तरह अनिवार्य आधुनिकता की तथाकथित कसौटी बन गई।’³⁰

सन् 1943 ई० में सिवान (बिहार) के गोरेयाकोठी में जन्मे रामवचन राय एक समर्थ समालोचक हैं। ‘कविता के सरोकार’ शीर्षक से आलोचना की सद्यः प्रकाशित पुस्तक आ चुकी है, जिसमें उन्होंने कविता का विभिन्न दृष्टिकोणों से मूल्यांकन किया है। प्रयोगवादी कविता की आलोचना की विशेषताओं को रेखांकित करते हुए रामवचन राय लिखते हैं—‘नलिन विलोचन शर्मा ने यहाँ तक कहा कि आलोचना भी एक तरह से रचना ही है; पुनर्रचना (रिक्रिएशन)। इस पूरे दौर में रचना और आलोचना को लेकर एक ऐसी सोच और समझ विकसित हुई कि दोनों के बीच का पुराना झगड़ा लगभग समाप्त हो गया। प्रयोगवादी दौर की आलोचना की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह कवि पर नहीं, बल्कि कविता पर केंद्रित थी।’³¹

5 जनवरी 1945 में जन्मे मारुतिनंदन पाठक की महत्त्वपूर्ण समालोचनात्मक संपादित कृतियाँ ‘डॉ० प्रभाकर माचवे : सौ दृष्टिकोण’ तथा ‘आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : समकालीनों की दृष्टि में’ प्रकाशित हो चुकी हैं। पाठक जी के समालोचनात्मक आलेखों में स्पष्टवादिता एवं पारदर्शिता है। श्री हंसकुमार तिवारी की पुस्तक ‘कला’ पर अपना बहुमूल्य विचार प्रकट करते हुए पाठक जी लिखते हैं—‘विचारशील और सृजनधर्मी साहित्यकार एवं कवि हंसकुमार तिवारी को कला और साहित्य के सवालोंने आंदोलित किया था। इस पर गहन मनन-चिंतन करने की चुनौती उन्होंने स्वीकार की। इसी का प्रतिफलन ‘कला’ नाम की यह पुस्तक है।’³²

श्री भगवानसिंह ने साहित्य में जड़ जमाई प्रतिबद्ध विचारधारा की जड़ता पर अपनी आलोचकीय धार से तीव्र एवं सार्थक प्रहार किया है। दलित-लेखन की विसंगतिपूर्ण अवधारणाओं पर प्रहार करते हुए श्री भगवानसिंह लिखते हैं—‘अजीब बात है। एक तरफ़ यह कहा जा रहा है कि व्यास जाति के मल्लाह थे, वाल्मीकि बहेलिया थे, कालिदास गड़रिया थे (दलित जनउभार, पृ० 189) तो दूसरी तरफ़ इन लेखकों के साहित्य को वर्ण-व्यवस्था एवं सामंती मूल्यों का पोषक कहकर खारिज भी किया जा रहा है। सही इतिहास-बोध के अभाव

में परंपरा के प्रति ऐसी भ्रामक धारणा का पैदा होना स्वाभाविक है।'³³

श्री भगवानसिंह किसी खेमे के खूँटे से बँधे समालोचक नहीं हैं। इसीलिए उनकी समीक्षा सीधे प्रहार करती है, निष्पक्षता की वकालत करती है एवं पारंपरिक मूल्यबोध में आस्था रखती है।

डॉ० रामनिरंजन परिमलेंदु मूलतः साहित्येतिहास के जागरूक एवं गंभीर समीक्षक हैं। उनकी समीक्षा-दृष्टि पूर्ण प्रामाणिकता के साथ नए तथ्यों की तलाश करती है। उनकी सोच, उनकी खोज सौ प्रतिशत उनकी है। हिंदी के प्रथम मुक्त छंद के उद्भावक के रूप में मूलतः सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' का नाम लिया जाता है, परंतु परिमलेंदु जी पूर्ण प्रामाणिकता से यह साबित करते हैं कि 'निराला' के जन्म से अनेक वर्ष पूर्व, महेशनारायण (1858-अगस्त 1907) की 'स्वप्न' कविता खड़ीबोली हिंदी में सन् 1881 में हिंदी साप्ताहिक पत्र 'बिहार बंधु' में प्रकाशित हुई थी, जो मुक्त छंद में लिखी गई है।³⁴ परिमलेंदु जी मूल रूप से गवेषणात्मक आलोचक कहे जा सकते हैं। इन्होंने अपने आलेखों में अनेक पूर्ववर्ती मान्यताओं का सप्रमाण खंडन करते हुए नई मान्यताओं की स्थापना की है। वे लिखते हैं—'महाकवि चंद्रबरदायी और पृथ्वीराज रासो विषयक जो स्थापना मूलतः श्यामसुंदर दास की थी, वह रामचंद्र शुक्ल के नाम पर अब तक उद्धृत की जाती है और श्यामसुंदर दास को किसी भी व्यक्ति ने इस संदर्भ में स्मरण करने की 'कृपा' नहीं की।'³⁵

हिंदी-आलोचना जगत में बिहार के कर्मैदु शिशिर ने भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की आलोचना-पद्धति पर टिप्पणी करते हुए कर्मैदु जी लिखते हैं—'उन्होंने खुद रचना-आधारित व्यावहारिक समीक्षा की और ऐसी समीक्षाओं को प्रोत्साहित भी किया। अगर आप देखें तो उनकी आलोचना-पद्धति उनके समकालीन आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की तुलना में ज्यादा आधुनिक, मौलिक तथा गंभीर है।'³⁶ कर्मैदु जी आलोचना लेखन में निरंतर सक्रिय हैं।

हिंदी-आलोचना के क्षेत्र में रेवतीरमण एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। निरंजन श्रोत्रिय की कविता-पुस्तक 'जुगलबंदी' की समीक्षा करते हुए रेवतीरमण लिखते हैं—'जुगलबंदी संग्रह की पहली रचना है—'कठिन समय में कविता' और अंतिम है—'देह का गीत'। कठिन समय के प्रयोगों के पीछे कवि संकट के सच्चे अहसास का भाव महसूस करता है।'³⁷ विजयदेव नारायण साही की कृति 'लघुमानव के बहाने नई कविता पर एक बहस' पर टिप्पणी करते हुए रेवतीरमण लिखते हैं—'लघुमानव के बहाने साही मानव-केंद्रित विमर्श का एक पूरा वितान तानते हैं। लेकिन बीच-बीच में यह कहना नहीं भूलते कि मनुष्य को परिभाषाओं में नहीं बाँधा जा सकता। महामानव, लघुमानव, सर्वसाधारण इन सबमें हैं अंततः मनुष्य ही।'³⁸

डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ एवं शास्त्रीय समीक्षा के पुरोधा हैं। उनके आलेख में तत्सम शब्दों की बहुलता है, चिंतन की गहराई है एवं सृजन का स्वाभाविक प्रवाह है। उनका संस्कृतनिष्ठ प्रवाहमय गद्य जो आलोचना के लोचनों को साथ-साथ लेकर चलता है, देखने योग्य है—'पुण्यश्लोक आचार्य केसरीकुमार हिंदी के नव्यतावादी कूटस्थ मनीषियों में पांक्तेय हैं। उनसे हिंदी के शिक्षाशास्त्री आचार्यों की परंपरा गौरवान्वित हुई है। उनके भाषिक वैभव से हिंदी समृद्ध हुई है तथा उनकी ललित वचोभंगी से संबलित वाणी से

उसे गत्यात्मक मोहकता मिली है।’³⁹ कहने की आवश्यकता नहीं कि श्री रंजन सूरिदेव साहित्य लिखते नहीं, जीते हैं। वे साहित्य के सारस्वत मनीषी हैं।

कविहृदय अरुण कमल की आलोचनात्मक दृष्टि भी काफ़ी पैनी है। कुँवरनारायण की कविता की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं—‘कुँवरनारायण दुर्लभ अंतर्दृष्टि से भारतीय चिंतन, काव्यशास्त्र और कविता के वर्तमान का विश्लेषण करते हैं। आज वह हमारी भाषा के उन थोड़े से विद्वानों में हैं, जो एक साथ भारतीय एवं पाश्चात्य विचार-सारणियों पर, विभिन्न कला-आंदोलनों एवं दार्शनिक पद्धतियों तथा काव्य की सूक्ष्मताओं पर इतनी धीरता एवं निस्संगता से विचार कर सकते हों।’⁴⁰

भाषाशास्त्रीय आलोचना-पद्धति यद्यपि हिंदी-साहित्य में विशेष लोकप्रिय नहीं हो पाई है, तथापि हिंदी में भाषावैज्ञानिक अध्येताओं की कमी नहीं है। भाषावैज्ञानिक समीक्षा-दृष्टि को समीक्षा के केंद्र में लाना आज की महती आवश्यकता है। डॉ० राजेंद्रप्रसाद सिंह (सासाराम, बिहार) एक ऐसे भाषाशास्त्री हैं, जिन्होंने अपने अध्यवसाय एवं चिंतन-मनन के बल पर भाषा-संबंधी अनेक नूतन मानक गढ़े हैं। सासाराम (बिहार) में बैठे पूर्वोत्तर की प्रायः सभी भाषाओं की अंतर-आत्मा से वे परिचित हैं। उन्होंने एक-एक शब्द को इतनी बारीकी से समझाया है कि उसे देखकर दंग रह जाना पड़ता है। उदाहरणार्थ— ‘संस्कृत में ‘तोय’ का अर्थ ‘जल’ है। ‘तोय’ का ज़बरदस्त प्रचलन नाग परिवार की भाषाओं में है। तुई (त्रिपुरी), तुइ (वाइफे), तूइ (पाइते), तुन (कुकी), तारा (तांगखुल), तेइ (चांग), तदइ (लियांग-माई), तोइ (रियांग) में ‘तोय’ के प्रतिरूप देखे जा सकते हैं।’⁴¹

इसी प्रकार ज्योतिष जोशी और जितेंद्र वत्स भी हिंदी आलोचना के क्षेत्र में अपनी सशक्त कदम रख चुके हैं। इनकी आलोचना विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रही हैं।

बिहार की हिंदी-आलोचना हिंदी की मुख्यधारा की आलोचना है। इसे बिहारी खेमे में डालकर नहीं देखा जा सकता। फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से विभिन्न प्रांतों के साहित्य का मूल्यांकन करना तथा उसे हिंदी की मुख्यधारा के साथ जोड़कर देखना आज की आवश्यकता है। ऐसा करके हम साहित्य के शाश्वत एवं लोकतांत्रिक मूल्यों की स्थापना सही अर्थों में कर सकेंगे। एक बात यहाँ और जोड़ देना आवश्यक है कि बिहार की हिंदी-आलोचना अभी भी बिखरी पड़ी है, उसे एकाग्र करना हमारी परम आवश्यकता है।

संदर्भ

1. खत्री स्मारक ग्रंथ, पृ० 279
2. आलोचना की भाषा, डॉ० पद्मनारायण, पृ० 58
3. जयंती स्मारक ग्रंथ, पृ० 613
4. तृतीय बिहार प्रांतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन का अध्यक्षीय अभिभाषण
5. आलोचना की भाषा, डॉ० पद्मनारायण, पृ० 60
6. सरस्वती, जून 1904, पृ० 192-93
7. बिहार की साहित्यिक प्रगति, पृ० 291
8. बिहार बंधु, 15 जनवरी, 1904
9. बिहार की साहित्यिक प्रगति, पृ० 105-06

10. श्री रामावतार शर्मा निबंधावली (पुराण-तत्त्व), पृ० 116
11. बिहार हि०सा०स० के इक्कीसवें अधिवेशन के अवसर पर सभापति पद से दिए गए अभिभाषण से उद्धृत
12. लक्ष्मीनारायण सुधांशु : मैं कैसे लिखता हूँ, पृ० 195
13. आचार्य शिवपूजन सहाय : 'तुलसी प्रयुक्त क्रियाएँ', परिषद पत्रिका, पृ० 12
14. समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी 2006, पृ० 39
15. समकालीन भारतीय साहित्य, जनवरी-फरवरी 2007, पृ० 18
16. प्रो० केसरीकुमार : संपादकीय टिप्पणी, 'साहित्य' वर्ष 12 अंक 3, पृ० 5
17. समकालीन भारतीय साहित्य, ज०फ० 2006, पृ० 21
18. साहित्य के नए धरातल : शंकाएँ और दिशाएँ, पृ० 135
19. वही, पृ० 206
20. वही, पृ० 95
21. वही, पृ० 198-200
22. 'चक्रवाक', जनवरी-मार्च 2007, पृ० 24
23. 'भाषा' जनवरी-फरवरी 2008, पृ० 74
24. वर्तमान साहित्य, शताब्दी आलोचना पर एकाग्र-1, पृ० 53
25. वही, पृ० 53
26. हिंदी-कहानी : रचना और पाठ, पृ० 68
27. वर्तमान साहित्य, जून 2002, पृ० 80
28. समकालीन हिंदी-आलोचना, सं० परमानंद श्रीवास्तव, पृ० 413
29. वही, पृ० 439
30. चक्रवाक, जनवरी-मार्च 2006, पृ० 6
31. समकालीन भारतीय साहित्य, मार्च-अप्रैल 2007, पृ० 166
32. वही, सितंबर-अक्टूबर 2000, पृ० 248
33. वही, पृ० 253
34. वही, जून-अगस्त 1999, पृ० 125
35. वही, नवंबर-दिसंबर 2001, पृ० 151
36. वर्तमान साहित्य, आलोचना विशेषांक, जून 2002, पृ० 420
37. आलोचना, अंक चौतीस, पृ० 115
38. वर्तमान साहित्य, मई 2002, पृ० 226
39. चक्रवाक, अक्टूबर-दिसंबर 2006, पृ० 29
40. वर्तमान साहित्य, मई 2002, पृ० 396
41. भाषा, मार्च-अगस्त, 2008, पृ० 130

□ हिंदी विभागाध्यक्ष
डिगबोई महिला महाविद्यालय, पो० डिगबोई 78171
ज़ि० तिनसुकिया (असम)
मो० 094351-37624

गीत के अप्रतिम हस्ताक्षर शचींद्र भटनागर

मधुकर अष्ठाना

गीत कवि की रागात्मक अंतश्चेतना के उदात्त स्वरूप की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, जो स्वयं में मौलिक एवं विशिष्ट होती है। वस्तुतः उसे मात्र राग, संयोग, करुणा, अध्यात्म और वैराग्य आदि की भावनाओं से ही जोड़ना, सत्य का मात्र एक अंश है। यद्यपि प्राचीन युग से अब तक यही समझा जाता रहा है। गीत के विराटत्व का बोध तो केवल अंतर की अनुभूति है, जो गूँगे के गुड़ के समान है, जिसे समझकर भी पूरी तरह व्यक्त कर पाना संभव नहीं होता। मानव-मन की अबूझ भावनाओं से जुड़ा गीत कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का पथ प्रशस्त करता है, जिन अनुभूतियों को अन्य काव्य-विधाओं में व्यक्त करना संभव न हो, उन्हें गीत में ही शब्द-स्वर दिया जा सकता है—शब्द एवं संगीत का यह भावात्मक आवेग अपनी ऐतिहासिक खोज में अभी तक अनखोजा ही रह गया है, किंतु असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मानव-सृष्टि के साथ ही उसकी अव्यक्त आंतरिक अनुभूतियों के प्रसंग, मानव के अधरों से संगीतमय शब्द बनकर फूटते रहे होंगे, जो उसने वायु से सीखे होंगे। प्रकृति ने सृष्टि को संगीतमय बनाया है और गीत प्रकृति से अपरिहार्य रूप से जुड़ा है, अतः गीत का प्रमुख तत्व उसकी गेयता है। प्रकृति, भाव एवं संगीत का यह संगम, कल्पना की तरंगों पर शब्द एवं शिल्प की नौका में विहार करता, मानवीय मूल्यों एवं संवेदनाओं का सक्षम संवाहक है, किंतु गीत रचना अन्य काव्य-विधाओं की अपेक्षा दुरूह और जटिल है, जिससे अज्ञेय एवं नामवर सिंह जैसे लोग भी भाग खड़े हुए और जो रचनाकार गीत-विधा में अभी सृजनरत हैं, वे वास्तव में साधना-संपन्न तथा विशिष्ट प्रतिभा के धनी हैं, ऐसे ही गीतऋषि हैं आदरणीय श्री शचींद्र भटनागर जी, जिनकी लेखनी की स्याही गीत-सृजन में सूखना ही नहीं जानती, अनुभूतिजन्य शाब्दिकता एवं संगीतमय शिल्पिता में कल्पना के रंग भरते भटनागर जी पचहत्तर वर्ष की आयु में गीत के सशक्त हस्ताक्षर हैं और अद्यावधिक सृजन कर रहे हैं, जिनमें जीवन का सत्य है तो वर्तमान का यथार्थ भी। रागात्मक मानसिक उद्वेलन से उद्भूत ये अंतर्सत्य, समय के ऐसे हस्ताक्षर हैं, जो सदियों तक अधरों पर आने के लिए, संवेदना के नए आयामों को गुनगुनाने के लिए उत्प्रेरित करते रहेंगे।

लगभग पाँच दशकों से साहित्यसाधना में रत श्री भटनागर जी निरंतर जागरूक रहकर अध्ययनशील भी रहे। वस्तुतः वह ज्ञान के भंडार होने के साथ ही समय की नब्ज पहचानने में भी दक्ष हैं। अपने चिंतनशील संवेदनात्मक सृजन में उन्होंने सदैव नूतनता का आह्वान किया है। नूतन कथ्य, शिल्प, प्रतीक एवं बिंब से सुसज्जित उनका रचना-विधान वर्तमान में शीर्ष पर बैठे साहित्यकारों को भी चुनौती देता है। इस, छंद, अलंकार आदि उपादानों के मर्मज्ञ श्री

भटनागर जी अपनी कृतियों में चिर-नवीन एवं कालजयी हैं, सृजन की अपेक्षा प्रकाशन में विलंब होने के फलस्वरूप उनका न तो समुचित मूल्यांकन हो सका और न ही उनका साहित्यिक अवदान प्रचार-प्रसार पा सका। ऐसे न जाने कितने बहुमूल्य रत्न बिखरे पड़े हैं, जिन्हें वास्तविक प्रदेय का हक नहीं मिल सका। भटनागर जी का कृतित्व गीत, गज़ल, दोहा, मुक्तक, कविता, प्रबंधकाव्य, रेडियोरूपक, कहानी तथा समीक्षात्मक निबंधों की अतुल संपदा से समृद्ध है। अब तक उनकी प्रकाशित कृतियाँ-खंड-खंड चाँदनी, क्रांति के स्वर, करिष्ये वचनं तव, हिरना लौट चलें, तिराहे पर, अखंडित अस्मिता, तथा ढाई आखर प्रेम के आदि हैं और इनके अतिरिक्त एक दर्जन से भी अधिक पुस्तकें प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं। वर्तमान में वे सुदामा एवं कृष्ण के विषय में सुदामा चरित्र को लेकर मुक्त छंद में प्रबंधकाव्य की रचना कर रहे हैं। हिंदी साहित्य की अनेक प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में उनके गीत और निबंध निरंतर प्रकाशित होते रहे हैं। अनेक कैसेटों एवं सी.डी. में भी उनके गीत संकलित एवं प्रसारित हैं। श्री भटनागर जी अनेक शोध-प्रबंधों में तथा स्तरीय पत्रिकाओं में संदर्भित एवं चर्चित हैं। इसके अतिरिक्त आकाशवाणी के विविध केंद्रों से उनके गीत, रेडियो रूपक, वार्ताएँ एवं परिचर्चाएँ प्रसारित होती रही हैं। इतना ही नहीं, देश की अनेक साहित्यिक संस्थाओं द्वारा उन्हें सम्मानित एवं अभिनंदित किया गया है। उन्होंने अनेक संकलनों का संपादन भी किया है, जिनमें युवक (गीत अंक), मातृ-स्मृति (स्मारिका), ऊसर के अंकुर (गीत-संकलन) आदि प्रमुख हैं। अध्ययन एवं अध्यापन में आजीवन व्यस्त रहते हुए अट्ठाईस वर्ष तक प्राचार्य पद का कर्तव्य पूरी सक्षमता एवं कुशलता से संपादित करने के उपरांत जून 1995 से स्वाध्याय एवं साहित्य-सृजन में व्यस्त हैं। सामाजिक कार्यों में भी उनकी विशेष अभिरुचि है और वे शांतिकुंज के माध्यम से समाज को नई दिशा देने का भरपूर प्रयास कर रहे हैं। आदर्श जीवन-पद्धति से संयमित उनकी संपूर्ण आयु लोकमंगल एवं लोककल्याण को समर्पित है। उनके संबंध में कुछ लिखने का अवसर प्राप्त होने पर मैं इस पुण्य कार्य में अपने उद्गारों का योगदान करते हुए गर्व महसूस कर रहा हूँ।

भटनागर जी के गीत-संग्रह 'ढाई आखर प्रेम के' में सृष्टि के समस्त ज्ञान का सारांश प्रेम के राग-तत्त्व का अभिनव शिल्प-विधान में नवीनतम प्रतीक-बिंबों में प्रस्तुतिकरण आत्मविभोर करने में समर्थ है। जड़-चेतन सभी से प्रेम और सभी में प्रेम की अनुभूति उच्च नैतिक धरातल पर मानवमूल्यों की प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण प्रयास है, जो संवेदनाओं को मूर्त रूप देता है। उनकी प्रीति-गंगा का स्वरूप व्यापक है, जिसमें अवगाहन कर पाठक अपने मन का मैल धोकर निर्मल-मन हो सकते हैं। विसंगति, विषमता, विद्रूपता, शोषण, उत्पीड़न, त्रासदी, अव्यवस्था, अंधविश्वास और पाखंड से परिपूर्ण मरुस्थली में यह कृति नखलिस्तान की भाँति अंतस् को परितृप्ति प्रदान करती है। काँव-काँव की कर्कश ध्वनि के मध्य सुनाई देता यह कोकिल का पंचम स्वर कवि की अंतश्चेतना का स्वर है, जिसमें प्रेम के विराटत्व का बोध होता है। यद्यपि संगृहीत रचनाएँ छायावादोत्तर काल की हैं, किंतु इसकी नवता इन्हें नवगीत से भी जोड़ती है। नवगीत दशक में ऐसे ही गीत संकलित हैं, जो संक्रमणकालीनता के सृजन का संज्ञान कराते हैं, जिन्हें पढ़ने के उपरांत भविष्य की गीतशैली का पता लगता है। वस्तुगत एवं शिल्पगत विधान में परंपरा के साथ नूतनता का समावेश, संगृहीत गीतों को नए एवं पुराने के

मध्य सेतु के रूप में स्थापित करता है और भविष्य की दिशागत परिवर्तनों की आधारभूमि बनकर, नवीनता की अवधारणा को संगीतमय बनाता है। प्रेम की अकथ कथा प्रवीण सुकवियों से भी कहते नहीं बनती है, क्योंकि प्रेम इतना विराट है, विशाल है और व्यापक है कि इसे शब्दों में बाँधना दुष्कर है, किंतु फिर भी हर कवि अपने-अपने ढंग से अभिव्यक्त करता है। श्री भटनागर जी सबसे अलग हटकर नितांत मौलिक रूप में प्रेम को व्यक्त करते हैं यथा—

तुम आए/तो सुख के फिर आए दिन।
 बिन फागुन ही अपने फगुनाए दिन/
 पोर-पोर ऊर्जा से भरा देह-मन/
 निमिष-निमिष के/ हल्के हो गए चरण/
 उतर गई प्राणों तक/ भोर की किरण/
 हो गए गुलाबी फिर सँवलाए दिन।¹

अहंकार, आमोह, उच्छृंखलता से परे भटनागर जी का अभिव्यक्तिकरण भौतिक जगत् से संबंधित है भी और नहीं भी। शृंगारपरक संयोगपरक स्थिति में भी उनकी अभिव्यक्ति में विलासिता का गायन नहीं है, किंतु प्रिय के आने पर मनोस्थिति में ऐसा परिवर्तन होता है कि प्रसन्नता और हर्ष छिपाए नहीं छिपते एवं प्रकृति भी उसी के अनुकूल आचरण करती प्रतीत होने लगती है। रग-रग में उत्साह और उल्लास व्यक्त हो जाता है तथा प्रतीक्षा के क्षणों की समाप्ति के परिणामस्वरूप जो समय काटने से भी नहीं कटता था, एक-एक क्षण वर्ष के समान लगता था, वह कब व्यतीत हो जाता है, पता ही नहीं लगता। वियोग से पीड़ित जो दिवस सँवले लगते थे, उन पर भी प्रेम का लाल रंग छा गया। कथ्य को सहज सरल एवं संप्रेषणीय शब्द-संयोजना में प्रस्तुत करने की मौलिक कला पाठक को विभोर करने में समर्थ है। कवि के शब्दों में प्रेम एक विवशता है और शाश्वत आवश्यकता भी, किंतु यदि प्रेम न हो तो साथ-साथ रह जीवन जीने का अर्थ समाप्त हो जाता है। भौतिक सुख-सुविधाएँ भी प्रेम के अभाव में मानसिक संतोष नहीं दे पाती और मन मरुस्थल में प्यासे हिरन की तरह दो बूँद प्रेम-जल के लिए भटकता रह जाता है। प्रेम की प्रतीति से—

नई ऊष्मा/ नया उत्साह भर देती शिराओं में/
 तुम्हारी एक चितवन/
 नए दिन-रात/
 दुहराते चले जाते/वही/ऊबा/ थका-सा/
 एक जीवनक्रम/
 कभी लगता/ नहीं लघु
 बिंदु भी तो हैं/ समय के एक गहरे सिंधु
 में/ हम-तुम/
 मुझे अस्तित्व का अहसास
 देती है/ दिशाओं में/ तुम्हारी एक चितवन/
 बहुत रफ्तार से/ क्षण/ हाँफते/ दौड़े चले जाते/
 उजाले से अँधेरे तक/

मुझे कांपोज-सी
निष्पंद/ निष्क्रियता जकड़ लेती/ अँधेरे से/
सबेरे तक/
गुलाबी सूर्य की/ ऊष्मा बहाती है/
निशाओं में/ तुम्हारी एक चितवन/ ²

संयोग के क्षण कितनी तीव्र गति से व्यतीत हो जाते हैं किंतु वियोग का समय, उसका प्रत्येक पल बिताना कठिन हो जाता है। गीत में संयोग शृंगार की प्रत्येक स्थिति का वर्णन होने पर भी कहीं मर्यादा भंग नहीं होती और न अश्लीलता आ पाती है। वस्तुतः यही कवि की नैतिकता और सिद्ध लेखनी का परिचायक है, जो सराहना के योग्य है, पराए लोगों के छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष और असमानता, जिसमें अवमानना का बोध होता रहा, कवि को प्रिया की एक चितवन अस्तंगत विभाओं में भी नए प्राणत्व की ऊष्मा का संचार कर देती है। प्रेम है ही ऊर्जा, शक्ति, शांति, संतोष, उत्साह एवं उल्लास का स्रोत, जिसके अभाव में जीवन नरक बन जाता है। लेकिन वर्तमान समय बहुत अधिक परिवर्तित हो गया है। जब तक प्रेम का प्रदर्शन न किया जाए, लोग समझ ही नहीं पाते। अतः ऐसे समय में प्रेम को मुखरित किया जाना आवश्यक हो जाता है—

समय बदला हुआ है/मीत/ मत बोलो/
सरल मृगशावकों-से नयन की भाषा/
न कोई समझ पाएगा/
यहाँ किसको समय है/ प्यार से देखे/
तुम्हारी ओर पल-भर भी/
तुम्हारी बात तो है दूर/
सुन पाता नहीं कोई/
यहाँ अपना मुखर स्वर भी/
समय बदला हुआ है/ मीत/ मत छेड़ो!
मधुर संगीत-लहरी अब/
धरा स्वर से/
सजाने की सनातन सौम्य अभिलाषा/
न कोई समझ पाएगा। ³

हर व्यक्ति अपनी सूक्ष्म दृष्टि खो चुका है और आत्म-विश्लेषण, आत्मशोधन से दूर भाग रहा है। प्राचीनकाल में जो अंतर्दृष्टि होती थी, वह तो अब पुराणों तक ही रह गई। वैज्ञानिक आविष्कारों की परिधि में बंदी बना आदमी संवेदनशील भावनाओं को अव्यावहारिक मानने लगा है, जिससे मानवीय संबंधों में प्रेम का अभाव हो गया है। कवि न्यूनतम शब्दों में विशाल-विराट कथ्य को संप्रेषित करने में सफल है।

वर्तमान परिवेश में विलुप्त होते गाँव, निरंतर कटते वृक्ष, नगरों में आबादी का केंद्रीकरण, समाप्त होते जंगल आदि का प्रभाव, जल के अभाव, बढ़ती गर्मी, आक्सीजन की कमी, अनेक असाध्य रोगों से घिरा हुआ मानव आदि के रूप में देखा जा सकता है। भौतिक

प्रगति में पर्यावरणीय चेतना का लोप होता जा रहा है, जिसे कवि ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

एक भी न चिह्न/ यहाँ बाक़ी उस पाकर का/
कल/ हम जिसकी टंडी छाँह तले/ बैठे थे/
लहर से लहर तक/ हम/ यहीं-कहीं/ बैठे थे/
देह-सुध बिसारे/
कहाँ खो गए/ केवल हम दोनों के/
बिलकुल अपने-से लगते/
कुछ काँपते किनारे/
कहाँ गया/ बालू तट/ काफ़ी दिन चढ़े/ जहाँ/
हम दोनों/ झुके नयन/
पाँव जले/ बैठे थे/
अब न यहाँ झर-झार कर/
तन-मन/ नहलाता है/ हरसिंगार कोई/
अब/ न यहाँ आती है/ पोर-पोर दुलराती/
महुए की मंदिर गंध ले/ बयार कोई/
अब न यहाँ/ त्योहारी हँसी/
रही फ़सलों की/
हँस-हँस/ हम जिसमें/
पहले-पहले/ बैठे थे/ 4

चारों ओर फैले कंक्रीट के जंगल, बड़े-बड़े कारखाने धुवाँ उगलते, सड़कों पर वाहनों के धुएँ से साँस लेना तक कठिन, कड़वाती आँखें, दुर्घटनाएँ और सँकरी गलियों में घूमते छुट्टा जानवर आदि सभी कुछ मानव के सामान्य स्वास्थ्य के लिए खतरनाक हैं, परंतु पर्यावरण की किसी को चिंता नहीं है। विषैली नदियों का जल पीने को विवश मानव अपनी ही लगाई आग में भस्म हो रहा है। समस्त प्रदूषित वातावरण के प्रति पाठकों को जागरूक करना चाहता है। जो रचना समकालीनता से न जुड़ी हो तथा अपने परिवेश से उदासीन हो, वह निरर्थक कही जाती है। वस्तुतः साहित्य समाज का दर्पण है। अतः साहित्य में वर्तमान यथार्थ की चेतना होना अपरिहार्य है। साहित्य-सृजन प्रयोजन से शून्य नहीं होता है। भटनागर जी भी युग की माँग, साहित्य की आवश्यकता, अपने उद्देश्य तथा पाठकों की रुचि आदि सभी विषयों पर पूर्ण ध्यान देते हुए ही सृजन द्वारा सार्वभौमिक सत्य का संदेश तथा वांछित दिशा देना चाहते हैं।

जीवन-संघर्ष में जूझते हुए उन्होंने अनेक कड़वे-मीठे अनुभव किए हैं, तभी वे कहते हैं— 'मैंने महसूस है झोंके/ तेज़ हवा के/ देखी हैं मैंने/ कुछ दरक रही चट्टानें/ ढहते ऊँचे शिखर/ और भोगा है मैंने/ पावों के नीचे से/ धरती की खिसकन को।⁵ दुख तो शाश्वत सत्य है। सुख तो मात्र एक भ्रम है। सुख महसूसने के उपरांत थोड़ा दुख भी पहाड़ लगता है और यही स्थिति रचनाकार की भी है। कुछ दिनों का संयोग उसके वियोग को और कष्टप्रद बना

देता है, जो कवि के शब्दों में—

तुम्हें गए/कुछ दिन बीते हैं/ पर मुझको अरसा
लगता है/
सब कहते/ कल ही पूरब में/
एक घटा नभ में गहराई/ फिर भी/ लगता है,
बरसों से/ इधर नहीं आई पुरवाई/
मेरे घर पर/ कभी न कोई/
बादल दल बरसा लगता है/
गुमसुम हैं सारी दीवारें/
छत भी है रोई-रोई-सी/
आँगन के/ थमले में तुलसी/
रहती है खोई-खोई-सी/
द्वार/ किसी निर्जन तट वाले/
सूखे सरवर-सा लगता है।⁶

इसी तरह विरह-व्यथा के अनेक गीत प्रस्तुत संकलन में देखने को मिलते हैं, जिनमें अनेक प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। इन प्रेमगीतों को यदि अध्यात्म और दर्शन की ओर उन्मुख कर दिया जाए तो परमात्मा के वियोग में आत्मा की बेकली प्रतीत होने लगते हैं। इस प्रकार उनके गीत अनेकार्थी हैं, किंतु जहाँ तक मैं समझता हूँ, ये गीत भौतिक जगत से ही संबंधित हैं, जिनकी कहन नूतन और अनूठी है। ऐसे अलभ्य गीत बहुत कम ही पढ़ने-सुनने को मिलते हैं, जिनकी व्यंजना साधारण एवं असाधारण दोनों प्रकार के पाठकों को संवेदित कर सके। भटनागर जी की मौलिक कहन एवं अनूठी व्यंजना ऐसे बिंबों का सृजन करती है, जो अनछुए लगते हैं—

आँधी की परत जमी पलकों पर/
दृष्टि न थमती पल-भर/
बदरीली रात/ नयन घुलने दो/
भीतर तक प्राण पवन डुलने दो/
कमरे में हर तरफ़ भरा तम है/ रोशनी बहुत कम है/
बढ़ती है घुटन/ द्वार खुलने दो/
बर्फीली रात बहुत भारी है/
बढ़ती लाचारी है/ किरणों की गोद/
बर्फ़ घुलने दो/
भीतर तक प्राण पवन डुलने दो।⁷

भटनागर जी प्रेमिल उन्माद के पलों में भी यथार्थ को विस्मृत नहीं करते हैं और आम आदमी की जिंदगी के विद्रूप की कसक व्यक्त कर ही देते हैं। आम आदमी प्रेम के प्रतिदान में प्रेम ही दे सकता है। परिस्थितियों ने उसे तोड़कर रख दिया है, जिससे पराजय स्वीकारने को वह विवश है। अपनी अभावग्रस्त जीवन की विसंगतियों से त्रस्त और कुंठित

कवि अपनी पीड़ा निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त कर देता है—
 मैं तुम्हें क्या दूँ/ अभावों से भरी यह ज़िदगी/
 रिक्तता की सहचरी यह ज़िदगी/
 आज मेरी धमनियाँ/ मेरी शिराएँ/
 एक निर्जन कूल पर बंधक पड़ी हैं/
 और हर दिन-रात/ आते और जाते/
 क्षणों के अस्तित्व/
 माली की किसी दूकान पर/
 सज्जित प्रसूनों-से पराए हैं/
 भरी जो दीखती है झील/
 उसके नीर की प्रत्येक झिलमिल बूँद बाँटी जा चुकी है/
 और/ बढ़ती हर सुकोमल डाल छाँटी जा चुकी है/
 वृक्ष मेरा आज सूर्योन्मुख नहीं है/
 मुड़ गया है/ जिधर उसकी टहनियों को
 बाँधकर मोड़ा गया है/
 चाहकर भी/ एक निर्जल और रीते मेघ सी/
 रह गई है अनझरी यह ज़िदगी।⁸

वर्ष 1962 की यह लयात्मक रचना उनके जीवन की विसंगतियों को स्पष्ट कर देती है। उक्त रचना से स्पष्ट है कि भटनागर जी के गीत-सृजन में उस काल में भी नवगीतात्मकता मौजूद थी, जिसने उनके कथ्य को नई कहन, नए बिंबों से जोड़ा, जो आज भी ताज़ा लगते हैं। ऐसी ही अनेक रचनाएँ इस संग्रह में हैं, जो पाँच दशक पूर्व की होने के बावजूद नूतन लगती हैं। यही कालजयी सृजन की पहचान है। जिनका रंग कभी फीका नहीं पड़ता है, प्रत्येक रचना कवि की यथार्थवादिता, जागरूकता और समकालीनता का परिचय देती है। प्रेमगीतों में भी अपने परिवेश एवं समय से वे जुड़े रहे हैं और इन गीतों में भी उन्होंने सर्वथा नवीन प्रयोग किए हैं। उनके गीतों में कठोर छंदोबद्धता के स्थान पर लयबद्धता के दर्शन होते हैं, जिनमें प्रवाह एवं गेयता का अभाव कहीं भी प्रतीत नहीं होता है। अपने गीतों में वे छायावाद, छायावादोत्तर प्रयोगवाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद और वर्तमान नवगीत तक, सभी सोपानों को पार करते दिखाई पड़ते हैं। बहुज्ञता एवं रसज्ञता उनकी रचनों को सामाजिक सरोकारों से भी जोड़ रखती है। इस संदर्भ में 'याद' शीर्षक से अंकित गीत द्रष्टव्य है—

आज संस्मरण के कुहासे को/ चीरकर उनींदी-सी
 एक किरन झाँक गई/
 आषाढ़ी उमस बढ़ी/ बढ़ रही/
 और लग रहा कि यहीं दोपहरी अड़ रही/
 मौसम के पाँव में/ एक कील गड़ रही/
 एक हवा वीरानी बस्ती की/
 ऊँघ रहे सेमल की करके दो फाँक गई/

ऐसा वातास मुखर/ डोलता/
 जमे-जमे भावों के मुँदे
 मौन खोलता/
 यादों के काँपते पर्दों को खोलता/
 ऊँचाई नाप रहे पंखों की/
 कीमत को बादल की एक गरज आँक गई/
 पंखुराई गाँठ-गाँठ/ खुल गई/
 बिन बोले बंद पीर बाहर दुल-दुल गई/
 मलिन हीर की कनी/ अनायास धुल गई/ एक याद उन्मन
 सी/ बदरीले/
 बालों में बिजली का खिला फूल टाँक गई।⁹

उपर्युक्त गीत में यद्यपि छंदबद्धता का समुचित रूप नहीं है, किंतु प्रवाहलयता, तुक
 आदि के फलस्वरूप गेयता वर्तमान है और अनलुए ताजे बिंब तथा अनूठी मर्मस्पर्शी कहन एवं
 संप्रेषणीयता के कारण वह संवेदना जाग्रत करने में सक्षम हैं। इसी प्रकार के अनेक गीत इस
 कृति में संगृहीत हैं, जो अनुपम कल्पना-शक्ति से नए बिंबों की खोज करने में सफल हैं।
 भटनागर जी की यही साधना-सिद्धि उन्हें गीत-विधा में उत्कृष्ट सिद्ध करती है। प्रत्येक गीत
 में उन्होंने कुछ-न-कुछ नूतनता लाने का प्रयास किया है, जो उन्हें अन्य पारंपरिक गीतकारों
 से संबद्ध नहीं करती और उन्हें भीड़ से हटकर विशिष्ट बनाती है।

भटनागर जी के गीत वास्तव में नवगीत की पृष्ठभूमि हैं, जो भविष्य के गीत की
 दशा-दिशा निर्धारित करते हैं। कवि को ब्रह्मा कहा गया है, जो नूतन निर्माण करता है। वैसे
 भी शब्द-ब्रह्म की साधना में लीन सिद्ध साधक साधारण व्यक्ति से विशेष महत्त्वपूर्ण होता है।
 भटनागर जी भी ऐसे ही रचनाकार हैं, जिनकी प्रत्येक रचना आज भी ताज्जुदम लगती है। उनके
 द्वारा सृजित वर्ष 1957 का यह गीत मुझे प्रभावित करता है, जिसकी कहन एवं कथ्य पाँच
 दशक के उपरांत भी संवेदित करने में सक्षम है—

किसने मुझसे गीत/ गीत से/
 मधुर-मधुर कल्पना छीन ली/
 किसने लक्ष्य चरण से मेरे/
 और हृदय से स्थिरता छीनी/
 छीन संग सहचर का मुझसे
 सुख-दुख की समस्वरता छीनी/
 यूँ अनथके चरण से/
 पथ पर/ बढ़ने की प्रेरणा छीन ली।
 किसने छीन लिया है मुझसे/
 जीवन का उल्लास/ अविकसित/
 रहने लगा हृदय अब केवल/
 विजन वास को ही लालायित/

किसने जिजीविषा की/
मुझसे चिर सक्रिय चेतना छीन ली/
स्वर क्यों मौन हो गए मेरे/
दबकर दुसह भार के नीचे/
सूख गए क्यों स्रोत, जिन्होंने/
कितने ही बंजर मन सींचे/
किसने शापित किया/ कि मेरी/
कोमल संवेदना छीन ली।¹⁰

ऐसे गीत, जो नवगीत की पूर्वपीठिका प्रतीत होते हैं और मानवीय संवेदना के सशक्त माध्यम हैं, इस संग्रह को अलंकृत करते हैं तथा भटनागर जी को कालजयी रचनाकार की संज्ञा से विभूषित करते हैं। जहाँ कठोर जीवन-संघर्ष उन्हें प्रतिगामी बनाने का आयोजन करता रहा, वहीं उनकी प्रबल जिजीविषा ने उनको प्रगतिशील रहकर लोकमंगल की उत्कट कामना से सक्रिय बनाए रखा है। 'ढाई आखर प्रेम के' गीत-संग्रह की उत्कृष्ट सामग्री एवं आकर्षक प्रस्तुति हेतु आदरणीय श्री शचींद्र भटनागर जी को कोटिशः बधाई।

संदर्भ

1. ढाई आखर प्रेम के, पृ० 23
2. वही, पृ० 27
3. वही, पृ० 29
4. वही, पृ० 31
5. वही, पृ० 38
6. वही, पृ० 39
7. वही, पृ० 41
8. वही, पृ० 80
9. वही, पृ० 99
10. वही, पृ० 127

□ विद्यायन, एस०एस० 108-109
सेक्टर ई, एल०डी०ए० कालोनी
कानपुर रोड, लखनऊ 226012
मो० 09450447579

रत्नाकर साहित्य का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन

अनीता पंडित, शोध-छात्रा

डॉ० लक्ष्मी अग्रवाल, शोध निदेशिका

हिंदी विभाग, दिगंबर जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बड़ौत (बागपत)

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (1866-1932 ई०) ब्रजभाषा के मूर्धन्य कवि के रूप में पर्याप्त ख्याति-प्राप्त रहे हैं। उनका प्रसिद्ध काव्य 'उद्धव-शतक' वर्षों तक पाठ्यक्रम में स्वीकृत रहने के कारण विश्वविद्यालय-स्तर पर पढ़ाया जाता रहा। यही नहीं, इस काव्य पर कई विद्वानों ने टीका-ग्रंथ भी लिखे हैं। रत्नाकर साहित्य पर शोध भी किए जा चुके हैं, किंतु ये सभी प्रयास साहित्यिक अध्ययन तक ही सीमित रहे।

रत्नाकर जी आधुनिकयुग के कवि थे, किंतु उनकी समग्र काव्य-संस्कृति मध्ययुगीन थी। इस संदर्भ में विद्वत्वर नंददुलारे वाजपेयी जी ने लिखा है—

'रत्नाकर जी की मनोवृत्ति मध्ययुग की-सी थी। वे मध्ययुग के ही वातावरण में रहते थे और अँग्रेजी पढ़कर भी उन्हें आधुनिकता में कोई रुचि न थी।' ¹

रत्नाकर ने 25 वर्ष की आयु में अँग्रेजी, फ़ारसी, फ़िलासफ़ी विषय लेकर सन् 1891 में बी०ए० किया था। विद्वानों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि बी०ए० करने से भी तीन वर्ष पूर्व उन्होंने ब्रजभाषा के स्तरीय काव्य-ग्रंथों का संग्रह तैयार कर लिया था। भारत जीवन प्रेस से सन् 1889 में प्रकाशित कवि-कुल-कंठाभरण की भूमिका में उन्होंने उक्त संदर्भ में निम्नवत् संकेत किया है—

'हिंदीभाषा के प्राचीन साहित्य-ग्रंथों के संग्रह करने में मेरी स्वाभाविक प्रीति रहती है और अनेक प्राचीन ग्रंथ मैंने ढूँढ-ढूँढकर इकट्ठे भी कर लिए हैं। इन ग्रंथों के प्रचारार्थ भी मैं यत्नवान रहता हूँ। किंतु हिंदू-जाति में अपनी भाषा में वैसी प्रीति आजकल पाई नहीं जाती, इसी से लाचार हूँ। जो भी हो, इस ग्रंथ को छोटा समझकर मैंने प्रकाशित किया है। यदि पाठकों की कुछ प्रीति देख पड़ेगी तो क्रमशः मैं और ग्रंथों को भी छपवाऊँगा।' ²

रत्नाकर जी ने संगृहीत भाषा-ग्रंथों की जानकारी नहीं दी। वे क्रमशः छापकर किन-किन ग्रंथों को प्रकाशित करना चाहते थे, इस ओर भी कोई संकेत उन्होंने नहीं किया, परंतु कंठाभरण के अंत में प्रकाशित विज्ञापन से अवश्य ही उक्त संदर्भ में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है—

विज्ञापन

'सर्वसाधारण काव्यरसिकों को विदित हो कि भाषा साहित्य-ग्रंथ कितने ऐसे अनमिल हो गए हैं कि उनका नाम तक भी लोग नहीं जानते और उनका पृथक् प्रकाशित

करना बड़ा ही कठिन ज्ञात होता है। इसलिए हम लोगों की यह इच्छा है कि भाषा के काव्य नाटक चंपू, भाण, प्रहसन, छंद, अलंकार इत्यादि साहित्य-ग्रंथों को मासिक पत्र रूप में प्रकाशित करें। सब लोग सुख से इनका संग्रह कर सकें। यह पत्र दो फार्म का रहेगा, बड़े-बड़े ग्रंथों (जैसे काव्यरसायन, काव्य-निर्णय, कविवल्लभ इत्यादि) के अंक पृथक्-पृथक् रहेंगे। जो अंत में एक पुस्तक बन जाएँगे। जिनको ग्राहक होना हो, वे अपना नाम-धाम नीचे के पते पर लिख भेजें। पं० विजयानंद जी, बाबू जगन्नाथदास, भदैनी, बनारस।' रत्नाकर द्वारा संगृहीत भाषा-ग्रंथों में काव्य-रसायन, काव्य-निर्णय, कवि-वल्लभ आदि रीतियुगीन स्तरीय ग्रंथ सम्मिलित रहे थे। इन्हें प्रकाशित कराना भी वे चाहते थे। रीतियुगीन स्तरीय काव्यग्रंथों का संकलन और उनका अध्ययन करने से रत्नाकर जी की रुचि मध्ययुगीन काव्य-संस्कृति में रम गई थी।

हिंदी साहित्य का संवत् 1700-1900 वीं की मध्यावधि का 200 वर्षों का समय रीतिकाल के नाम से अभिहित हुआ है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इसे अलंकारकाल कहना उचित माना। इस अवधि में शृंगारपरक ग्रंथों का प्रणयन बहुतायत से हुआ है। कुछ कवि राज्याश्रय प्राप्त करने में सफल रहे और उन्हें आश्रयदाताओं की रुचि के अनुरूप ग्रंथों का प्रणयन करना पड़ा। नायिका नखसिख वर्णन-संबंधी ग्रंथ भी रचे जाते रहे। अलंकार, रस, छंद-संबंधी लक्षण-ग्रंथों की परिपाटी भी लंबे समय तक आगे बढ़ती रही। बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने युगीन पद्धति पर यद्यपि लक्षण-ग्रंथ नहीं रचे थे, किंतु वे उनसे प्रभावित अवश्य ही रहे। उन पर सर्वाधिक प्रभाव 'बिहारी सतसई' का पड़ा, जिस पर बाद में उन्होंने 'बिहारी रत्नाकर' नाम से टीका भी लिखी थी।

कविकर बिहारी ने 'सतसई' नामक अपने अनूठे काव्य-ग्रंथ में शृंगार, भक्ति, नीति, वैराग्य, प्रकृति, ऋतु-वर्णन, अलंकार आदि कोई भी विषय ऐसा नहीं छोड़ा, जिसे सम्मिलित न किया हो। इसमें लक्षण नहीं हैं, लक्षणों से प्रभावित दोहे हैं। रत्नाकर जी के काव्य-ग्रंथों में भी लक्षण की अपेक्षा उदाहरण वैशिष्ट्य ही महत्वपूर्ण है, किंतु उनकी प्रारंभिक रचनाओं में लक्षण भी देखे जा सकते हैं। इस ओर विद्वान अधिक ध्यान नहीं दे सके, क्योंकि उनकी साहित्यिक प्रसिद्धि के आगे लक्षण-संबंधी संक्षिप्त और अल्प सृजन ऊपर नहीं उठ पाया। इसी कारण रत्नाकर-साहित्य का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन अभी तक उपेक्षित ही रहा।

रत्नाकर की काव्यशास्त्र-संबंधी रचनाएँ :

रत्नाकर जी ने अपने 'साहित्य सुधानिधि' मासिक के अंकों में अपनी निम्नलिखित रचनाएँ प्रकाशित की थीं—

1. साहित्य रत्नाकर का प्रथम खंड काव्य-निरूपण : यह लक्षण-ग्रंथ 'साहित्य सुधा-निधि' के अप्रैल से जुलाई सन् 1894 के अंकों में प्रकाशित किया गया था।
2. दोहा छंद का लक्षण : इसे उक्त पत्र के जुलाई 1894 के अंकों में प्रकाशित किया गया था।
3. दोहा और सोरठा छंद : रत्नाकर ने इसे अपने उक्त पत्र के अक्टूबर 1894 के अंक में प्रकाशित किया था।

इनके अतिरिक्त घनाक्षरी और सवैया छंदों पर भी अनेक लेख प्रकाशित हुए थे। 'समालोचनादर्श' नाम से उनकी एक स्वतंत्र रचना पुस्तकाकार रूप में सन् 1895 में प्रकाशित हुई थी। लक्षणों के अतिरिक्त इनकी समस्या-पूर्ति, हिंडोला, उद्धव शतक, शृंगार-लहरी, प्रकीर्ण पद्यावली आदि कई सहित्यिक काव्यकृतियों में रस, नायिका-भेद, नख-सिख-शृंगार-संबंधी उदाहरण वैशिष्ट्य काव्यशास्त्रीय दृष्टि से बड़े ही महत्त्व के हैं। इन सभी का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा, इसमें संशय नहीं है।

काव्यनिरूपण का काव्यशास्त्रीय अनुशीलन :

काव्यनिरूपण को प्रारंभ करते हुए रत्नाकर जी ने लिखा है—
हरि कवि ने सभा-प्रकाश में काव्य का यह लक्षण लिखा है—
रचना जो कवि बचन की ताहिं काव्य निर्धारि।
नीरस है पुनि होत है काव्य सुकवि सुविचार।³

इसकी समीक्षा में उन्होंने लिखा है कि काव्य का लक्षण कवि वचन की रचना करना ठीक नहीं, क्योंकि यदि कवि जी से पूछा जाए कि कवि का लक्षण क्या है, तो वे यह कहते कि जो काव्य करे और कोई जो यह कहे कि कवि चतुर को कहते हैं तो उससे यह प्रश्न है कि संसार में जितनी बातें हैं, सबमें जो चतुर हो, उसके वचन को रचना को काव्य कहना चाहिए या किसी एक विषय में चतुर की वचन रचना को? ⁴ आगे लक्षण का भी लक्षण उन्होंने यो दिया है—

मुख्य धर्म-वाचक लक्षण तिहि पद मांहि।
अति व्याप्ति, अव्याप्ति औ होय असंभव नाहि।⁵

तदनंतर 'काव्य-विलास' के चार लक्षणों की आलोचना भी उन्होंने की है। इस संदर्भ में उन्होंने आचार्य मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ के काव्य के लक्षणों की भी आलोचना की है। इसके बाद अपना काव्य का लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—

होय वाक्य रमणीय जो काव्य कहावे सोय।
रतनाकर लक्षण करत यह बहु ग्रंथनि जोय। ⁶

रत्नाकर जी ने पंडितराज के 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' लक्षण से 'वाक्य' पद लेकर ही अपना लक्षण तैयार किया लगता है। आगे उन्होंने कहा भी है—

'रमणीय शब्द का प्रयोग हमारे लक्षण में उसी अर्थ में किया गया है, जो अर्थ उसका पंडितराज ने किया है।' ⁷

शब्द रमणीय होगा तो अर्थ भी रमणीय होगा। तो क्या यहाँ शब्द और अर्थ दोनों ही की रमणीयता अभीष्ट है? विद्वानों को इधर ध्यान देना चाहिए।

प्रताप साहि के 'काव्य-विलास' में दिए काव्य के लक्षण तथा 'बिहारी सतसई' के कतिपय दोहों में दोष दिखाने के संदर्भ में आगे विचार किया जा रहा है इस नवीन, मौलिक तथा उपयोगी विषय की ओर भी विद्वानों को गंभीरतापूर्वक विचार करना होगा।

काव्यनिरूपण में रत्नाकर द्वारा प्रतापसाहि प्रणीत 'काव्य-विलास' में दिए काव्य के लक्षणों की, सूरति मिश्र के साहित्य-परिचय के लक्षण बताकर आलोचना करना— जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'साहित्य सुधानिधि' नामक अपने मासिक पत्र में अप्रैल से लेकर जुलाई सन्

1894 ई० तक के चार अंकों में 'साहित्य रत्नाकर का प्रथम खण्डकाव्य निरूपण' प्रकाशित किया था। इसमें उन्होंने काव्य के जिन चार लक्षणों को सूरति मिश्र के साहित्य-परिचय के लक्षण बताया है, वे वस्तुतः प्रतापसाहि प्रणीत 'काव्य-विलास' में दिए काव्य के लक्षण हैं। रत्नाकर ने ऐसा क्यों किया? यह विचार-सापेक्ष तो है ही, अनुसंधेय भी है।

रत्नाकर ने अपने उक्त मासिक पत्र 'साहित्य-सुधानिधि' की अब्द पूर्ति पर जो विवरण प्रकाशित किया है, उसमें 'साहित्य रत्नाकर' के विषय में निम्नवत् तथ्य प्रकाश में आ सका है—

| | | | |
|-----------------|---------------|--------------|-------------------|
| ग्रंथ का नाम | ग्रंथ कर्ता | पृष्ठ संख्या | विशेष |
| साहित्य रत्नाकर | रत्नाकर लिखित | 32 | प्रथम खण्ड समाप्त |

इस विवरण से यह स्वतः स्पष्ट होता है कि रत्नाकर द्वारा लिखित साहित्य-रत्नाकर का प्रथम खंड 32 पृष्ठों पर प्रकाशित हुआ था। प्रथम खंड से यह भी स्पष्ट और स्वतः सिद्ध होता है कि 'साहित्य-रत्नाकर' के और भी कई खंड थे। वे खंड कौन-कौन से थे? तथा बाद में वे कहाँ गए? इन प्रश्नों के उत्तर आज कहीं से भी नहीं मिल पा रहे हैं। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' अपने 'साहित्य-रत्नाकर' नामक ग्रंथ को अंत तक भी पूर्ण कर प्रकाशित क्यों नहीं करा सके? इसका सही और सटीक उत्तर देनेवाला आज कोई भी नहीं है।

मासिक पत्र में प्रकाशित ग्रंथ का शीर्षक और प्रथम वाक्य इस प्रकार है—

'श्री गोपीजन बल्लभाय नमः।

साहित्य रत्नाकर
काव्य निरूपण

काव्य के लक्षण के विषय में अनेक भिन्न-भिन्न मत हैं।'

इससे दो तथ्य सामने आए हैं। प्रथम तो यह कि काव्य निरूपण 'साहित्य-रत्नाकर' का प्रथम खंड है, जिसे 'साहित्य सुधानिधि' में रत्नाकर द्वारा प्रकाशित कराया गया था। दूसरा यह कि रत्नाकर को 'अनेक' शब्द का सही अर्थ और उसके सही प्रयोग करने की भी उस समय तक जानकारी नहीं थी। 'अनेक भिन्न भिन्न मत' इसका प्रमाण है। अनेक तो स्वतः बहुवचनसूचक शब्द है। इसके साथ 'भिन्न-भिन्न' का प्रयोग क्या व्यक्त करता है?

'साहित्य-रत्नाकर' के प्रथम खंड काव्य-निरूपण में उन्होंने काव्य के जिन लक्षणों को सूरति मिश्र के 'साहित्य-परिचय' के लक्षण बताकर उनकी आलोचना की है, वे लक्षण सूरति मिश्र के 'साहित्य-परिचय' के लक्षण नहीं हैं, अपितु प्रतापसाहि के 'काव्य-विलास' के लक्षण हैं। देखिए, रत्नाकर जी लिखते हैं—

'सूरति मिश्र ने 'साहित्य-परिचय' में काव्य के चार लक्षण लिखे हैं। एक एक पर पृथक् विचार किया जाता है—

(1)

गुण युक्त दूषण हीन जहं शब्द-अर्थ रमणीय।

स्वल्प अलंकृति काव्य को लक्षण कहि कमनीय।⁸

प्रतापसाहि कृत 'काव्य-विलास' में दिया काव्य का लक्षण—

गुण जुत सब दूषण रहित शब्द-अर्थ रमणीय।

स्वल्प अलंकृत काव्य को लक्षण कहि कमनीय॥5॥⁹

‘साहित्य-परिचय’ का दूसरा लक्षण रत्नाकर ने यों उद्धृत किया है। दूसरा लक्षण साहित्य परिचय में यह लिखा है—

(2)

अद्भुत वाक्य हिं तें जहां उपजत अद्भुत अर्थ।

लोकोत्तर रचना जहाँ, सो कवि काव्य समर्थ।¹⁰

प्रतापसाहि द्वारा ‘काव्य-विलास’ में दिया काव्य का लक्षण—

अद्भुत वाक्य हि तें जहां उपजत अद्भुत अर्थ।

लोकोत्तर रचना जहाँ सो कवि काव्य समर्थ॥9॥¹¹

‘साहित्य-परिचय’ का तीसरा लक्षण रत्नाकर ने निम्नवत् उद्धृत किया है—

रस युत व्यंग्य प्रधान जहँ शब्द-अर्थ सुचि होय।

उक्त युक्त भूषण सहित काव्य कहावै सोय।¹²

‘काव्य-विलास’ में प्रतापसिंह द्वारा प्रस्तुत निम्नलिखित लक्षण से इसकी तुलना कर देखिए—

रस युत व्यंग्य-प्रधान जहँ शब्द-अर्थ सुचि होय।

उक्त युक्त भूषण-सहित काव्य कहावै सोय॥10॥¹³

(4)

चौथा और अंतिम लक्षण साहित्य परिचय में यों दिया है—

जहं विभाव अनुभाव अरु संचारी पुनि आय।

करि विशिष्ट व्यंजना स्वाद बढ़ावहि भाय॥

तेहि आगे अनुभाव जो ब्रह्मानंद सवाद।

कवि कोविद मत समुझि उर कहत काव्य निरवाद॥¹⁴

प्रतापसाहि द्वारा ‘काव्य-विलास’ में दिया काव्य का लक्षण—

जहं विभाव अनुभव अरु संचारी पुनि होय।

करि विशिष्टता व्यंजना स्वाद बढ़ावहि जोय॥11॥

तिहिं आगे अनुभवत जो, ब्रह्मानंद सवाद।

कवि कोविद मत समुझि उर कहत काव्य निरवाद॥12॥¹⁵

उक्त विवरण से स्वतः स्पष्ट हो रहा है कि रत्नाकर ने काव्य-निरूपण में काव्य के जो चार लक्षण सूरति मिश्र के ‘साहित्य-परिचय’ के लक्षण बताए हैं, वे वस्तुतः प्रतापसाहि के ‘काव्य-विलास’ के लक्षण हैं। रत्नाकर ने बड़ी भारी भ्रामक और उलझनपूर्ण स्थिति साहित्य-जगत के लिए जान-बूझकर निर्मित की है। ऐसा करके उन्होंने अपना कौनसा टेढ़ा उल्लू सीधा कर लिया? विद्वान इधर गंभीरतापूर्वक ध्यान देंगे तो शायद उन्हें कुछ नया और मौलिक तथ्य हाथ आ जाए।

उक्त प्रकरण पर डॉ० आत्माराम शर्मा ‘अरुण’ ने लिखा है— ‘ध्यातव्य है कि सूरति मिश्र की रचनाओं में ‘साहित्य-परिचय’ नाम की कोई रचना उल्लिखित हुई नहीं मिलती।’

प्रतापसाहि ने 'काव्य-विलास' की रचना संवत् 1886 वि० में की थी। जबकि रत्नाकर जी के अनुसार सूरति मिश्र का जन्म संवत् 1741 वि० में अर्थात् 'काव्य-विलास' की रचना से लगभग 145 वर्ष पूर्व हुआ था। ऐसी स्थिति में सूरति मिश्र द्वारा प्रतापसाहि के 'काव्य-विलास' में दिए काव्य के लक्षणों की आलोचना करने का प्रश्न ही नहीं उठता¹⁶ फिर यह संभव कैसे हुआ! आश्चर्य तो यह जानकर होता है कि 'रत्नाकर' जी स्वयं भी यह स्वीकार नहीं कर पाते कि उन्होंने 'काव्य-निरूपण' में सूरति मिश्र के 'साहित्य-परिचय' में दिए लक्षणों की आलोचना की थी। 'साहित्य-परिचय' किसकी रचना है? यह भी रत्नाकर को स्मरण नहीं आया। वे मात्र इतना ही कहना उपयुक्त समझते हैं—

'हमको स्मरण होता है कि 'साहित्य-परिचय' नाम का एक छोटा-सा ग्रंथ हमने किसी प्राचीन कवि का बनाया हुआ देखा था।'

इधर विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया है। तो क्या यह हिंदी का दुर्भाग्य ही नहीं है?

'साहित्य-रत्नाकर' का प्रथम खंड काव्यनिरूपण तो रत्नाकर ने 'साहित्य-सुधानिधि' के सन् 1894 ई० के अंकों में क्रमशः प्रकाशित करा दिया था। इसके अन्य खंड कौन-कौन से थे? उन्हें क्यों नहीं प्रकाशित कराया गया? वे खंड बाद में कहाँ गए? सत्यता यह है कि 'काव्य-निरूपण' उनका रचा हुआ ही नहीं है। ऐसे स्थिति में, पोल खुल जाने के भय से वे सब गोल-मोल कर गए। 'काव्य-विलास' की रचना के बाद किसी समकालीन विद्वान ने इसमें दिए काव्य के लक्षणों की अन्य विद्वान के ग्रंथ में दिए लक्षणों से तुलना की होगी और उनकी वह रचना रत्नाकर के हाथों पड़कर उन्हीं की होकर रह गई। डॉ० भगवतस्वरूप मिश्र भी, लगता है इसी मत के पोषक हैं। वे लिखते हैं— 'प्रतापसाहि के शिष्य एवं भरतेंदुयुग के प्रमुख कवि सरदार कवि ने संवत् 1919 में 'व्यंग्य-विलास' की रचना की थी। इस पर व्यंग्यार्थ कौमुदी का स्पष्ट प्रभाव है। संवत् 1905 में संकलित 'शृंगार संग्रह' में भी प्रतापसाहि के छंद हैं। इसी समय रचे गए 'मानस-रहस्य' को सरदार कवि ने कुलपति मिश्र के 'रस-रहस्य' एवं प्रतापसाहि के 'काव्य-विलास' के सिद्धांतों पर परखा है।'¹⁷ लगता है यही अथवा इसी तरह की कोई प्राचीन प्रति रत्नाकर जी को मिली हो।

'काव्य निरूपण' में बिहारी के दोहों में दोषारोपण तथा 'बिहारी रत्नाकर' में दिए अर्थों का तुलनात्मक अध्ययन : इस संदर्भ में कथनीय है कि 'साहित्य-रत्नाकर' के प्रथम खंड 'काव्य निरूपण' में बिहारी के दोहों पर जो दोषारोपण किया गया है, वह बिहारी रत्नाकर में कहीं भी दिखाई नहीं दे पा रहा है। देखिए—

1. **काव्य निरूपण :** बिहारी के दोहे में च्युत संस्कृति दोष दिखाते हुए भी रत्नाकर जी उसे ध्वनि होने के कारण उत्तम काव्य स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

'यदि काव्य होने के हेतु ववाक्य का निर्दोष होना आवश्यक ही हो तो फिर बिहारी का यह दोहा—

सुधर सौतिबस पिय सुनत तिय मन दुगन हुलास।

लखी सखी तन दीठी दे सगर्व, सलज, सहास।।

काव्य न होगा, क्योंकि इसके दूसरे चरण में च्युत संस्कृति दोष पड़ता है। लखी के स्थान पर लख्यो होना चाहिए। परन्तु हमको दृढ़ विश्वास है कोई सहृदय इस दोहे को काव्य

न होना स्वीकार न करेगा, प्रत्युत ध्वनि होने के कारण इसको लोग उत्तम काव्य मानेंगे। इसमें संदेह नहीं कि इतनी बात इसके विषय में कही जाएगी कि नेक सा दूषण इसमें खटकता है। यदि लखी के स्थान पर लख्यो होता तो बहुत अच्छा होता। पर जो कुछ हो, काव्य बड़ा सुंदर किया है।'¹⁸

बिहारी रत्नाकर में उक्त दोहे की व्याख्या में इस प्रकार की गई है—

‘अवतरण : नई ब्याह कर आई हुई रूपगुण-गर्विता नायिका ने नायक को सुघर सौत के वश में सुनकर अपनी प्रसन्नता प्रगट की। कारण उसने सोचा कि यदि नायक की सुघर नायिका के वश होने की बात है तो मैं उसे अवश्य ही वश में कर लूँगी, क्योंकि मुझसे बढ़कर सुंदर तथा सुघर कौन हो सकती है?

सखी बचन सखी से—

अर्थ : प्रियजन को सुघर सौत के वश में सुनकर दुलहिन ने दूने हुलास (उमंग) से (अपने) शरीर पर सगर्व (अभिमान सहित) सलज (लज्जा) युक्त तथा सहास (मुस्कराहट के साथ) दृष्टि डालकर सखी को देखा।

सगरब से सौंदर्य, सलज के यौवन का ज्ञान, तथा सहास से सौत के गुणों का उपहास व्यंजित होता है।’

यदि ‘साहित्य रत्नाकर’ का प्रथम खंड काव्य निरूपण सचमुच जगन्नाथदास रत्नाकर का लिखा हुआ होता तो उसमें वर्णित कथित दोषारोपण का न्यूनाधिक विवरण ‘बिहारी-रत्नाकर’ के आलोच्य दोहे की व्याख्या में अवश्य ही उपलब्ध हुआ होता है।

2. काव्य निरूपण : बिहारी के दोहों में लक्षण की अव्याप्ति बताते हुए काव्य-निरूपण में कहा गया है—

‘..... ऐसे वाक्य में, जिससे शब्दों का क्रम साधारण ही हो, लक्षण की अव्याप्ति होती है। जैसे कि बिहारी के इस दोहे में—

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोया।

जा तन की झाई परे, स्याम हरित दुति होया।’¹⁹

बिहारी सतसई में इस दोहे के तीन अर्थ उल्लिखित हुए हैं। परंतु उनमें किसी भी अर्थ के साथ ‘लक्षण की अव्याप्ति’ का होना नहीं दिखाया गया है। यहाँ भी दोनों में उसी प्रकार का अंतर है जैसा विभिन्न लेखकों के लेखन में प्रायः पाया जाता है।

3. काव्य निरूपण : सतसई के उक्त दोहे में लक्षण की अव्याप्ति बताने के क्रम में आगे फिर कहा गया है।

‘..... ऐसे काव्य-विषय, जिसमें वर्ण-मैत्री, अनुप्रासादि न हो, लक्षण की अव्याप्ति होती है। जैसे बिहारी के इस दोहे में—

दीठी बरत बाँधी अटनि चढ़ि धावत न डरात।

इत उत ते तन दोउन के नट लौ आवत जात।।

इस दोहे में यद्यपि दो शब्द बरत और बाँधी बकार से प्रारंभ हुए हैं, पर यह मैत्री किसी गिनती में नहीं है।’¹

बिहारी रत्नाकर में उक्त दोहे की व्याख्या में लिखा गया है—

अवतरण : नायक-नायिका अपनी-अपनी अटारियों पर खड़े एक-दूसरे को देख रहे हैं, और दोनों के मन दोनों की ओर दृष्टि द्वारा जाते हैं। इसी का वर्णन इस दोहे में रस्सी पर दौड़ते हुए नट का रूपक बाँधकर किया गया है। सखी वचन सखी से—

अर्थ : (दोनों ने अपनी अपनी) अटारी से (दूसरे की अटारी तक) दृष्टि रूपी रस्सी बाँध रखी है। (उस पर) चढ़कर दोनों के मन दौड़ने से डरते नहीं (और) नट की भाँति उधर जाते हैं।

रस्सी पर चलने वाले नट दो बाँस गाड़कर उनमें रस्सी बाँध देते हैं और उन पर चढ़कर बेखटके उधर-से-इधर और इधर-से-उधर आते-जाते हैं।

नायक नायिका के मन के पक्ष में न डरात का अर्थ होगा किसी के देख लेने की शंका नहीं करते।’

उक्त दोहे की व्याख्या में ‘काव्य-निरूपण’ में बताई गई लक्षण में ‘अव्याप्ति’ का संकेत न मिलने का स्पष्ट कारण यही है कि दोनों रचनाएँ भिन्न विद्वानों की रची हुई हैं। अतः ‘काव्य-निरूपण’ को रत्नाकर-प्रणीत नहीं माना जा सकता।

4. काव्य निरूपण : दोहे में लक्षण की अव्याप्ति बताते हुए आगे कहा गया है—

‘काव्य में अद्भुत अर्थ का नियम करने से ऐसे काव्य में, जिसमें स्वाभावोक्ति प्रधान होती है, लक्षण की अव्याप्ति होगी, जैसे बिहारी के इस दोहे में—

बेंदी भाल तमोल मुख सीस सिलसिलेवार।

दृग आजै राजै खरी एही सहज सिंगार।।

इस प्रकार से और भी कितने ही दोहों में अव्याप्ति समझनी चाहिए।’²⁰ बिहारी रत्नाकर में इस दोहे का अर्थ निम्नवत् किया गया है—

‘अवतरण : नायिका स्नान करके सहज शृंगार में स्थित है। उस समय ही उसकी शोभा सखी नायक से कहकर उसको उसके पास लाना चाहती है।

अर्थ : भाल पर बेंदी, मुख में तांबूल, सिर पर भीगे हुए बाल (और) आँजे हुए दृग, इन्हीं सहज शृंगारों से (वह इस समय) खरी (पूर्ण रूप से) राजती (सुशोभित) है।’

इस दोहे का अर्थ करते समय भी कहीं अव्याप्ति दोष का उल्लेख नहीं किया गया है जैसा कि पूर्वोक्त ‘काव्य-निरूपण’ के पक्ष में द्रष्टव्य है। स्पष्ट ही है कि ‘काव्य-निरूपण’ रत्नाकर द्वारा रचा हुआ नहीं है।

5. काव्य निरूपण : सतसई के दोहों में लक्षण के लक्ष्य रस का अभाव बताते हुए काव्य निरूपण में कहा गया है कि—

‘यदि इन (साहित्य-दर्पण, सभा-प्रकाश और रस-रहस्य में दिए काव्य के) लक्षणों पर ध्यान देने के पश्चात् निम्नलिखित कविताओं पर विचार किया जाए तो निस्संदेह यह कहना पड़ेगा कि इनमें उक्त लक्षणों के लक्ष्य रस का अभाव है—

बसै बुराई जासु तन ताही को सनमान,

भलो भलो कहि छाँड़िये खोटे ग्रह जप-दान।

नल की औ’ नल-नीर की गति एके करि जोय,

जेतो नीचो ह्वै चलो तेतो ऊँचो होय।

इन दोहों के पढ़ने ही से जो आनंद होता है, वह केवल ऐसी बातों के, जो कि बहुत ठिकाने ठीक होती हैं, अलंकारादि द्वारा दृढ़ होने के कारण होता है।’²¹

बिहारी रत्नाकर में उक्त दोहों के मात्र अर्थ ही दिए गए हैं। लक्ष्य रस के अभाव की चर्चा कहीं भी, किसी भी दोहे के अर्थ में नहीं की गई।

‘साहित्य-रत्नाकर’ के ‘काव्य-निरूपण’ खंड में ‘बिहारी सतसई’ के दोहों के विषय में जो-जो लिखा गया है, वह वह किसी भी रूप में आलोच्य दोहों के अर्थ में, बिहारी रत्नाकर में कहीं भी नहीं लिखे गए। इससे स्पष्ट ही है कि ‘काव्य निरूपण’ रत्नाकर की रचना नहीं है।

‘मिश्रबंधुद्वय’ के लेख की आलोचना में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने लिखा है- ‘पंडित श्यामबिहारी मिश्र एम०ए० और पंडित सुखदेवबिहारी मिश्र बी०ए० महाशयों ने सरस्वती के प्रथम भाग की बारहवीं वृष्टि में हिंदीकाव्य आलोचना शीर्षक भूमिबंध लिखा है। उक्त प्रबंध से उक्त महाशयों का मुख्य अभिप्राय यही है ‘इससे काव्य-प्रणाली एक प्रकार से स्थिर और निर्धारित हो जाए।’ बात तो बहुत अच्छी है, पर हमें खेद के साथ कहना पड़ता है कि उक्त लेख से उक्त महाशयों का वह अभिप्राय किंचिद् मात्र भी सिद्ध न हो सका, वरन् नवशिक्षित काव्यरसिकों को उलझन में डालने का एक उपक्रम हुआ। अतएव हम उक्त महाशयों के उक्त प्रबंध का निराकरण करना आवश्यक समझते हैं, जिसमें काव्य के वे रसिक, जो इसके निगूढ़ तत्त्व को पूर्ण रीति से नहीं जानते, उक्त महाशयों के निर्धारित लक्षण गुण-दोष को भली-भाँति समझ लें। आलोच्य लेख के मूल विषय की ओर आकर्षित होते हुए आगे पं० किशोरीलाल गोस्वामी जी लिखते हैं-

‘जब बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) ने ‘साहित्य-रत्नाकर’ (काव्य निरूपण खंड) में काव्य के यथार्थ लक्षण को पूर्ण रीति से निर्धारित कर दिया है तो फिर मिश्र जी का यह कहना कि ‘काव्य का कोई लक्षण तक अद्यपि पूर्ण रूप से संस्थापित नहीं है।’ अनुचित है।

उक्त प्रबंध के पढ़ने से जान पड़ता है कि मिश्र जी ने रत्नाकर जी के काव्य निरूपण खंड को देखा है, परंतु यदि वे ‘काव्य निरूपण खंड’ को मनोनिवेशपूर्वक पढ़कर उसके विमूढ़ तत्त्व को हृदयंगम करने में समर्थ होते, तो उन्हें काव्य के यथार्थ लक्षण के लिए न तो स्वयं श्रम स्वीकार करना पड़ता और न निजकृत लक्षण की भूल-भुलैया में आप ही आप भटकना पड़ता।’

पं० किशोरीलाल गोस्वामी जी के उक्त आरोपों का सटीक उत्तर देते हुए उनके उक्त लेख की समीक्षा में मिश्र बंधुओं का लेख अप्रैल 1901 की सरस्वती में छपा है, इसमें मिश्र बंधु जी लिखते हैं-

‘हिंदीकाव्य आलोचना शीर्षक से हमने एक लेख सरस्वती के प्रथम भाग की बारहवीं संख्या में प्रकाशित किया था। उसी पत्रिका के द्वितीय भाग की प्रथम संख्या में पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने उसकी समीक्षा लिखी है। उसमें वह लिखते हैं- ‘जब बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने ‘साहित्य-रत्नाकर’ के काव्य के यथार्थ लक्षण को पूर्ण रीति से निर्धारित कर ही दिया है तो फिर मिश्र जी का यह कहना कि काव्य का यथार्थ लक्षण तक अद्यपि पूर्ण रीति से संस्थापित नहीं है, अनुचित है।’ परंतु हमने तो रत्नाकर जी कृत लक्षण

को अशुद्ध समझ उसका खंडन ही किया था, तब हम उसे पूर्ण रीति से संस्थापित कैसे मान लेते? ऐसी दशा में हमारा कथन गोस्वामी जी को अनुचित कैसे जान पड़ा?

इसके बाद पं० किशोरीलाल गोस्वामी भी सदा के लिए शांत होकर बैठ गए। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' तो उक्त प्रकरण में आदि से लेकर अंत तक कहीं भी सामने आने का साहस न कर सके। वे एक आंतरिक अज्ञात भय से आक्रांत बने रहे। उनकी स्वार्थपूर्णता और उपेक्षावृत्ति के शिकार केवल प्रतापसाहि ही नहीं, अपितु और भी कई ग्रंथकार हुए हैं। इनके विषय में विस्तार से अन्यत्र लिखा जाएगा।'

संदर्भ

1. श्री नंददुलारे वाजपेयी, हिंदी साहित्य बीसवीं शताब्दी, पृ० 56
2. जगन्नाथदास रत्नाकर, कंठाभरण की भूमिका, पृ० 2
3. साहित्य सुधा निधि, अप्रैल 1894, पृ० 1
4. वही, वही, पृ० 2
5. वही वही, पृ० 3
6. साहित्य सुधा निधि जुलाई अंक, पृ० 25
7. वही, पृ० 26
8. साहित्य सुधानिधि, अप्रैल 1894, पृ० 4
9. काव्य विलास (डॉ० अरुण द्वारा संपादित) पृ० 71
10. साहित्य सुधानिधि, जून 1894 ई. पृ० 14
11. काव्य विलास (डॉ० अरुण द्वारा संपादित) पृ० 71
12. साहित्य सुधानिधि, मई 1894 ई. पृ० 10
13. काव्य विलास (डॉ० अरुण द्वारा संपादित) पृ० 71
14. साहित्य सुधानिधि, जून 1894 ई. पृ० 19
15. काव्य विलास (डॉ० अरुण द्वारा संपादित), पृ० 72
16. काव्य विलास, प्रारंभिकी, पृ० 38
17. डॉ० भगवत्स्वरूप मिश्र, हिंदी आलोचना : उद्भव एवं विकास, पृ० 223
18. साहित्य सुधानिधि, मई 1894 पृ० 6-7
19. साहित्य सुधानिधि, मई 1894, पृ० 11
20. वही,
21. वही, पृ० 16

□ सी 4/30 गली नं० 3
जीवन ज्योति स्कूल के पास
सादतपुर, करावल नगर
दिल्ली ११००९४
मो० 09899928631

डॉ. कुँअर बेचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदना

अनुराग शर्मा, शोधछात्र

ऊपर लेबिल अमृत का है

भीतर भरा जहर।

जिस बोटल में कैद हुआ हूँ उसका नाम शहर।

—उसका नाम शहर, पृ० 102 डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत

उपरिलिखित अंश, हिंदी नवगीतों के श्रेष्ठतम गायक डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों में निहित महानगरीय संवेदनाओं का व्यापकता व गहराई से वर्णन करता है। नवगीत ने विषयवस्तु की दृष्टि से, महानगरीय संवेदनाओं को सदैव सर्वोच्च प्राथमिकता दी है, फिर चाहे वह 'निरालाजी' के समय से नवगीत-धारा का वैचारिक स्तर पर हल्के-फुल्के उत्थान का काल हो या फिर तथ्यात्मक दृष्टि से सन् 1957 का वीरेंद्र मिश्र द्वारा विधिवत् नवगीत के जन्म की घोषणा का काल हो। महानगरीय संवेदनाओं की जो वर्णन-यात्रा नवगीतों में वीरेंद्र मिश्र, शंभूनाथ सिंह व बालस्वरूप राही के समय प्रारंभ हुई थी, उसकी कमान को डॉ० कुँअर बेचैन दृढ़ता से थामे हुए हैं।

'महानगरीय संवेदना' अत्यंत व्यापक आयामों को समेटे हुए है, जिसमें व्यक्तिपरक एवं मनोवैज्ञानिक महानगरीय संवेदनाएँ, परिवारपरक संवेदनाएँ, समाजपरक संवेदनाएँ, धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेशजन्य महानगरीय संवेदनाएँ, भौतिक व आर्थिक परिवेशजन्य महानगरीय संवेदनाएँ एवं राजनीतिक परिवेशजन्य संवेदनाएँ प्रमुखतः सम्मिलित हैं। सच यह है कि महानगरीय संवेदनाओं को जिस-जिस स्तर पर डॉ० कुँअर बेचैन ने अनुभूत किया और नवगीतों के रूप में उनको अभिव्यक्ति दी, वही सब-कुछ नवगीतों में महानगरीय संवेदनाओं की विषयवस्तु बनता चला गया।

महानगरीय संस्कृति ने सर्वप्रथम व सर्वाधिक चोट 'व्यक्ति के मनोविज्ञान' पर की है, जिसका वर्णन करते हुए डॉ० कुँअर बेचैन लिखते हैं—

'हाँ, आधुनिकता के इस पथरीले मौसम में रिशतों की महक हाथ से छूटती जा रही है, संबंध पथरा रहे हैं, संवेदनाएँ शून्यता के घेरे में बंद होना चाह रही हैं, छलकन रेत में डूब रही है, चेहरे सपाट होते जा रहे हैं, मोर-पंख सुलग रहे हैं ...।'

—भूमिका, पृ० 8, झुलसो मत मोरपंख : डॉ० कुँअर बेचैन, अगस्त 1990

इस अवस्था में वयैक्तिक स्तर पर उत्पन्न अजनबीपन, अकेलेपन, संत्रास, तनाव, कुंठा, आक्रोश आदि मानसिक स्थितियों को डॉ० कुँअर बेचैन अपने नवगीतों में स्थान प्रदान करते हैं। इस संबंध में डॉ० कुँअर बेचैन का एक उद्धरण द्रष्टव्य है, जिसमें उन्होंने सफलतापूर्वक प्रतिपादित

किया है कि किस प्रकार महानगरीय संवेदनाओं का कुप्रभाव, व्यक्ति के मनोविज्ञान पर पड़ता है व किस प्रकार यह व्यक्ति के व्यक्तित्व का अभिन्न हिस्सा बन जाता है—

लंबी प्यास। मुखौटे चेहरे।
सूखी हँसी। ढोंग। मुस्कानें।
हिलते हाथ। थके संबोधन।
अजनबियत। भूली पहचानें।
जलती आँख। सुलगते सपने।

—महानगर : एक शब्द-चित्र, पृ० 103, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत इसी संबंध में एक विशेषता और प्रकट होती है कि डॉ० कुँअर बैचैन महानगरीयता से उत्पन्न संत्रास व कुंठा को कहीं से भी गढ़ते प्रतीत नहीं होते अर्थात् उनके वर्णन में रंचमात्र भी कृत्रिमता नहीं है। उन्होंने वास्तविक जीवन में जिन साधारण एवं विशिष्ट व्यक्तित्वों को देखा, उनकी मनेवैज्ञानिकता का सफल 'एक्स-रे' उन्होंने महानगरीय संवेदनाओं के अपने साहित्यानुसंधान के अंतर्गत किया है। यहाँ पर शहरी जीवन की देन उस कुंठा का सफल चित्रण उन्होंने किया है, जिसमें व्यक्ति अपने में ही डूबा रहता है, बाहरी संबंधों के प्रति वह नकारात्मक रुख अपना लेता है—

दीवारों से सिर टेके
कुंठाओं के घर में
खड़े रहे ले मौन उदासी
साँसों के स्वर में

जिसने भी हमको छोड़ा, स्वर बदल गया अपना
जैसे नहीं आदमी, अधट्टा सितार हों हम।

—जैसे नहीं आदमी, पृ० 114, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत डॉ० कुँअर बैचैन ने अपने नवगीतों में महानगरीय के एक और प्रभाव 'अजनबीपन' को प्रभावी ढंग से उकेरा है कि किस प्रकार यह मनुष्यता और भोलेपन का हरण कर लेता है। यह उदाहरण देखिए—

अधर-अधर को ढूँढ रही है
यह भोली मुस्कान
जैसे कोई महानगर में
ढूँढे नया मकान।

—ढूँढे नया मकान, पृ० 17, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत कहा जाता है कि व्यक्ति से समाज बनता है, तदनंतर राष्ट्र का व अन्य स्वरूपों का निर्माण होता है। डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदनाओं के स्वरूप का अन्वेषण करने पर भी यही प्रवृत्ति उजागर होती है कि महानगरीय संवेदनाएँ किस प्रकार क्रमशः व्यक्ति से राष्ट्र के स्तर पर अपना प्रभाव डालती हैं। महानगरीय संवेदनाओं के इसी क्रम को आगे बढ़ाएँ तो वह स्तर हमारे समक्ष उपस्थित होता है, जिसमें इन महानगरीय संवेदनाओं के प्रभाव के कारण 'परिवार' नामक संस्था की टूटन व इसके अंतर्गत आने वाले

संबंध दम तोड़ते दिखाई पड़ते हैं। ऐसे नवगीतों में डॉ० कुँअर बैचैन के निजी जीवन के संघर्षों का पुट भी हमको प्राप्त होता है। डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत स्पष्ट करते हैं कि जब व्यक्ति का अंतर्मन ही महानगरीय कृत्रिमता की भेंट चढ़ चुका हो, तो परस्पर संबंध क्यों न 'कागज़ के फूल' बनेंगे? हम उनमें सुगंध की अपेक्षा कैसे कर सकेंगे।' महानगरीय संवेदनाओं के प्रभाव ने इन पारिवारिक रिश्तों को किस कदर खोखला किया है, इसकी कुछ बानगी देखिए—

जिसे बनाया वृद्ध पिता के श्रम जल ने
दादी की हँसुली ने, माँ की पायल ने
उस सच्चे घर की, कच्ची दीवारों पर
मेरी टाई टँगने से कतराती है।

साड़ी-टाई बदलें, या घर बदलें
प्रश्नचिन्ह नित और बढ़ा होता जाता
कारण केवल यही, दिखावों से जुड़ हम
तोड़ रहे अनुभूति, भावना से नाता।

—संक्रमण, पृ० 99, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

कैसी विडंबना है
जिस दिन ठिठुर रही थी
कुहरे-भरी नदी में, माँ की उदास काया।
लानी थी गर्म चादर, मैं मेजपोश लाया।

—चेतना उपेक्षित है, पृ० 97, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

ऐसा नहीं है कि महानगरीय संस्कृति एवं शहरीकरण ने सिर्फ रक्त-संबंधों में ही रिक्तता भरी हो, वरन् प्रेम की पवित्र भावना भी अब 'मजबूरी' नामक सौतन को साथ रखने को विवश है। यथा—

अर्थहीन संबंध हुआ अब
तेरे मेरे प्यार का।
जैसे एक पुराना कागज़
फटे हुए अखबार का।

—जैसे एक पुराना कागज़, पृ० 90, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

या फिर,

कल स्वयं की व्यस्तताओं से निकालूँगा समय कुछ
फिर भरूँगा खुद तुम्हारी माँग में सिंदूर
मुझे माफ़ करना
आज तो इस वक्त काफ़ी देर ऑफिस को हुई है।

—मध्यवर्गीय पत्नी से, पृ० 107, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

जब वयैक्तिकता एवं पारस्परिक रिश्ते आधुनिकता के प्रभाव में कृत्रिमता की बलिवेदी पर होम हो जाते हैं, तो समाज नाम का ढाँचा भी स्वयं की रक्षा नहीं कर पाता है।

वह भी छिन्न-भिन्न हो जाता है। इस पहलू के आधार पर डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों का हमको उनके नवगीत दो आयामों से युक्त दिखते हैं। प्रथम प्रकार के नवगीतों में (जो समाज रूढ़ियों में कैद है, उसे महानगरीय संवेदनाओं के सकारात्मक पक्षों से लैस कर) रूढ़ियों का विरोध प्राप्त होता है—

दकियानूसी समाजों को
आदमखोर रिवाजों को
अपने घर से
'गेट-आउट' कह
दूँ यदि मैं दुतकार
बुरा मत मानना।

—लेकिन बासी फूल न बदले, पृ० 150, डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत
द्वितीय में कवि का मन, महानगरीय संस्कृति के कुप्रभावों से समाज की श्रेष्ठ
परंपराओं को अपवित्र व नष्ट होने से बचाने के लिए भी अकुलाता है—

सड़कों तक आवारागर्दी,
गलियों तक गाली,
पक्के आँगन तक भी आ पहुँची गंदी नाली,
कैसे रखें सुरक्षित अपनी गंध को,
सोंधी-सोंधी गंधों वाले घर।

—कैसे सुरक्षित रखें अपनी गंध को, पृ० 145, डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत
इसके साथ ही डॉ० कुँअर बेचैन अपने नवगीतों में यह तथ्य भी प्रतिपादित करते हैं
कि महानगरीय संवेदनाओं के रूखेपन से समाज मात्र वयैविकता या रिशतों की टूटन के
कारण ही नहीं बिखरता है, वरन् आधुनिकता की दीमक सबसे पहले समाज रूपी वट-वृक्ष
की उन धार्मिक, सांस्कृतिक व नैतिक मूल्यों की जड़ों को चट कर जाती है, जिन पर वह
टिका होता है। यथा—

जिस रोज़ से
पछवा चली
आँधी खड़ी है गाँव में
उखड़े कलश, है कँपकँपी
इन मंदिरों के पाँव में।

—जिस रोज़ से पछवा चली, पृ० 96, डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत
दरवाजे तोड़-तोड़कर
घुस न जाएँ आँधियाँ मकान में
आँगन की अल्पना सँभालिए।

—आँगन की अल्पना सँभालिए, पृ० 95, डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत
डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों से स्पष्ट होता है कि आधुनिकता का यह प्रभाव
संस्कृति को इस कदर खोखला बना रहा है कि अपनी आस्थाएँ व मूल्य हमें उन पाश्चात्य

व शहरी मूल्यों की तुलना में अत्यंत सस्ते व बोझिल लगते हैं, जिनमें न प्यार है, न वफ़ा और न ही किरदार है। इसी कारण वे इस संस्कृति को 'बागी हुई लड़की' की संज्ञा भी देते हैं—

छोड़कर अपनी
पुरानी रूढ़ियों के घर
आस्था, अनुशासनों के
बाँधकर बिस्तर
फिर बढ़ा नाखून लंबे, खोलकर निज केश
आ गई जो खुद बगावत की नदी के देश
ज़िंदगी है आजकल बागी हुई लड़की।

—ज़िंदगी है आजकल, पृ० 128, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदना एक महत्त्वपूर्ण आयाम है—
भौतिक व आर्थिक परिवेश। उनके नवगीतों में स्पष्ट है कि जिस आधुनिकता व महानगरीय संवेदनाओं ने हमारी वयैक्तिकता, रिश्तों, संस्कृति व समाज को इतना प्रभावित किया है, तो आखिर उसके स्वयं के द्वारा निर्मित ढाँचा किस प्रकार का है। डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों में इसे हम दो रूपों में देखते हैं— प्रथम महानगरीय संवेदनाओं के अनुरूप जो भौतिक ढाँचे शहर में खड़े हो गए हैं व सड़कें, बिजली, बसें, बाज़ार, भीड़, होटल, झुग्गी-झोंपड़ी, टावर आदि जिसके मूक प्रतिनिधि हैं। यथा—

गर्मी। रेत। शुष्कता। मरुथल।
और हाँफते हुए आदमी।
सड़कें। बसें। धुआँ। आवाज़ें।
भागमभाग चटखती भीड़ें।
दीवारें। पोस्टर। विज्ञापन।
नंगी-अधनंगी तस्वीरें।
बस। रफ़्तार। पीठा। दुर्घटना।
और काँपते हुए आदमी।

—महानगर : एक शब्द चित्र, पृ० 103, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

दूसरे इन महानगरीय संवेदनाओं ने किस संस्कृति का निर्माण किया है। डॉ० कुँअर बैचैन ने एक तरफ़ तो यह स्पष्ट किया है कि महानगरीय संवेदनाओं ने किस प्रकार हमारी ग्राम्य संस्कृति को नष्ट कर दिया है, इसके साथ ही वे यह भी बताते हैं कि महानगरीय संवेदनाएँ किस प्रकार की संस्कृति गढ़ रही हैं। नवगीतकार के नवगीतों का इस संदर्भ में अध्ययन करने से हमें पूँजीवाद, मशीनीकरण, उपभोक्तावाद, महँगाई, रिश्वत, ऑफ़िस नकलीपन, उच्च व निम्न मध्यवर्गीय चेतना आदि सांस्कृतिक रूप प्राप्त होते हैं—

ऑफ़िस के दरवाज़ों पर
कौन कह रहा चपरासी?
भारी-भारी तोपें हैं।
कुछ कागज़ के नोटों से

इनके मुँह खुल जाते हैं,
वजन कुर्सियों के,
इनकी बातों से तुल जाते हैं।

—भारी-भारी तोपें हैं, पृ० 42, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों में महानगरीय संस्कृति द्वारा विनिर्मित ढाँचे पर कितनी
सूक्ष्म दृष्टि डाली गई है, इसका अंदाज़ा इस बात से ही ले जाता है कि उन्होंने महानगरीय
संवेदनाओं के नकारात्मक ही नहीं वरन् सकारात्मक पक्षों का भी खुलकर वर्णन किया है। इस
क्रम में वे यह याद दिलाना नहीं भूलते कि महानगर ही आज 'आजीवन शिरोमणि' बन गए हैं—

महानगर—
गंगा-सागर।
आस-पास के
ग्राम शहर सब
जहाँ रोज़ भरने आते हैं
अपनी रोज़ी की
गागर।

—महानगर, पृ० 80, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
महानगरीय संस्कृति ने राजनीति पर कितना प्रतिकूल प्रभाव डाला है, इसका सूक्ष्म
विश्लेषण भी डॉ० कुँअर बैचैन ने अपने नवगीतों में किया है। राजनीति ने गांधीवादी व
सर्वोदयी संस्कृति को तिलांजलि देकर जिस नीति को अपना लिया है, उसका वर्णन नवगीत
में इस प्रकार किया गया है—

मेजों पर—
खोदकर अखाड़े
लड़ती है राजनीति आज की।
नीति ले
कबूतर औ' बाज की।

—झूठे सब गिनतियाँ-पहाड़े, पृ० 46, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
राजनीति की इस चाल-ढाल का संपूर्ण परिवेश पर जो विषाक्त प्रभाव पड़ा है,
उसका इतना सजीव वर्णन और कहाँ मिलेगा—

जीवन में कुछ बैठ गई है
राजनीति ऐसी
आज झूठ के साथ चल रहे सच के अन्वेषी,
साँसों प्रजातंत्र हैं
जीवन बना हुआ है संसद।

—करनी-कथनी भूल गए हैं, पृ० 48, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदनाओं के उपर्युक्त पक्षों के
अतिरिक्त कुछ अत्यंत ही मौलिक व नवीन प्रवृत्तियाँ भी उजागर होती हैं। प्रथम वे हमें इस

बात के लिए झकझोरते प्रतीत होते हैं कि हम आधुनिकता व महानगरीय संवेदनाओं के प्रदूषण की तरफ तो अँगुली उठा रहे हैं, परंतु हमें अपनी तरफ उठती हुई उन तीन अँगुलियों को भी देखना होगा, जो आरोप लगा रही हैं कि अगर हम ऐसे नहीं होते, तो महानगरीय संवेदनाओं को हावी होने का मौका नहीं मिलता। डॉ० कुँअर बैचैन आरोपित करते हैं कि हम ही स्वयं अपनी संस्कृति की पवित्रता को कायम न रख सके, ऊपर से काशी होते हुए भी मन में खुजराहो पालते रहे। वे कहते हैं—

लोहे ने कब कहा
कि तुम गाना छोड़ो
तुम खुद ही जीवन की लय को भूल गए।

लोहे ने कब कहा
इड़ा के सँग दौड़ो
यह तुम थे जो श्रद्धा के प्रतिकूल गए।

—लोहे ने कब कहा, पृ० 101, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत

या फिर

चोरों के घर, घर की चाबी
हमने खुद ही दी,
अब चोरी होने पर कहिए,
क्या अर्थ मुक़दमों का।

—घर की चाबी हमने खुद ही दी, पृ० 123, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
दूसरे, उनके नवगीत हानि-लाभ की गणना तक ही सीमित नहीं हैं, वरन् वे हमें एक निष्कर्ष पर पहुँचाना चाहते हैं। ये निष्कर्ष आशापूर्ण हैं, जो संतुलित एवं मध्यम मार्ग को अपनाते हुए उत्तम स्थितियों एवं प्राचीन मूल्यों की सुरक्षा का आश्वासन देते हैं—

हम जमे बर्फ की एक चट्टान हैं
किंतु झरना बनें,
आज अरमान हैं,
भोर के सूर्य!

हम हृदय-बाँसुरी में छिपी तान हैं
एक ठहरे हुए गीत के यान हैं,
अब झुलाओ, हवाओं के झूलो हमें।

—भोर के सूर्य! ऐसे न भूलो हमें, पृ० 184, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
अब समस्या उत्पन्न होती है कि महानगरीय संवेदनाओं की गहराई की नाप या परख किस प्रकार संभव हो सकती है। भौतिक जगत की विविध मापों के समान इसकी माप के लिए कोई फीता तो बनाया नहीं जा सकता, तथापि डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों की गहराई की माप का फीता अवश्य मौजूद है, और वह है— संवेदनशीलता एवं सहृदयता।

इसका तात्पर्य यह है कि डॉ० कुँअर बैचैन अपने नवगीतों में जो महानगरीय संवेदना

के विविध रूप प्रस्तुत कर रहे हैं, वे हमको और हमारी चेतना को कितना झकझोर पाते हैं।
यह उदाहरण देखिए—

मन से न बाँध पाई रिश्ते गुलाब जैसे

ये राखियाँ बँधी हैं, केवल कलाइयों पर।

—चेतना उपेक्षित है, पृ० 97, डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत

या फिर

मीठापन जो लाया था मैं गाँव से

कुछ दिन शहर रहा

अब कड़वी ककड़ी है।

तब तो नंगे पाँव धूप में ठंडे थे

अब जूतों में रहकर भी जल जाते हैं

तब आया करती थी महक पसीने से

आज इत्र भी कपड़ों को छल जाते हैं

मुक्त हँसी जो लाया था मैं गाँव से

अब अनाम जंजीरों ने

आ जकड़ी है।

—अंतर, पृ० 93, डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत

डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों को पढ़ते ही हमारे भीतर एक झुरझुरी-सी, सिहरन-सी गुज़र जाती है, वहीं डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों की गहराई की माप का सर्वमान्य व प्रमाणित पैमाना है। वे हमसे यही अपेक्षा करते हैं कि उनके नवगीत हमारे अंतर्मन को उद्वेलित करें, प्रेरित करें, परिमार्जित करें चूँकि यही सब डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदनाओं की गहराई की कसौटी है।

अब अगर इस दृष्टिकोण से डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदना के विविध रूपों का विवेचन करता हूँ, तो साहित्य, काव्य व रस की संपूर्ण परिभाषाएँ व साधारणीकरण के सिद्धांत (विशेषतः डॉ० रामचंद्र शुक्ल द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण के विवेचन) को पुनर्परिभाषित करने की अवस्था में स्वयं को पाता हूँ, परंतु अपनी सीमाओं को जानते हुए यह अवश्य ही प्रतिपादित करना चाहता हूँ कि डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदनाओं का विवेचन करते हुए एक नवीन साहित्यिक सिद्धांत अथवा मूल्य अवश्य ही अन्वेषित हो रहा है कि साहित्य, काव्य या रस की सफलता व गहराई इसी में समाहित नहीं है कि श्रोता या पाठक अपना सुख-दुख भूलकर पात्र या विषय में स्वयं को रख दे, तभी काव्य सफल है, वरन् एक और नव अन्वेषित पक्ष भी है कि अगर काव्य (नवगीत) श्रोता या पाठक की चेतना को जड़ से हिला डाले कि उसके अंतर्मन में जमे-जमाए विचारों व संस्कारों में बदलाव या स्वयं समीक्षा का भाव उठ खड़ा हो, उसका कलुषित मन साफ़ होने को प्रेरित हो उठे, उसे अच्छे-बुरे की चेतना का ज्ञान हो जाए, तो परिमार्जन एवं परिष्कृत करने की नवगीतकार की यह क्षमता ही नवगीत की रचना की गहराई की कसौटी कही जाएगी।

डॉ० कुँअर बेचैन के नवगीत न केवल इस कसौटी पर खरे उतरे हैं, वरन अगर यह

कहा जाए, तो अधिक श्रेयस्कर होगा कि उनके नवगीतों में महानगरीय संवेदनाओं के विविध रूप ही इन कसौटियों के निर्माता हैं। उदाहरण के लिए—

माँ की साँस पिता की खाँसी
सुनते थे जो पहले, अब वे कान नहीं।

—रिश्तों को घर दिखाओ, पृ० 94, डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीत
यहाँ ये तीन पंक्तियाँ ही डॉ० कुँअर बैचैन के नवगीतों में महानगरीय संवेदना की गहराई की पराकाष्ठा प्रस्तुत करती है, जो किसी लौह पाषाण मन को गुलाब या फिर धधकते लावा हृदय में क्षीर-नीर संवेदनाएँ भर सकती हैं।

□ पुत्र श्री विनोद शर्मा
12/60 ऑडिनेंस फैक्ट्री परिसर
मुरादनगर (ग़ाज़ियाबाद) उ०प्र०
मो० 09049472007

रामचरितमानस की काव्यभाषा में संज्ञा-विचलन

वंदना शर्मा, शोध-छात्रा

हिंदी-विभाग

पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

कविता भाषा की वह विधा है और एक विशिष्ट संरचना अर्थात् शब्दार्थ का विशिष्ट प्रयोग है। यह (काव्यभाषा) सर्जनात्मक साहित्य की भाषा है। सर्जनात्मक एक सार्थक व्यवस्था होती है, जिनके माध्यम से रचनाकार की संवेदना, अनुभव तथा भाव साहित्यिक स्वरूप ग्रहण करते हैं। किसी भी रचना का स्वरूप निर्मित करने में कथ्य एवं रूप का विशिष्ट योग रहता है। अतः इन दोनों तत्त्वों का महत्त्व निर्विवाद है। कवि द्वारा गृहीत, सारगर्भित विचारोत्तेजक कथ्य की संरचना के लिए भाषा का तदनु रूप प्रसंगानुकूल, भावोत्तेजक तथा प्रवाहपूर्ण होना अनिवार्य है। भाषा की इसी उत्कृष्ट व्यंजना शक्ति का कवि अभिज्ञाता व कुशल प्रयोक्ता होता है।

रचनाकार अपनी अनुभूति को विशिष्ट भाषा अथवा सर्जनात्मक भाषा के माध्यम से ही संप्रेषित करता है, यही सर्जनात्मक भाषा अथवा साहित्यिक भाषा काव्यभाषा कहलाती है। काव्यभाषा के संदर्भ में संज्ञा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य कुंतक ने रूढ़ि वैचित्र्य वक्रता के द्वितीय भेद के अंतर्गत संज्ञा-प्रयोग से किए जानेवाले चमत्कार को वर्णित किया है। कहा जाता है कि कवि की सच्ची जाँच उसके द्वारा किए गए संज्ञा-प्रयोग से ही होती है।¹ जिस कवि की पर्यवेक्षण-शक्ति जितनी अधिक होती है, वह कवि उतना ही अधिक समर्थ होता है। पर्यवेक्षक के रूप में कवि की पहचान उसके द्वारा प्रयुक्त संज्ञा-प्रयोग से ही होती है, क्योंकि प्रत्येक भाषा में प्रत्येक विशेषण और प्रत्येक क्रिया का एक सीमित अर्थ होता है, जिसका निर्धारण उन संज्ञा-शब्दों और उसकी प्रकृति आदि से होता है, जो उनके साथ प्रयुक्त होते हैं।²

वस्तुतः भाषा में विशेषकर काव्यभाषा में, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान संज्ञा-शब्दों का होता है। यह काव्यभाषा में संदर्भित शब्दों का अधिक स्पष्टता के साथ परिचय देता है। कवि या रचनाकार में जो प्राञ्चलन वाला गुण है, प्रेरणा के आलोक में शब्दों को सजीव बना देने वाली शक्ति है, उसका सबसे बड़ा चमत्कार संज्ञा-प्रयोग में देखा जाता है। संज्ञा-प्रयोग से ही हम किसी कवि के व्यक्तित्व की झाँकी पा सकते हैं। महान् कृति की भाषा में संज्ञा व्याप्त रहती है। कवि भाव की गहराई में उतरता है तो स्वतः उनके अनुरूप संज्ञा का मंजुल रूप प्रवाहित होने लगता है, महाकाव्य में जीवन के प्रत्येक अंग, तत्त्व का सामंजस्य पूर्ण विवेचन रहता है, मानव-जीवन में विविधता, गहराई और शाश्वतता रहती है। जीवन में आई किसी आकस्मिक घटना या परिस्थितियों का चित्रण करने के लिए कवि तदनुकूल अनेक नए, सार्थक अभिव्यंग्य संज्ञा-शब्दों को अपना सहारा बनाता है। काव्यभाषा का यह महत्त्वपूर्ण अंग है कि इसके अभाव में इसकी रमणीयता भी घट सकती है।

वास्तव में कवियों की जाँच संज्ञा शब्दों के प्रयोग में होती है। संज्ञा-शब्दों के द्वारा ही कवि भाषा का निर्माण करता है।

कवि द्वारा निर्मित काव्यभाषा में संज्ञा संदर्भित वस्तु का परिचय देने के साथ-साथ कवि की कल्पना, अनुभूति या भावना को पाठक के हृदय में भी अंकित करता है। काव्यभाषा में संज्ञा-विचलन भी बहुलता से पाया जाता है।

डॉ० पांडेय शशिभूषण शीतांशु के अनुसार : काव्यभाषा में संज्ञा-विचलन की उपस्थिति वहाँ पर पाई जाती है, जहाँ पर स्तरीय आधार भाषा में मानक रूप से व्यवहृत होने वाली संज्ञा जब विरूपित और विकृत होकर प्रस्तुत होती है।³

संज्ञा-शब्दों के विचलन काव्यभाषा में सर्वाधिक रूप में मिलते हैं। उदाहरण के लिए-

1. टूटे आँधियों के पाँव (केदारनाथ सिंह, तीसरा सप्तक, पृ० 205)
2. फिर एक घृणा का अंधासर्प उन्मत्त हो गया है। (नंद चतुर्वेदी, कविताएँ, 1665, पृ० 76)
3. छुए तो बस छुए मुझे रूप का प्रवास (केदारनाथ अग्रवाल, फूल नहीं, पृ० 124)
4. वे.....आएँगे सड़कों पर हँसी लगाते हुए (उदयभान मिश्र, कविताएँ 1965, पृ० 124)
5. अपनी आवाज़ का चेहरा टटोलने के लिए (धूमिल, संसद, पृ० 14)
7. यह होटल शाकाहारी है-और शाकाहारी होने के साथ-साथ कुछ खददर का भी जान पड़ता है।

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' की काव्यभाषा में भी संज्ञा-विचलन निम्न प्रकार से पाया जाता है-

रामचरितमानस की काव्यभाषा में संज्ञा-विचलन

- 1 उधरसिं बिलम बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के।।
अर्थ : उसके हृदय में आते ही हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसार रूपी रात्रि के दोष-दुःख मिट जाते हैं।
विचलन : प्रस्तुत अर्द्धाली में कवि ने दोष-दुख विशेषता को अमूर्त संज्ञा (रात्रि) के साथ प्रयुक्त किया है, जबकि इसका प्रयोग किसी मूर्त अर्थात् मानवीय संज्ञा के साथ किया जाता है। यही कारण है कि प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर विस्तार किया गया है, जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।
- 2 साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुणमय फल जासू।⁴
अर्थ : संतों का चरित्र (जीवन) कपास के चरित्र के समान शुभ है, जिसका फल नीरस, विशद और गुणमय होता है।
विचलन : प्रस्तुत चौपाई की अर्द्धाली में चरित्र (जीवन) का प्रयोग निर्जीव व अमूर्त संज्ञा के साथ किया है, जबकि यह मानवीय संज्ञा अर्थात् मूर्त संज्ञा के साथ प्रयुक्त होता है,

लेकिन यहाँ पर कवि ने इसका प्रयोग अमूर्त व निर्जीव संज्ञा (कपास) के साथ करके इसके प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर इसमें विस्तार किया है, यही कारण है कि यहाँ पर प्रस्तुत प्रयुक्त संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रयुक्त हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन उपस्थित हुआ है।

3 बिधि हरि हर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी।⁶

अर्थ : ब्रह्मा, विष्णु, शिव, कवि और पंडितों की वाणी भी संत-महिमा का वर्णन करने में सकुचाती (संकोच करती) है।

विचलन : 'संकोच' मानवीय संज्ञा की प्रकृति है, लेकिन यहाँ पर गोस्वामी जी ने इसका प्रयोग अमूर्त तत्त्व या संज्ञा को मूर्त संज्ञा बनाकर उसके साथ प्रयुक्त किया है, जिससे इसके संज्ञा-प्रयोग की सीमा में कवि ने पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर इसमें विस्तार किया है। यही कारण है कि यह संज्ञा-प्रयोग (वाणी का संकोच करना) अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रयुक्त हुआ है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

4 गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहिं मिलइ नीच जल संग।⁷

अर्थ : पवन के संग से धूल आकाश पर चढ़ जाती है और वही नीच जल के संग से कीचड़ में मिल जाती है।

विचलन : 'चढ़ना' क्रिया सजीव, चल व मूर्त संज्ञा के साथ प्रयुक्त होती लेकिन यहाँ पर कवि ने इसे अमूर्त, निर्जीव, अचल संज्ञा के साथ प्रयुक्त किया है, जिससे यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त विस्तार किया है, यही कारण है कि प्रस्तुत अर्द्धाली में प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

5 अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी। सुनि अघ नरकहुँ नाक सिकोरी।⁸

अर्थ : यह मेरी बहुत बड़ी ढिठाई और दोष है, मेरे पाप को सुनकर नरक ने भी नाक सिकोड़ ली है।

विचलन : 'नाक सिकोड़ना' क्रिया अमूर्त निर्जीव संज्ञा के साथ प्रयुक्त की गई है, जबकि यह क्रिया किसी मानवीय, सजीव व मूर्त संज्ञा की होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत अमूर्त संज्ञा (नरक) के साथ इसका प्रयोग करके इसके संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है, यही कारण है कि प्रस्तुत संज्ञा (नरक) अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिसमें यहाँ पर प्रस्तुत अर्द्धाली में संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

6 अवधपुरी सोहइ एहि भाँति। प्रभुहि मिलन आई जनु राती।⁹

अर्थ : अवधपुरी इस प्रकार सुशोभित हो रही है, मानो रात्रि प्रभु से मिलने आयी है।

विचलन : 'मिलने आना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव व मानवीय संज्ञा की होती है, लेकिन यहाँ

पर कवि ने इसका प्रयोग किसी अचल, अमूर्त, निर्जीव संज्ञा के साथ किया है, यही कारण है कि कवि ने इसके संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है, जिससे यहाँ प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विरूपित या विकृत रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

7 सिर धरि मुनिबर बचन सबु निज निज काजहिं लाग।¹⁰

अर्थ : मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ जी के वचनों को सिर पर धर के सब लोग अपने-अपने काम में लग गए।

विचलन : यहाँ किसी अमूर्त संज्ञा (वचनों को) सिर पर धरने (रखने) की बात कही गई है, जबकि सामान्य रूप से किसी मूर्त तत्त्व या संज्ञा को ही सिर पर रखा जाता है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की स्पष्टता में विशिष्टता प्रकट करने के लिए अमूर्त संज्ञा (वचनों को) को सिर पर धरने (रखने) की बात कही है, यही कारण है कि कवि ने प्रस्तुत संज्ञा प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर विस्तार किया है, जिससे यहाँ पर प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रकट हुई है, यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की प्रस्तुति हुई है।

8 तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी।¹¹

अर्थ : शरीर में पसीना हो आया और वह केले की तरह काँपने लगी। तब कुबरी ने अपनी जीभ दाँतों-तले दबाई।

विचलन : 'काँपना' क्रिया मानवीय, सजीव संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने इसका प्रयोग किसी अचल व अमानवीय संज्ञा (केला-वनस्पति) के साथ किया है, जिससे इसके प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट ली गई है और साथ ही इसके प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में विस्तार भी किया गया है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है। क्योंकि यह संज्ञा-प्रयोग अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुआ है।

9 लखी नरेस बात फुरि साँची। तिय मिस मीचु सीस पर नाची।¹²

अर्थ : राजा ने समझ लिया कि बात सचमुच सच्ची है। स्त्री के बहाने मेरी मृत्यु ही सिर पर नाच रही है।

विचलन : 'नाचना' क्रिया किसी सजीव, चल, मूर्त व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर गोस्वामी तुलसीदास ने अपने कथन की साभिप्रायता में विशिष्टता प्रकट करने के लिए इसका प्रयोग किसी अमूर्त, निर्जीव, अचल व अमानवीय संज्ञा के साथ किया है, जिससे यहाँ पर इसके संज्ञा-प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर विस्तार किया गया है, यही कारण है कि यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रकट हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की उपस्थिति हुई है।

10 निधरक बैठि कहइ कटु बानी। सुनत कठिनता अति अकुलानी।¹³

- अर्थ : कैकेयी बेधड़क बैठी ऐसी कड़वी वाणी कह रही है, जिसे सुनकर स्वयं कठोरता भी अत्यंत व्याकुल हो उठी।
- विचलन : 'व्याकुल होना' क्रिया किसी मूर्त, चल, सजीव व मानवीय संज्ञा के साथ प्रयुक्त होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की भंगिमा की स्पष्टता में विशिष्टता लाने के लिए इसका प्रयोग किसी अमूर्त निर्जीव, अचल व अमानवीय संज्ञा के साथ किया है, यही कारण है कि यहाँ पर कवि ने संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में विस्तार करके पर्याप्त मात्रा में छूट ली गई है जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा-विचलन उपस्थित हुआ है।
- 11 जनु कठोरपनु धरें सररीरु। सिखइ धनुषविद्या बर वीरु।¹⁴
- अर्थ : इस सारे साज-समान के साथ मानो स्वयं कठोरपन श्रेष्ठ वीर का शरीर धारण धरके धनुष विद्या सीख रहा है।
- विचलन : 'शरीर धारण करना' अर्थात् शरीर रूप में प्रकट होना क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की में विशिष्टता प्रकट करने हेतु अमूर्त, अचल, निर्जीव व अमानवीय संज्ञा के साथ प्रस्तुत किया को प्रयुक्त किया है, जिससे प्रस्तुत संज्ञा-प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, यही कारण है कि प्रस्तुत अर्धाली में प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-विचलन उपस्थित हुई है।
- 12 सब प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई। बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई।¹⁵
- अर्थ : श्री रघुनाथ जी को सब हाल सुनाकर वह ऐसे बैठी है, मानो निष्ठुरता ही शरीर धारण किए हुए हो।
- विचलन : शरीर धारण करना अर्थात् शरीर रूप में प्रस्तुत होना किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन में विशिष्टता लाने हेतु अमूर्त, अचल, निर्जीव व अमानवीय संज्ञा के साथ प्रयुक्त किया है, जिससे इसके संज्ञा-प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट ली गई है, जिससे यह अमूर्त संज्ञा (निष्ठुरता) अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि प्रस्तुत अर्धाली में संज्ञा-विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।
- 13 अतुलित भुज प्रताप बल धामा। कलिमल विपुल विभंजन नामा।¹⁶
- अर्थ : जिनकी भुजाओं का प्रताप अतुलनीय है, जो बल के धाम है, जिनका नाम कलियुग के बड़े पापों का नाश करने वाला है।
- विचलन : किसी भी तत्त्व को समाप्त करना मूर्त संज्ञा का कार्य होता है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन को विशिष्ट बनाने हेतु 'नाम' को ही संज्ञा बनाकर उसका कार्य पापों का नाश करना बताया है, जिससे यहाँ पर प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर उमसे पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है,

यही कारण है कि यहाँ पर प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप से न व्यवहृत होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

14 ते फल भच्छक कठिन कराला। तब भयँ डरत सदा सोई काला।¹⁷

अर्थ : उन फलों का भक्षण करने वाला कठिन और कराल काल है। वह काल भी सदा आपसे भयभीत रहता है।

विचलन : 'भयभीत होना' क्रिया किसी अमूर्त संज्ञा (काल) के लिए प्रयुक्त की गयी है, लेकिन इस क्रिया (भयभीत होना) को किसी मूर्त संज्ञा के साथ प्रयुक्त किया जाता है, यही कारण है कि यहाँ पर कवि से अपने कथन में विशिष्टता लाने के लिए प्रस्तुत संज्ञा प्रयोग में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर विस्तार किया है, जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि यहाँ संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

15 मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।¹⁸

अर्थ : (श्री राम ने कहा-) हे तात! मैं और मेरा, तू और तेरा-यही माया है, जिसने समस्त जीवों को वश में कर रखा है।

विचलन : प्रस्तुत अर्द्धाली में 'माया' को कवि ने मूर्त रूप में प्रकट कर उसका मानवीकरण किया है, जिससे समस्त जीवों को इसके वश (गुलाम) में बताया है, लेकिन सामान्य रूप से किसी मूर्त संज्ञा के वंश में ही हुआ जा सकता है, न कि किसी अमूर्त संज्ञा (माया) के। यही कारण है कि यहाँ पर कवि ने संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर उसका पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है, जिससे यह अमूर्त संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है और इसलिए यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

16 श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन मारहीं।¹⁹

अर्थ : बेल, सुवर्ण और केला हर्षित हो रहे हैं। इनके मन में जरा भी शंका और संकोच नहीं है।

विचलन : प्रस्तुत चौपाई की अर्द्धाली में 'हर्षित होना' विशेषता किसी सजीव मूर्त, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर इसका प्रयोग किसी निर्जीव, अमूर्त, अचल, व अमानवीय संज्ञा के साथ इसका प्रयोग किया है, यही कारण है कि यहाँ पर कवि द्वारा प्रस्तुत संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट ली गई है और इसका पर्याप्त मात्रा में विस्तार भी किया है, जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत या विरूपित होकर प्रकट हुई है, इसीलिए यहाँ पर संज्ञा-तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

17 दस लागि प्रभु राखेऊ प्राना। चलत चहत अब कृपानिधाना।²⁰

अर्थ : हे प्रभो! मैंने आपके दर्शनों के लिए ही प्राण रोक रखे थे। हे कृपाविधान! अब ये चलना ही चाहते हैं।

विचलन : प्रस्तुत अर्धाली में प्रयुक्त 'रोकना' व 'चलना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर इसका प्रयोग अमूर्त संज्ञा (प्राण) के साथ किया है। कवि ने अपने कथन की भंगिमा में स्पष्टता लाने के लिए अमूर्त तत्त्व (प्राण) का मानवीय व मूर्त रूप धारण करके उसके संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है, जिससे यह अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की उपस्थिति हुई है।

18 परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहूँ जग दुर्लभ कछु नाहीं।²¹

अर्थ : जिनके मन में दूसरों का हित बसता है, उनके लिए जगत में कुछ भी दुर्लभ नहीं है
विचलन : 'बसना' क्रिया किसी मूर्त संज्ञा की प्रवृत्ति के साथ जुड़ी होती है, लेकिन यहाँ पर इसका प्रयोग अमूर्त तत्त्व या संज्ञा (हित) के साथ किया गया है। यही कारण है कि कवि ने अपने कथन में विशिष्टता लाने के लिए अमूर्त तत्त्व या विशेषता (हित) का मानवीकरण करके उसे मानवीय संज्ञा की भाँति बसने की क्रिया में प्रयुक्त किया है, जिससे यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत संज्ञा की प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है, जिससे यहाँ पर यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रकट हुई है और यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

19 बरषहिं जलद भूमि निअराएँ। जथा नवहिं बुध विद्या पाएँ।²²

अर्थ : बादल पृथ्वी के समीप आकर बरस रहे हैं, जैसे विद्या पाकर विद्वान् नम्र हो जाते हैं।
विचलन : 'समीप जाना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने इसका प्रयोग अमूर्त, निर्जीव, अचल व अमानवीय तत्त्व या संज्ञा (बादल) के साथ किया है। यही कारण है कि यहाँ पर कवि ने संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है, जिससे यह अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुआ है, यही कारण है कि यहाँ पर प्रस्तुत अर्धाली में संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

20 छुद्र नदीं भरि चलीं तोराई। जस थोरेहुं धन खल इतराई।²³

अर्थ : छोटी नदियाँ भरकर किनारों को तुड़ाती हुई चली, जैसे थोड़े धन से भी दुष्ट इतरा जाते हैं।
विचलन : 'चलना' क्रिया किसी सजीव, चल व मानवीय तत्त्व या संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अचल तत्त्व या संज्ञा (नदियाँ) के साथ इस विशेषता (चलना) को प्रयुक्त किया है, यही कारण है कि यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट ली है और इसका पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप से व्यवहृत होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

- 21 खोजत कतहूँ मिलई धूरी। करइ क्रोध जिभि धरमहिं दूरी।²⁴
 अर्थ : धूल कहीं खोजने पर भी नहीं मिलती, जैसी क्रोध धर्म को दूर कर देता है।
 विचलन : प्रस्तुत चौपाई की अदर्धाली में किसी भी वस्तु को दूर करना विशेषता मूर्त संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की भंगिमा की स्पष्टता में विशिष्टता लाने हेतु इसके साथ अमूर्त तत्त्व (क्रोध) को मूर्त संज्ञा के रूप में प्रकट किया है, यही कारण है कि यहाँ पर प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में धूल ली गई है। जिससे यहाँ पर इसके प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा विस्तार भी किया गया है। यही कारण है यह प्रस्तुत संज्ञाओं में अपने मानक रूप से व्यवहृत होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुति हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।
- 22 देखिअत चक्रवाक खग नाहीं। कालहि पाइ जिमि धर्म पराहीं।²⁵
 अर्थ : चक्रवाक पक्षी दिखाई नहीं दे रहे हैं, जैसे कलियुग को पाकर धर्म जाते हैं।
 विचलन : 'जाना' विशेषता किसी मूर्त सजीव चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति के साथ जुड़ी होती है, लेकिन यहाँ पर इसका प्रयोग किसी अमूर्त, निर्जीव, अचल व अमानवीय तत्त्व या संज्ञा के साथ किया गया है। यही कारण है कि यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर विस्तार किया है, जिससे यहाँ पर यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।
- 23 उदित अगस्ति पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोषहि संतोषा।²⁶
 अर्थ : अगस्त्य तारे ने उदय होकर मार्ग के जल को सोख लिया, जैसे संतोष लोभ को सोख लेता है।
 विचलन : प्रस्तुत 'सोखना' क्रिया किस मूर्त तत्त्व या संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन में विशिष्टता लाने हेतु अमूर्त तत्त्व (संतोष) को मूर्त संज्ञा के रूप में प्रस्तुत किया है और साथ उससे अमूर्त तत्त्व (लोभ) को सोखने की क्रिया करवायी है, यही कारण है कि कवि ने प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर उसका पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया है। यही कारण है कि यह प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विरूपित या विकृत रूप में प्रकट हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की उपस्थिति हुई है।
- 24 जानि सरद ऋतु खंजन आए। पाइ समय जिमि सुकृत सुहाए।²⁷
 अर्थ : शरद ऋतु जानकर खंजन पक्षी आ गए। जैसे समय पाकर सुंदर सुकृत (पुण्य) आ जाते हैं।
 विचलन : 'आना जाना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल, व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने इसका प्रयोग किसी अमूर्त, निर्जीव, अचल व अमानवीय तत्त्व या संज्ञा (पुण्य) के साथ किया है, यही कारण है कि कवि ने कथन में वैचित्र्य प्रकट करने हेतु अमूर्त संज्ञा (पुण्य) का मूर्त रूप प्रस्तुत कर उसके प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर विस्तार किया गया है, यही

- कारण है, कि यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की उपस्थिति हुई है।
- 25 रामचंद्र गुन बरनै लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा।²⁸
- अर्थ : वे रामचंद्र जी के गुणों का वर्णन करने लगे, सुनते ही सीता जी का दुःख भाग गया।
- विचलन : 'भागना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की भंगिमा में विशिष्टता लाने हेतु अमूर्त तत्त्व या संज्ञा (दुःख) को मूर्त संज्ञा के रूप में प्रस्तुत कर प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, यही कारण है कि यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा स्तर पर विचलन की साभिप्रायता प्रस्तुत हुई है।
- 26 कोमलचित कृपाल रघुराई। कपि केहि हेतु धरी निटुराई।²⁹
- अर्थ : श्री रघुनाथ जी तो कोमल हृदय और कृपालु हैं, फिर हे हनुमान! उन्होंने किस कारण यह निष्ठुरता धारण कर ली ?
- विचलन : धारण किसी मूर्त तत्त्व या संज्ञा को किया जाता है लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन में वैचित्र्य प्रकट करने हेतु किसी अमूर्त संज्ञा (निष्ठुरता) को मूर्त संज्ञा के रूप में प्रस्तुत किया है, यही कारण है कि यहाँ पर कवि द्वारा इस संज्ञा-प्रयोग की सीमा में पर्याप्त छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रकट हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।
- 27 मृत्यु निकट आई खल तोही। लागेसि अधम सिखावन मोहि।³⁰
- अर्थ : रे दुष्ट! तेरी मृत्यु निकट आ गयी है। अधम! मुझे शिक्षा देने चला है।
- विचलन : 'निकट आना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति के साथ जुड़ी होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की भंगिमा में विशिष्टता लाने हेतु इस विशेषता का प्रयोग अमूर्त संज्ञा (मृत्यु) के साथ प्रयोग किया है। यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा-प्रयोग में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट ली गई है, जिससे इसके प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है। यही कारण है कि यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता स्पष्ट हुई है।
- 28 मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपुर महि खसेऊ।³¹
- अर्थ : जबसे कर्णफूल धरती (पृथ्वी) पर गिरा, तबसे मंदोदरी के हृदय में सोच बस गया।
- विचलन : 'बसना' क्रिया किसी मूर्त सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति के साथ जुड़ी होती है, लेकिन यहाँ पर इसके प्रयोग अमूर्त तत्त्व या संज्ञा (सोच-चिंता) को मूर्त

रूप बनाकर किया है। यही कारण है कि कवि ने अपने कथन में विशिष्टता लाने हेतु अमूर्त संज्ञा (सोच-चिन्ता) का मानवीकरण करके अर्थात्, उसको मूर्त रूप में प्रस्तुत कर उसके साथ 'बसना' विशेषता भी सहजता से जोड़ दी है, यही कारण है कि प्रस्तुत संज्ञा के प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट ली गई है और इसके प्रयोग की सीमा में विस्तार भी किया गया है। यही कारण है कि यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

29 पुनि कपि कही नीति बिधि नाना। मान न ताहि कालु निअराना।³²

अर्थ : फिर अंगद ने अनेक प्रकार से नीति कही, परंतु रावण ने नहीं माना, क्योंकि उसका काल निकट आ गया था।

विचलन : 'निकट आना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है। लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की भंगिमा की स्पष्टता में विशिष्टता लाने हेतु इस विशेषता का प्रयोग अमूर्त संज्ञा (मृत्यु) के साथ प्रयोग किया है। यही कारण है कि यहाँ पर संज्ञा-प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, जिससे यह संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

30 जागा निसिचर देखिअ कैसा। मानहुँ कालु देह धरि बैसा।³³

अर्थ : कुंभकरण जागा। वह कैसा दिखाई देता है मानो स्वयं काल ही शरीर धारण करके बैठा हो।

विचलन : 'शरीर धारण करना' अर्थात् शरीर रूप में प्रकट होना क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल व मानवीय संज्ञा की प्रकृति होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने अपने कथन की विशिष्टता लाने हेतु आमूर्त, अचल निर्जीव व अमानवीय संज्ञा के साथ प्रस्तुत विशेषता को प्रस्तुत किया है। जिससे यहाँ पर संज्ञा-प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, यही कारण है कि प्रस्तुत चौपाई की अर्धाली में प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की साभिप्रायता सिद्ध हुई है।

31 तेहि कारन खल अब लागि बाच्चों। अब तव कालु सीस पर नाच्यो।³⁴

अर्थ : उसी कारण से अरे दुष्ट! तू (रावण) अब तक बचा है। अब काल तेरे सिर पर नाच रहा है।

विचलन : 'नाचना' क्रिया किसी मूर्त, सजीव, चल संज्ञा को प्रकृति के साथ जुड़ी होती है, लेकिन यहाँ पर कवि ने प्रस्तुत क्रिया अमूर्त, अचल, निर्जीव संज्ञा के साथ प्रयुक्त की है, जिससे इसके संज्ञा प्रयोग की सीमा में कवि द्वारा पर्याप्त मात्रा में छूट लेकर पर्याप्त मात्रा में विस्तार किया गया है, यही कारण है कि यहाँ पर प्रस्तुत संज्ञा अपने मानक रूप में व्यवहृत न होकर विकृत या विरूपित रूप में प्रस्तुत हुई है, जिससे

यहाँ पर संज्ञा-स्तर पर विचलन की उपस्थिति हुई है।

रामचरितमानस में निहित अनंत और अपार संभावना पर विचार करते हुए पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' ने लिखा है—

'श्रेष्ठ साहित्य ऐसा साहित्य है, जो केवल एक कालखंड अथवा भूखंड के प्रतिमान के आधार पर परीक्षणीय और मूल्यांकनीय नहीं रह जाता, अपितु देश-कालातीत प्रतिमानों की कसौटी पर कसा जाकर वह अपनी श्रेष्ठता को समर्थ रूप में सिद्ध और स्थापित कर पाता है।'⁴⁶

इसलिए शैलीविज्ञान के सभी प्रतिमानों का आलोचना के क्रम में निकष बनाया जाना स्वाभाविक है। इस लेख में केवल विचलन उसमें भी संज्ञा-विचलन को आलोचना का प्रतिमान बनाकर मानस की कुछ चौपाइयों में संप्रेषित तुलसीदास के अभिप्रेत (प्रतीयमान) को विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। विश्लेषण की प्रक्रिया में इस बात का अनुभव होता रहा है कि तुलसीदास के संज्ञा-प्रयोग में जो नव्यता है, वह शैलीविज्ञान की शब्दावली में संज्ञा-विचलन है और उससे उनकी विवक्षा का संपूर्ण संप्रेषण होता है।

संदर्भ

1. आचार्य कुंतक : 'वक्रोक्ति जीवितम्' पृ० 202, व्याख्याकार : विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि : दिल्ली, 1955
2. तिवारी, भोलानाथ : 'शैलीविज्ञान', पृ० , प्रथम संस्करण : 1977, शब्दकार, 2203, गली डकौतान, तुर्कमानगेट, दिल्ली-6
3. 'शीतांगु' डॉ० पाण्डेय शशिभूषण : 'शैलीविज्ञान : प्रतिमान और विश्लेषण', पृ० 34, देवदार प्रकाशन, दिल्ली 110032
4. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 1 की 4 चौपाई
5. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 2 की 3 चौपाई
6. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 3(क) की 6 चौपाई
7. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 7(क) की 5 चौपाई
8. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 29(क) 1 चौपाई
9. रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा 195 की 2 चौपाई
10. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा-6
11. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा-20 की 1 चौपाई
12. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा-34 की 3 चौपाई
13. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा-41 की 1 चौपाई
14. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा-41 की 2 चौपाई
15. रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा-41 की 2 चौपाई
16. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा-11 की 8 चौपाई
17. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा-13 की 4 चौपाई
18. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा-15 की 1 चौपाई
19. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा-30 की 7 चौपाई
20. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा-31 की 2 चौपाई

21. रामचरितमानस, अरण्यकाण्ड, दोहा-31 की 5 चौपाई
22. रामचरितमानस, किष्किंद्याकाण्ड, दोहा-14 की 2 चौपाई
23. रामचरितमानस, किष्किंद्याकाण्ड, दोहा-14 की 3 चौपाई
24. रामचरितमानस, किष्किंद्याकाण्ड, दोहा-15 की 2 चौपाई
25. रामचरितमानस, किष्किंद्याकाण्ड, दोहा-15 की 5 चौपाई
26. रामचरितमानस, किष्किंद्याकाण्ड, दोहा-16 की 2 चौपाई
27. रामचरितमानस, किष्किंद्याकाण्ड, दोहा-16 की 3 चौपाई
28. रामचरितमानस, सुंदरकाण्ड, दोहा 5 की 2 चौपाई
29. रामचरितमानस, सुंदरकाण्ड, दोहा 13 की 4 चौपाई
30. रामचरितमानस, सुंदरकाण्ड, दोहा 24 की 2 चौपाई
31. रामचरितमानस, सुंदरकाण्ड, दोहा 14 की 3 चौपाई
32. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दोहा 35(क) की 5 चौपाई
33. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दोहा 61 की 4 चौपाई
34. रामचरितमानस, लंकाकाण्ड, दोहा 94 की 4 चौपाई
35. 'शीतांशु', पाण्डेय शशिभूषण : 'रामचरितमानस : संकेत-विसरंचनात्मक, प्रोक्ति-शैलीवैज्ञानिक संदर्भ, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 337, चौड़ा रास्ता, जयपुर-302003, प्रथम संस्करण : 2208, पृ० viii

□ पुत्री बलवीर सिंह
सी 252, मॉडल टाउन एक्सटेंशन
हिसार (हरियाणा) 125005
मो० 09876766634

राधेश्याम शर्मा 'प्रगल्भ' जी का व्यंग्य-काव्य

डॉ० (श्रीमती) रासुलता

हिंदी में व्यंग्य का आविर्भाव सन् 1857 के सैनिक विप्लव के बाद उत्पन्न हुई राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से माना जाता है। उस समय देश में विदेशी सत्ता थी। चारों ओर अँग्रेजी शासन का आतंक व्याप्त था। अँग्रेजी शासन के अत्याचारों का कोई विरोध न कर सके, इसके लिए उन्होंने वर्नाक्यूलर एक्ट पारित किया। जब अँग्रेजी शासन ने इस प्रकार के नियम-क़ानून पारित किए, उसी समय हिंदी साहित्य में एक नए युग का सूत्रपात हुआ, जिसे भारतेंदुयुग के नाम से जाना गया। इस युग के साहित्यकार अँग्रेजी शासन के कार्य से रुष्ट थे। वे जनता के साथ हो रहे अन्याय, अत्याचार के प्रति आवाज़ उठाना चाहते थे। लेकिन आवाज़ ऐसी हो कि अँग्रेजी सरकार के कहर से बचें रहें अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से अपनी बात, अपनी भावनाओं को व्यक्त कर सकें, जो जनता और समाज दोनों के लिए हितकर हो। साहित्यकारों ने बड़ी ही सतर्कता और सूझ-बूझ के साथ इसका हल निकाला और अँग्रेजी शासन के विरोध का व्यंग्य को बनाया। यदि अँग्रेजी शासन-व्यवस्था पर व्यंग्य किया जाए तो जनता में भी जागरूकता आएगी और समाज बदलाव के लिए भी प्रेरित होगा। वह अँग्रेजी सत्ता के विरोध में भी जागरूक होगा।

इस कार्य में अनेक साहित्यकारों ने योग दिया, जिनमें भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुंद गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र आदि प्रमुख थे। चूँकि भारतेंदु जी अग्रणी थे, इसलिए इस कालावधि को भारतेंदुयुग के नाम से जाना जाता है। प्रारंभ में व्यंग्य की रचना काव्य-रूप में हुई। धीरे-धीरे समय बदला और व्यंग्य की रचना गद्य के रूप में होनी आरंभ हो गई। किसी भी शब्द का रहस्यात्मक अर्थ (घुमा-फिराकर बात कहना) प्रहारमय अभिव्यक्ति व्यंग्य मानी गई। वस्तुतः किसी व्यक्ति या समाज की किसी कमी या बुराई को सीधे शब्दों में न कहकर उल्टे या टेढ़े-मेढ़े शब्दों में व्यक्त करना व्यंग्य है। आम बोलचाल की भाषा में इसे ताना, बोली अथवा चुटकी भी कह सकते हैं।

व्यंग्य हिंदी-साहित्य की सशक्त एवं प्रभावकारी विधा है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी बात को समझाने के लिए विभिन्न तरीके अपनाता है, ठीक उसी प्रकार एक साहित्यकार विभिन्न विधाओं में रचना-कार्य करता है। राधेश्याम 'प्रगल्भ' जी ने भी अनेक विधाओं में साहित्य सर्जना की हैं। इनकी व्यंग्यपरक रचनाएँ 'समय के पंख' नामक ग्रंथ में संकलित हैं। चूँकि व्यंग्य सुधार की भावना से लिखी गई रचना होती है 'प्रगल्भ' जी ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए 'समय के पंख' संकलन की भूमिका में, स्पष्ट किया है—

उन दिनों खुर्जा की सड़क, जिस पर हम लोग संध्या को घूमने जाते थे, बड़ी खराब थी। न जाने कितने खार-खड्डे थे उसमें। मैंने हास्य-व्यंग्य का पुट देते हुए एक कविता लिखी

‘खुर्जा की सड़क’। पहले श्रोता ‘भवेश’ जी थे। कविता ने लोगों का मनोरंजन तो किया ही, नगर की समस्याओं की ओर भी उनका ध्यान आकृष्ट किया, पर नगरपालिका ने कोई ध्यान नहीं दिया। जब यही कविता उसी वर्ष बुलंदशहर प्रदर्शनी के अखिल भारतीय कवि-सम्मेलन में पढ़ी गई तो तत्कालीन जिलाधीश कैप्टन भगवानसिंह ने मन-ही-मन उस सड़क को ठीक कराने का निश्चय कर लिया और जब अगले ही सप्ताह वह सड़क ठीक की जाने लगी तो जाने कैसे यह बात फैल गई कि यह एक कविता का परिणाम है।

इस प्रकार ‘प्रगल्भ’ जी की व्यंग्यात्मक कविता ने चिकित्सक के इंजेक्शन की तरह कार्य किया। कवि का यह कथन व्यंग्य की अवधारणा में कही गई सभी बातों का समर्थन करता है कवि ने यह भी स्वीकारा है कि व्यंग्य भी राष्ट्रोन्मुखी विधा है, जो साहित्यकार की राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बनाती है। यथा—‘खुर्जा की सड़क’ यही कविता है जिसने पहली बार एक राष्ट्रीय मंच पर मेरी प्रस्तुति कराई। यही कविता थी तो हास्य-प्रधान, पर मेरे काव्य को राष्ट्रोन्मुखी दिशा दे गई।

—समय के पंख, भूमिका, पृ० 15

‘प्रगल्भ’ जी ने व्यंग्य-विधा का सृजन बड़े ही सुंदर ढंग से किया। इस विधा में ‘प्रगल्भ’ जी को राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त हुई। ‘समय के पंख’ संकलन में चिंतनपरक एवं व्यंग्यात्मक कविताओं का समावेश हुआ है। कवि ने ‘समय के पंख’ के माध्यम से अपनी भावनाओं को विभिन्न रूपों में व्यक्त किया है, जो इस प्रकार हैं—

1. सामाजिक विकृतियों-विसंगतियों पर व्यंग्य—

किसी भी रचनाकार का सीधा संबंध समाज से होता है। वह समाज में घटने वाली घटनाओं और अपने चारों ओर के परिवेश को देखता है, और उस परिवेश का उस पर इतना असर होता है कि उसका चित्रण वह अपने साहित्य में करता है। वह समाज-कल्याण के लिए लिखता है। समाज में व्याप्त बुराइयों, विसंगतियों को समाप्त करने का प्रयास करते हुए नए समाज की कल्पना करता है।

‘प्रगल्भ’ जी ने भी अपने साहित्य में व्यंग्य के माध्यम से समाज-सुधार का प्रयत्न किया है। ‘शूल और कूल’ शीर्षक कविता में कवि ने स्पष्ट किया है कि समाज उन लोगों के प्रति सम्मान का भाव रखता है, जो दूसरों को कष्ट पहुँचाते हैं। कवि कहता है—

शूल चुप से कान में ये कह गया
जो मिला गड़कर उसी के रह गया।
फूल, भोले ही रहे तुम सर्वथा।
गंध बाँटी और बिखरे ही सदा।
जो बिखरते हैं,
उन्हें सब भूल जाते हैं,
और, जो चुभते-कसकते
याद आते हैं

—समय के पंख, पृ० 23

इसी प्रकार प्रगल्भ’ जी ने ऊँच-नीच, शोषक-शोषित आदि पर भी व्यंग्य किए हैं—

वक्त तुम भी, वक्त मैं भी
किंतु फिर भी फ़र्क है यह
तुम ज़माने के ज़िकर में
मैं ज़माने की फ़िकर में

—समय के पंख, पृ० 62

व्यंग्य-नियति का फाड़ा स्वयं चित्र निज मैंने
जाने क्यों टुकड़े सहेज रखे वे तूने
वे टुकड़े दूना कर दे तो मन का दुखड़ा
वे पीड़ा के राजकुँवर के शर हैं पैने

—समय के पंख, पृ० 64

‘प्रगल्भ’ जी ने कर्म, समय के साथ-साथ जीवन की सार्थकता पर भी व्यंग्यात्मक टिप्पणी की है। जीवन रूपी यात्रा में मनुष्य कितना अपने नियंत्रण में और कितना दूसरे के नियंत्रण में रहता है, ‘बस में बाबू’ शीर्षक कविता के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्त किया है—

बस में यात्रा करता बाबू
सोच रहा, कितना परबस में
आना-जाना नित्य नियम से
बस में है कब मेरे बस में—
ये यात्राएँ जो कि हैं अधूरी
पी जाएँगी जिंदगी ही पूरी

—समय के पंख, पृ० 92

कवि ने ‘प्रश्न और उत्तर’ कविता के माध्यम से सत्य को अपरिवर्तनशील बताया है। चूँकि संसार में परिवर्तन होते रहते हैं, लेकिन यदि कोई स्थिति अपरिवर्तनशील है तो वह एकमात्र सत्य है। यथा—

सत्य के देश में सूर्य ढलता नहीं
श्वास जाए चली, रूप छलता नहीं
याद है वो जलन जो कभी ना खले
एक माँ का हृदय है जो जलता नहीं।

—समय के पंख, पृ० 32

‘साँप’ शीर्षक कविता के माध्यम से कवि ने समाज में व्याप्त विकृतियों एवं विसंगतियों पर करारा व्यंग्य किया है। कवि कहता है कि जब तक समाज में साँप रूपी प्रकृति के व्यक्ति रहेंगे, तब तक समाज का कल्याण असंभव है। इसलिए उनका फन कुचलते रहना चाहिए। साथ ही ऐसे लोगों से सावधान भी रहना चाहिए, क्योंकि इनके पीछे मजबूत लोगों का हाथ होता है। कवि कहता है—

जब भी सर्प मिला जीवन में
मन ने कहा कि कुछ न विचारो
सर्प सर्प है, फौरन मारो।

फिर क्या था,
लाठी दे मारी।
पर, जाने थी क्या लाचारी
सर्प सरककर साफ़ बच गया
केवल वहाँ लकीर रह गई।
टूट गई लाठी बेचारी।

—समय के पंख, पृ० 81

इसी प्रकार 'अँधेरे-अँधेरे' शीर्षक कविता के माध्यम से समाज में बुरे कार्य करने वाले मनुष्यों पर व्यंग्य किया गया है। इन मनुष्यों में राजनेता भी हो सकते हैं और कोई भी, किसी भी क्षेत्र से जुड़े व्यक्ति हो सकते हैं, जो समाज-विरोधी गतिविधियों में लिप्त हों। ऐसे लोगों पर कवि की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति इस प्रकार है—

दिन के उजरे में न
ऐसा कोई काम करो
नींद नहीं आ पाए
रात के अंधेरे में।
रात के अँधेरे में
न करो कोई ऐसा काम
मुँह जो तुम छिपाते फिरो
दिन के उजरे में।

—समय के पंख, पृ० 100

इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'प्रगल्भ' जी ने अपनी व्यंग्यात्मक रचनाओं के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों और विकृतियों पर करारा व्यंग्य किया है। कवि का उद्देश्य सिर्फ़ सामाजिक विकृतियों पर व्यंग्य करना ही नहीं है, बल्कि युवावर्ग का आह्वान करना भी है। युवाओं का आह्वान करते हुए कवि कहता है—

हार जो गए हैं, हिम्मत न वे हारें यारो,
जीत जो गए हैं, फिर दाव न मारें यारो,
हारे-जीतों से है अपना तो निवेदन इतना
गंदगी हो जहाँ भी उसको बुहारें यारो।

—समय के पंख, पृ० 94

2. सांस्कृतिक व्यंग्य :

संस्कृति किसी भी समाज की परिचायक होती है। रीति-रिवाज़, परंपराएँ, पूजा-पाठ, खानपान, वेशभूषा आदि संस्कृति का परिचय देनेवाली संकल्पना है। भारतीय संस्कृति अति प्राचीन है। इसकी विश्व में अलग पहचान है। यहाँ की संस्कृति एक-दूसरे को जोड़ने वाली है। या यूँ कहा जाए कि विविधता में एकता का संदेश देती हैं। साधारणतया संस्कृति के दो रूप माने गए हैं— 1. परंपरावादी संस्कृति, 2. भौतिकवादी संस्कृति।

भारतीय संस्कृति परंपरावादी संस्कृति है। कवि भारतीय समाज में व्याप्त भौतिकतावादी

संस्कृति से प्रेरित और प्रभावित आधुनिकतावाद की भर्त्सना करते हुए विज्ञान को मात्र साधन मानता है, साध्य नहीं। 'प्रेम और विज्ञान' तथा 'बस में बाबू' शीर्षक कविता में कवि ने व्यक्ति को आधुनिकता से त्रस्त बताया है और आधुनिकता की अंधी दौड़ में दौड़ रहे मानव-जीवन की निंदा की है। आधुनिकता से ग्रस्त मानव-जीवन और समाज को कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

जिस क्षण तू
मानव-मति पर छा जाएगा
जाएगा बौरा तू
ग्रीष्म में और अधिक
ताप बरसावेगा।
जाड़े में कड़कड़ का
शीत सरकावेगा,
कटवाकर गला तू
भैया का भैया से
भैया की गोदी से
छिन में ही
लाल लड़ैते छिनावेगा

—समय के पंख, पृ० 42

कवि कोरे विज्ञानवाद को मानव-कल्याण के लिए जरूरी नहीं मानता। विज्ञानवाद पर व्यंग्य करते हुए वह कहता है कि विज्ञान के साथ यदि संवेदना और प्रेम भी जोड़ दिया जाए तो मानव-कल्याण संभव हो सकता है। कवि ने 'प्रेम और विज्ञान' शीर्षक कविता में स्पष्ट किया है—

स्वर्ग तो सुन
इसी पृथ्वी पर बिहँसेगा,
जिस क्षण तू
लेकर सहारा मेरा
धरती के उतारों को तारेगा।
उस क्षण
ओ विज्ञान
कुटियों में, महलों में
गाँवों में, नगरों में
डगरों में, बगरों में
स्वर्ग ही पावेगा
स्वर्ग ही पावेगा।

—समय के पंख, पृ० 44

'बस में बाबू' शीर्षक कविता में कवि ने आधुनिकता और धन की लालसा में लिप्त

मानव-जीवन पर व्यंग्य किया है। कवि कहता है कि ऐसा व्यक्ति अपने बारे में सोच ही नहीं पाता। यथा—

एक चक्र में बँधा जीवन
नाप रहा रोज़ एक ही दूरी
ये यात्राएँ जो कि हैं अधूरी
पी जाएँगी जिंदगी ही पूरी।

‘होरी’ शीर्षक कविता के माध्यम से कवि ने निर्धनता पर व्यंग्य किया है, जो ‘होली पर्व’ का भी परिचायक है। होली पर्व पर भी व्यंग्य करते हुए कवि कहता है—

सुहावन फाग मनभावन
रंग रतनार सरसावन
प्रस्न पूछे हैं, जो हमते
घरी कब आएगी पावन
न बिलखे जन कहुँ धनिया
न दम तोरे कहुँ होरी
कबहुँ तन में मचे होरी
कबहुँ मन में जरे होरी

—ब्रज कूँ विनत प्रनाम, पृ० 241

3. आर्थिक विषमता पर व्यंग्य :

‘प्रगल्भ’ जी की कविताओं में आर्थिक विषमता के कारण उत्पन्न स्थितियों पर भी व्यंग्य किए गए हैं। कवि ऐसे समाज का सपना मन में सँजोए है, जहाँ ऊँच-नीच न हो, भेद-भाव न हो और न ही आर्थिक परेशानियाँ हों। जहाँ समतावादी समाज हो, वहाँ इस प्रकार की स्थितियाँ पैदा ही नहीं होती हैं। यदि होती भी हैं तो उनका कोई अस्तित्व नहीं होता। कवि ने ‘सूर्य, चंद्र और तारे’, ‘साधना-साधन’ आदि शीर्षक कविताओं में आर्थिक विषमता से उत्पन्न निर्धनता के सत्य को इस प्रकार उजागर किया है—

निर्धन के आँगन का,
चौबारे का दीपक
जब छिप जाता
अंधकार होता
आलम का आलम ही
मुरझा-सा जाता।

यह तो रीति यहाँ की है ही
कुछ ऐसे व्यक्तित्व
हुआ करते हैं जग में
जिन्हें
दूसरों की

पर्वत जैसी अच्छाई
लगती राई,
औ' राई-सा दोष
जिन्हें पर्वत-सा दिखता।

—समय के पंख, पृ० 87-88

‘साधना-साधन’ शीर्षक कविता से—

सिंधु होता जा रहा बहरा
और पर्वत और भी गहरा
आचरण देने लगा है अब
और भी ज़्यादा कड़ा पहरा
हैं नयन करने लगे अब तो
वेदना का मूक अभिनंदन
साधना-साधन मिले तो फिर
कौन रह सकता भला निर्धन।

—समय के पंख, पृ० 90

4. राजनीतिक व्यंग्य :

कवि ने राजनीति और राजनेताओं दोनों को अपनी व्यंग्य-कविताओं का माध्यम बनाया है। कवि ने देश में उत्पन्न सामाजिक-धार्मिक और आर्थिक सभी परिस्थितियों के लिए देश के राजनेताओं को उत्तरदायी माना है। कवि का मानना है कि जब तक देश में भ्रष्ट राजनीति का बोलबाला रहेगा, तब तक देश में समानता और भाईचारे की भावना उत्पन्न होना संभव नहीं है। ‘सुन भी लो आवाज़’, ‘याद’ और ‘पतवार चलाने दो’ शीर्षक कविताओं के माध्यम से कवि ने भारतीय राजनीति पर करारा व्यंग्य किया है—

भले आदमी की याद
बनती है उत्सव
और
नेता की याद
बन जाती है व्यापार
निधि निर्माण,
पलते हैं जिस पर
छुट भइयों के परिवार।

—समय के पंख, पृ० 74

5. धर्म और अध्यात्म से संबंधित विषयों पर व्यंग्य :

कवि ने धर्म और अध्यात्म विषयों पर भी अपनी व्यंग्यात्मक लेखनी चलाई। लेकिन उनका उद्देश्य कभी भी धर्म की मज़ाक उड़ाना नहीं रहा। उनका उद्देश्य समाज में व्याप्त विसंगतियों, विकृतियों को दूर करना अवश्य रहा है। ‘सुखी कौन’ शीर्षक कविता के माध्यम

से कवि ने बताया है कि भगवान की भक्ति, पूजा-पाठ आदि करना ही धर्म नहीं है, अपितु मन से अपना कर्म करना ही सच्चा धर्म है—

क्या कहा
वे सुखी हैं,
जो राम-नाम जपते हैं,
शरीर को खपाते हैं,
तपते हैं।
शांति की खोज में
हिमालय में जाकर
बसते हैं
जिंदगी से
कतराकर भगे हैं,
किसी और जीवन के लिए
तरसते हैं।

—समय के पंख, पृ० 55

‘प्रगल्भ’ जी ने ‘कुंडली’ शीर्षक कविता में भी धर्म के नाम पर दिखावा करने वाले मनुष्यों की स्थिति को उजागर किया है। कवि व्यंग्य करते हुए कहता है कि धर्म को ही एकमात्र ईश्वर मान लेना कहाँ तक उचित है। कवि का कथन है—

राम झरोखा बैठके सबकौ मुजरा लेंय,
जैसी जाकी चाकरी तैसो ताहि न देंय,
तैसो ताहि न देंय, होय है अचरज भारी,
का छुट्टी पै गयौ आजु बिनकौ पटवारी।
खनक विकारै कनक, स्वयं पर तनक न पावै,
करे-धरै कछु नाहिं, मौज पर धनक उड़ावै।
कह ‘प्रगल्भ’ कविराय भयो है का कछु धोखा,
आज कालि को राम बैठि है राम झरोखा।’

—ब्रज कूँ विनत प्रनाम, पृ०61

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि ने समाज में व्याप्त धर्म के नाम पर अंधविश्वास और स्वार्थों की पूर्ति करने वाले लोगों पर तीक्ष्ण व्यंग्य किए हैं और कर्म को ही मनुष्य का सच्चा धर्म माना है।

6. कला के क्षेत्र में व्यंग्य :

कवि की दृष्टि बहुआयामी है। कवि को जहाँ कहीं भी, किसी भी क्षेत्र में विसंगति का अनुभव हुआ, उसने वहीं अपनी लेखनी चलाई है। कवि ने कला के क्षेत्र में भी व्यंग्यात्मक प्रस्तुति की है। कवि का मानना है कि आज का मनुष्य यथार्थ से मुँह मोड़ रहा है और झूठ-फरेब की अंधी दौड़ में दौड़ता चला जा रहा है। कवि ‘था और थी’ शीर्षक कविता के माध्यम से कला-क्षेत्र की विसंगतियों को इस प्रकार परिलक्षित करता है—

परिणामतः हुआ ऐसा
फिल्म को नाम मिला
प्रोड्यूसर को पैसा।
कलाकारों को मिला सम्मान,
सरकार से पुरस्कार
सोचता हूँ
कैसा ज़माना आ गया है
नाटक को पुरस्कार
हकीकत पर पत्थरों की बौछार
ऐ युग
तुझे सौ सौ नमस्कार।

—समय के पंख, पृ० 26

7. विदेशी भाषा के प्रति व्यंग्य :

कवि अपनी भाषा के पक्षधर और विदेशी भाषा के विरोधी रहे हैं। कवि ने अपने देश की भाषा को अपनाने पर बल दिया है। हिंदी भाषा को संविधान में राजभाषा का दर्जा दिया गया है, हम सभी को मिलकर उसे आगे बढ़ाना चाहिए। विदेशी भाषा को न अपनाकर अपने देश की भाषा को अपनाकर गर्व करना चाहिए। यही राष्ट्र के प्रति सच्ची भक्ति होगी कवि ने 'प्लेटफ़ार्म' शीर्षक कविता के माध्यम से विदेशी भाषा और संस्कृति पर व्यंग्य करते हुए कहा है—

यहाँ न तो प्लेट है
न फ़ार्म है,
फिर भी यह प्लेटफ़ार्म है।

प्लेटफ़ार्म में
प्लेट और फ़ार्म
इन दो शब्दों का नहीं
प्लेट, टफ़, आर्म
इन तीन शब्दों का मेल है।

इसका यही उच्चारण
प्लेटफ़ार्म नहीं,
प्लेट + टफ़ + आर्म
प्लेटफ़ार्म है।

—समय के पंख, पृ० 78

8. वैश्विक परिप्रेक्ष्य पर व्यंग्य :

कवि ने राष्ट्रीय सीमाओं को लाँघकर वैश्विक स्थिति पर भी व्यंग्य किया है। विश्वबंधुत्व का भाव उनमें परिलक्षित होता है। कवि वैश्विक स्तर पर परमाणु अस्त्रों की होड़

के प्रति शोक व्यक्त करते हुए कहता है कि इस प्रकार के अस्त्रों के प्रयोग से मानव-जाति का विनाश होता है। वह चारों ओर शांति चाहता है और 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना का पक्षधर है। 'साँप' शीर्षक कविता के माध्यम से कवि ने पड़ोसी देशों द्वारा उत्पन्न की गई विपरीत परिस्थितियों को समाप्त करते हुए शांति का वातावरण स्थापित करने का संदेश देते हुए कहा है—

तुम भी विषधर, मैं भी विषधर
हम दोनों हैं सगे-सहोदर
आओ, अब हम दोनों मिलकर
विष फेंके सारी दुनिया पर
चंदन पर अपना डेरा हो
मणियों पर अपना फेरा हो।

एक दिवस ऐसा आएगा
इस धरती पर
जबकि ज़हर से ज़हर मरेगा।
किंतु सोचिए।
क्या वह दिन ऐसा दिन होगा।
जबकि ज़हर से ज़हर मरेगा।
या वह दिन ऐसा दिन होगा,
जब धरती पर
ज़हर ज़हर बस ज़हर रहेगा।
ज़हर ज़हर बस ज़हर रहेगा।

—समय के पंख, पृ० 83

इसी प्रकार दुश्मन-दोस्त शीर्षक कविता में भी पड़ोसी देश के प्रति मित्रतापूर्ण भाव अभिव्यक्त हुए हैं। कवि ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष मित्रता के दोनों रूपों को उजागर करने का प्रयास किया है। कवि का मानना है कि मित्रता चाहे राष्ट्रीय स्तर पर हो चाहे अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर हो, उसके प्रति प्यार और विश्वास होना चाहिए। कवि का यह कथन इस प्रकार देखा जा सकता है—

—मैं अपने दुश्मन को
प्यार करता हूँ
—कौन है दुश्मन तुम्हारा?
—वही जो मेरा दोस्त है।
—और
दोस्त कौन है तुम्हारा?
— ये पूछकर क्या करोगे
मेरे दोस्त।

—समय के पंख, पृ० 84

9. विविध विषयक व्यंग्य :

‘लकड़ी का चिमटा’ शीर्षक कविता अपने-आप में एक व्यंग्य है, जिसमें एक साथ अनेक विषयों का समावेश देखने को मिलता है। जैसे—

एक श्रीमती ने
लकड़ी का चिमटा बनवाया।
श्रीमान का सिर चकराया—
‘कितने दिन चल पाएगा?
आग में जल नहीं जाएगा?
बोलीं—
‘आपने भी खूब कही।
अब आग में आग कहाँ रहीं?
आग होती
तो पुलिस की लाठी
सेठ की संदूक
डाकू की बंदूक
जल नहीं जाती?
और
क्या हमारे नेता की
कांठ की हांडी
हर बार चढ़ जाती?’

—समय के पंख, पृ० 91

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ‘प्रगल्भ’ जी ने अनेक विषयों पर व्यंग्य किए हैं, जिनका उद्देश्य मात्र हँसी-मजाक नहीं है, बल्कि सुधारात्मक एवं संदेशात्मक है। कवि व्यंग्य के माध्यम से समाज, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संदेश देना चाहता है, जिसका उद्देश्य मानव-कल्याण है। कवि मानव-कल्याण के प्रति प्रयासरत है तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किसी भी रूप में वह मानव-कल्याण करता रहता है। कवि ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ की भावना का पक्षधर है। वह देश व राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन भली-भाँति करता है।

□ द्वारा श्री नवराम चक्रवर्ती

ए-472, कुसुम विहार

कोतवाली रोड, नजीबाबाद (बिजनौर)

चयन के आधार पर पंत-काव्य का अध्ययन

मनजीत कौर

हिंदी विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

कविवर सुमित्रानंदन पंत हिंदी-साहित्य के आकाश के चमचमाते सितारे हैं। इनके द्वारा रचित साहित्य के प्रकाश से अनेक साहित्यकारों का मार्ग उज्वल होता रहा है। पंत प्रकृति के बहुत निकट रहे हैं। इन्हें प्रकृति का सुकुमार कवि भी कहा जाता है। इन्होंने तत्कालीन समाज को ज्ञान की आलोकपूर्ण ज्योति से परिचित करवाया तथा निराश, पीड़ित, असहाय, जन-साधारण को आशा तथा विश्वास का अमर संदेश भी दिया।

आज के युग में विज्ञान का विशेष महत्त्व है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में विज्ञान का प्रवेश हो रहा है। अतः साहित्य का क्षेत्र भी विज्ञान से प्रभावित हो रहा है। इसी कारण साहित्य-संसार में एक नवीन विधा का जन्म हुआ— 'शैली-विज्ञान'। शैली-विज्ञान ने न केवल भारतीय साहित्य, बल्कि संपूर्ण विश्व-साहित्य को प्रभावित किया है। अनेक भारतीय व पाश्चात्य विचारकों ने 'शैली' तथा 'शैली-विज्ञान' को अपने-अपने ढंग से व्यक्त करने के प्रयास किए हैं।

साधारण शब्दों में शैली व शैली-विज्ञान को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है— साहित्यकार अपने मन के भावों को भाषा के जिस रूप में या जिस तरीके से व्यक्त करता है, वह उसकी शैली होती है।

दूसरी ओर शैली के वैज्ञानिक अध्ययन को शैली-विज्ञान कहा जाता है। शैली-विज्ञान का क्षेत्र अत्यंत व्यापक होता है। इसके अध्ययन-विश्लेषण के अंतर्गत शैली के विभिन्न तत्त्वों पर विचार किया जाता है। इन्हीं तत्त्वों में से एक है— 'चयन'।

इसके अतिरिक्त शैली के अनेक तत्त्व होते हैं— विचलन, समानांतरता, विपथन, विरलन, अप्रस्तुत विधान, प्रोक्ति आदि। परंतु यहाँ शैली के प्रमुख तत्त्व 'चयन' के आधार पर कविवर पंत के काव्य का अध्ययन विश्लेषण किया गया है। इससे पहले 'चयन' के विषय में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

चयन : अर्थ, परिभाषा व प्रकार— साधारण शब्दों में चयन का अर्थ है— चुनाव या चुनाव करना। वण्य-विषय, वक्ता, परिस्थिति आदि के अनुकूल शब्दों तथा वाक्यों का उचित प्रयोग 'चयन' कहलाता है। शैली-विज्ञान के संदर्भ में इस शब्द का अर्थ है— विशेष अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए भाषा द्वारा प्रस्तुत एकाधिक विकल्पों में से किसी एक का चुनाव करना। उदाहरणतः नीर, जल, अंबु, पानी आदि अथवा सूर्य, सूरज, भास्कर, रवि आदि

समानार्थक शब्दों में से सर्जनात्मक आवश्यकता के अनुरूप किसी एक को चुनना या प्रयोग में लाना ही चयन है।¹

प्रत्येक साहित्यकार किसी कृति की रचना करने से पहले भाषा के ऐसे शब्दों तथा वाक्यों को चुनता है, जिससे वे अपने संदेश को सरलता से जनसाधारण तक प्रेषित कर सकें। लेखक द्वारा अपनाई गई इसी प्रक्रिया का नाम 'चयन' है।

परिभाषाएँ— अनेक भारतीय व पाश्चात्य विचारकों ने 'चयन' को अपने-अपने तरीके से परिभाषित करने का प्रयास किया है। कुछ प्रमुख विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं।

1. डॉ० नगेंद्र शैली के निर्माण में 'चयन' की प्रक्रिया को महत्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार 'कहीं तो लेखक सावधान होकर अपने कलात्मक विवेक से शब्दों (पदों का), शब्द-घटकों, वाक्यांशों और वाक्यों का चयन करता है अर्थात् अनेक समानार्थक शब्दों, वाक्यांशों और वाक्यों में से संदर्भ तथा अभीष्ट कलात्मक प्रभाव के अनुरूप किसी एक का निर्वाचन करता है। कहीं अभ्यासवश अविचारित रूप से इस प्रकार का निर्वाचन करता है।'²

2. डॉ० कृष्णकुमार कहते हैं— 'कोई भी कृतिकार एक ही समय में भाषा के संपूर्ण स्रोतों का उपयोग नहीं कर सकता, उनमें से कुछ का ही प्रयोग करता है और यह चयन है।'³

3. डॉ० सुरेशकुमार के अनुसार— 'चयन अभिव्यक्ति के प्रसंग तथा उद्देश्य के अनुरूप उपलब्ध भाषागत विकल्पों में से उपयुक्त का चयन है।'⁴

4. भोलानाथ तिवारी के शब्दों में— 'चयन का अर्थ है— 'चुनना' अर्थात् 'एकाधिक' में से किसी 'एक' को चुन लेना।'⁵

5. ग्लिसन कहते हैं— 'भाषा रूपी संभावना द्वारा प्रस्तुत विकल्पों में से चुने गए एककों का अभिरचनाकरण ही चयन है।'⁶

6. शोपेन हावर के अनुसार— 'विचारों की स्पष्टतम, सुंदरतम तथा सर्वाधिक शक्तिशाली अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसकी प्राप्ति उन शब्दों के प्रयोग से हो सकती है, जो उचित हों।'⁷

7. हिक्की के शब्दों में— 'जो भाषा-विशेष द्वारा प्रस्तुत और सुलभ संभावनाओं की श्रेणी के बीच किया गया हो, चयन है।'⁸

साधारण शब्दों में विभिन्न भाषिक एककों में से विषयानुकूल शब्दों को चुनना ही चयन कहलाता है।

प्रकार : 'चयन' के प्रकारों के विषय में भी विद्वानों में काफी मतभेद रहा है, परंतु अधिकतर विद्वानों ने चयन के निम्नलिखित प्रकार व आयाम स्वीकार किए हैं—

1. **ध्वनि-चयन :** ध्वनि-चयन के अंतर्गत भाषा-विशेष के ध्वनि-समूह में से किन्हीं विशेष ध्वनि वाले शब्दों का चयन किया जाता है।

2. **शब्द-चयन :** इसके अंतर्गत विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करनेवाले शब्दों का चुनाव किया जाता है।

3. **रूप-चयन :** इसके अंतर्गत आवश्यकतानुसार तथा विषयानुकूल रूपों का चयन किया जाता है। इसमें लिंग, वचन, कारक आदि आते हैं ।

4. **वाक्य-चयन :** इसके अंतर्गत सरल, संयुक्त, मिश्र, पूर्ण-अपूर्ण, सामान्य-असामान्य,

साकारात्मक-नकारात्मक आदि वाक्यों का आवश्यकतानुसार चुनाव किया जाता है।

5. **अर्थ-चयन** : इसके अंतर्गत अभिधा, लक्षणा, व्यंजना के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति की जाती है।

उपर्युक्त आयामों के आधार पर ही कविवर सुमित्रानंदन पंत के काव्य का अध्ययन-विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है-

चयन के आधार पर पंत-काव्य का अध्ययन :

1. **पंत-काव्य में ध्वनि-चयन** : प्रत्येक भाषा में अनेक प्रकार की ध्वनियाँ होती हैं। इन्हीं ध्वनियों में से विशेष तथा उपयुक्त ध्वनि-समूह का चयन करना ध्वनि-चयन है। एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि- ध्वनि-चयन के अंतर्गत किसी ध्वनि-मात्र का चयन नहीं किया जाता, बल्कि किसी विशेष ध्वनि वाले शब्दों का ही चयन किया जाता है। प्रत्येक साहित्यकार अपने मनोभावों की उत्तम अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त ध्वनि वाले शब्दों का सहारा लेता है। जैसे- वीररस के अंतर्गत कठोर ध्वनियों तथा शृंगारिक भावों की अभिव्यक्ति के लिये कोमलकांत शब्दावली का चयन किया जाता है।

कविवर पंत जी ने अधिकतर कोमल ध्वनि वाले शब्दों का उपयोग किया है। जैसे-

झम-झम-झम-झम मेघ बरसते रे सावन के
छम-छम-छम गिरतीं बूँदें तरुओं से छन के।⁹

कई स्थलों पर पंत जी ने महाप्राण ध्वनियों का उपयोग किया है, परंतु वहाँ भी कोमलता का भाव स्वतः आ जाता है। यथा-

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
हैं चहक रही चिड़ियाँ
टी-वी टी टुट-टुट ।
झूम-झूम झुक-झुक कर
भीम-नीम तरु निर्भर-
सिहर-सिहर थर-थर-थर
करता सर-सर
चर-मर।¹⁰

यहाँ पंत जी ने 'ट' 'ह' 'झ' 'भ' 'थ' जैसी महाप्राण ध्वनियों का उपयोग किया है, फिर भी उनकी शब्दावली कोमलकांत प्रतीत होती है।

2. **पंत-काव्य में शब्द-चयन** : शब्द चयन का अर्थ है कि- भाषा में समानार्थी शब्दों में से किसी एक उपयुक्त शब्द का चुनाव करना। उपयुक्त शब्दों के माध्यम से ही साहित्यकार अपनी अभिव्यक्ति को सशक्त बना सकता है।

पाश्चात्य कवि कार्लाइल सर्वोत्तम शब्दों के सर्वोत्तम क्रम को काव्य मानते हैं-
"Poetry is the best words in best order"¹¹

डॉ० नगेंद्र भी कहते हैं- 'उचित शब्द का चयन आवश्यक है, किंतु पर्याप्त नहीं है। सुंदरतम शब्दों का क्रम-बंधन भी सुंदरतम ही होना चाहिए, तभी कला का रूप पूर्ण होता है।'

दोनों विचारकों ने शब्द के महत्त्व को उजागर करने का सुंदर प्रयास किया है। शब्द-चयन के अंतर्गत विशिष्ट अर्थ की व्यंजना करनेवाले शब्दों का चुनाव किया जाता है। इसके अंतर्गत तत्सम, तद्भव, देशज, विदेशज आदि शब्दों का भावानुकूल चयन किया जाता है। कविवर पंत जी ने भी उपर्युक्त सभी प्रकार के शब्दों का उपयोग अपने काव्य में किया है।

(क) तत्सम शब्द : कविवर पंत ने अपने काव्य में अधिकांशतया तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है।

‘ग्राम्या’ की ‘गंगा’ कविता में पंत कहते हैं—

अब नभ पर रेखा-राशि शोभित
गंगाजल श्यामल, कर्पित
लहरों पर चाँदी की किरणों
करतीं प्रकाशमय कुछ अंकित।¹³

यहाँ पंत जी ने ‘नभ’ ‘श्यामल’ ‘प्रकाशमय’ तत्सम शब्दों का बड़ा सरल तथा सुंदर प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त पंत जी ने अनेक स्थलों पर कठिन तत्सम शब्दावली का उपयोग भी किया है। यथा—

तृप्त हुई मन की न कामना
नयन लुभाता सोने का मृग
शेष अभी जीवन मरीचिका
तृषित रूप रस के माते दृग।¹⁴

प्रस्तुत काव्यांश में पंत जी ने ‘तृप्त’ ‘मृग’ ‘मरीचिका’ ‘तृषित’ ‘दृग’ जैसी कठिन शब्दावली का उपयोग किया है।

(ख) तद्भव शब्द : तत्सम शब्दों के अतिरिक्त पंत जी ने अपने काव्य में तद्भव शब्दों का उपयोग भी किया है। संस्कृत के जो शब्द प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिंदी आदि से गुजरने के कारण आज बदले हुए रूप में दिखाई देते हैं, वे तद्भव शब्द कहलाते हैं। जैसे— सप्त-सात, सर्प-साँप, कर्ण-कान, मुख-मुँह आदि। कविवर पंत जी ने तद्भव शब्दों को सामान्य रूप में प्रयोग करने के साथ-साथ कुछ परिवर्तन के साथ भी प्रयोग किया है।

पंत जी ने अनेक स्थलों पर तद्भव शब्दों में उपसर्ग या प्रत्यय लगाकर उनका रूप ही बदल दिया है। फिर भी अर्थ-संप्रेषण में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

पावक-पग घर आवे नूतन।
हो पल्लवित नवल मानवपन।¹⁵

यहाँ कविवर पंत ने मानवता के भाव को व्यक्त करने के लिए एक नवीन शब्द ‘मानवपन’ का उपयोग किया है। एक अन्य दृष्टांत—

प्रथम इच्छा का पारावार
सुखद आशा का स्वर्गाभास।¹⁶

इस काव्यांश में ‘स्वर्गाभास’ शब्द का उपयोग तद्भव शब्द के परिवर्तित रूप का

सुंदर उदाहरण है। यह वास्तव में 'स्वर्ग+आभास' शब्द हैं, जिन्हें जोड़कर 'स्वर्गाभास' शब्द बनाया गया है।

(ग) देशज शब्द : हिंदी-शब्दावली में लोकभाषाओं से आए हुए कुछ शब्द ऐसे भी हैं, जिनका स्रोत संस्कृत नहीं है। इनके स्रोत के विषय में भी कुछ पता नहीं। ऐसे शब्द देशी या देशज शब्द कहलाते हैं। जैसे— खड़की, पगड़ी, टाँग, लोटा, झाडू आदि ।

कविवर पंत जी ने अपने काव्य में अनेक देशी शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे— झाँझर, लुंगी, टिटहरी, छुई-मुई, गैल, छबीली, हौले-हौले, छहरी आदि। देशज शब्दों का प्रयोग स्वाभाविक कोमलता तथा भावों को अधिक प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए किया गया है। पंत जी ने भी इसी कारण यथा-स्थान पर देशी शब्दों का बड़ा ही सुंदर उपयोग किया है। यथा—

मैं अपने भोलेपन में
उससे प्रसन्न हो
दूध गटक लेता तुरंत
खाली गिलास कर।¹⁷

इस काव्यांश में पंत जी ने जल्दी-जल्दी दूध पीने की क्रिया को 'गटक' शब्द के माध्यम से प्रस्तुत किया है। यह अत्यंत सुंदर व स्वाभाविक देशी शब्द है। इसके अतिरिक्त पंत जी ने ध्वन्यात्मकता के गुण के लिए कहीं-कहीं स्वयं ही ऐसे शब्दों का निर्माण कर दिया है, जो देशी शब्द ही कहे जाएँगे। यथा—

ये नाप रहे निज घर का मग
कुछ श्रमजीवी धर डगमग डग
भारी है जीवन, भारी पग।¹⁸

इस काव्यांश में पंत जी ने चलने की क्रिया के लिए 'डगमग' जैसे नवीन ध्वन्यात्मक शब्द का अति सुंदर उपयोग किया है।

(घ) विदेशी शब्द : जो शब्द दूसरे देश की भाषाओं से आए हैं, उन्हें विदेशी शब्द कहा जाता है। जैसे— हिंदीभाषा में अरबी, फ़ारसी, तुर्की, अँग्रेज़ी, पुर्तगाली आदि भाषाओं से अनेक शब्द आ गए हैं, जो आज हिंदीभाषा के ही माने जाते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें पंत जी ने अँग्रेज़ी शब्दावली का उपयोग किया है—

हंसमुख केंडीटफ्ट रेशमी चटकीले नेस्टरशम,
खिली स्वीट पी- एवंडंस, फिलबास्केट,
ओ ब्लू बैटम।¹⁹

इसके अतिरिक्त कविवर पंत जी ने 'स्वर्णधूलि' में अधिकतर विदेशी शब्दावली का उपयोग किया है।

3. पंत-काव्य में रूप-चयन : शब्द भाषा की अर्थपूर्ण स्वतंत्र ईकाई है। वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द पद या रूप कहलाता है। रूप-चयन के अंतर्गत आवश्यकतानुसार रूपों का चयन किया जाता है।

रत्नचंद्र शर्मा कहते हैं— 'रूपविज्ञान में रूपों (शब्द-रूपों) का वैज्ञानिक अध्ययन

किया जाता है। शब्दों की संरचना, वाक्य में शब्दों का प्रयोग, शब्द और पद, संबंध तत्त्व और अर्थतत्त्व, प्रकृति, प्रत्यय, व्याकरणिक कोटियाँ आदि रूप विज्ञान का ही विषय है।²⁰

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि— रूप के आधार पर चयन तथा विचलन की अधिक संभावना नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक भाषा में व्याकरणिक रूप सीमित होते हैं। हिंदीभाषा के कुछ मान्य रूप अथवा पद हैं संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, विशेषण आदि।

पंत जी ने रूप-चयन के अंतर्गत अत्यंत सतर्कता का परिचय दिया है। अनेक स्थलों पर पंत जी ने परिवर्तन भी किए हैं, परंतु अर्थ-संप्रेषण में कहीं भी बाधा उत्पन्न नहीं होती। यथा—

तुमको पाकर मैं प्रिय सुमिते,
आज गोद में
अनुभव करता हूँ
चरितार्थ हुआ अब जीवन।²¹

यहाँ पंत जी ने संज्ञा शब्द 'सुमिता' को 'सुमिते' लिखा है। फिर भी अर्थ-संप्रेषण सरलता से हो जाता है—

ओस जल में सजल मेरे अश्रु हैं
पलक दल में दूब के बिखरे पड़े।
पवन पीले पात में मेरा विरह
है खिलाता दलित मुरझे फूल-सा।²²

यहाँ पंत जी ने क्रिया-रूप में परिवर्तन करके उसे छोटा कर दिया है— 'मुरझाए' के स्थान पर 'मुरझे' शब्द का उपयोग किया है।

विशेषणों के प्रयोग के अंतर्गत पंत जी ने इनमें उपसर्ग जोड़कर रूप में परिवर्तन कर दिया है। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

- क. या किसी की यह विनीरव आह है
खोजती है जो प्रलय की राह को।
ख. ललित लतिका के विकंपित अधर में
कांपती है आज मेरी कल्पना!
ग. जब विमूर्च्छित नींद से मैं था जगा
(कौन जाने, किस तरह?) पीयूष-सा।²³

उपर्युक्त काव्यांशों में कविवर पंत ने 'नीरव' 'कंपित' 'मूर्च्छित' शब्दों (विशेषणों) में 'वि' उपसर्ग जोड़कर इनका रूप ही परिवर्तित कर दिया है।

आज्ञा-रूपों के अंतर्गत कविवर पंत ने अधिकतर संस्कृत शब्दावली का उपयोग किया है। यथा—

शैवालिन, जाओ मिलो तुम सिंधु से,
अनिल, आलिंगन करो तुम गगन का,
चंद्रिके, चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो, गाओ, पवन वीणा बजा।²⁴

यहाँ संबोधन के लिए 'शैवालिन' 'अनिल' 'चंद्रिके' 'उडुगणों' जैसे संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है।

4. **पंत-काव्य में वाक्य-चयन** : वाक्य-चयन के अंतर्गत साहित्यकार अपने भावों को सर्वश्रेष्ठ ढंग से व्यक्त करने के लिए उपयुक्त वाक्यों का चयन करता है। रचना के आधार पर सरल, संयुक्त, मिश्र वाक्यों का चयन किया जाता है। इसके अतिरिक्त निषेधात्मक, आज्ञावाचक, प्रश्नवाचक, इच्छावाचक, विस्मयादिबोधक, संदेहबोधक आदि वाक्यों का विषयानुसार चयन किया जाता है।

कविवर पंत जी ने भावानुकूल तथा विषयानुरूप वाक्यों का उपयुक्त चयन किया है। अनेक स्थलों पर पंत जी ने सरल, सहज वाक्यों का उपयोग किया है। यथा—

सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते वे उपहार।²⁵

संयुक्त वाक्यों तथा मिश्र वाक्यों के अतिरिक्त पंत जी ने वाक्यों का अनेक रूपों में उपयोग किया है। पंत जी ने कई स्थलों पर वाक्यों को अधूरा भी छोड़ दिया है। यथा—

हिंसा विनाश यदि, नहीं अहिंसा मात्र सृजन,
वह लक्ष्य शून्य अब²⁶

एक अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत है—

धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर²⁷

पंत जी ने अनेक स्थलों पर अत्यंत सरल, किंतु लंबे वाक्यों का उपयोग भी किया है। जैसे—

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक-दूसरे से मिल
मित्रों-से हैं खड़े
मौन मनोहर।²⁸

इसके अतिरिक्त पंत जी ने असामान्य-से वाक्यों का उपयोग भी किया है। ऐसे वाक्यों का अर्थ साधारण पाठक तक नहीं पहुँच पाता। जैसे—

जोसेफ़ हिल, सनबर्स्ट पीत, स्वर्णिम लेडी हेलिंडन,
ग्रेंड मुगल, रिचमंड, विकच ब्लेक प्रिंस, नील लोहित मन,
फेअरी क्वीन, माग्रेट मृदु, वीलियम शीन चिर पाटल
बटन रोज़ बहु लाल, ताम्र माखनी रंग के कोमल।²⁹

यहाँ पंत जी ने फूलों के नाम ही बताए हैं, परंतु साधारण पाठक ऐसे वाक्यों से अधिक प्रभावित नहीं हो पाता।

5. **पंत-काव्य में अर्थ-चयन** : भाषा का उद्देश्य ही अर्थ को जनसाधारण तक प्रेषित करना होता है। मुख्य रूप से अभिधा, लक्षणा, व्यंजना शब्द-शक्तियों के माध्यम से ही काव्य के अर्थ-पक्ष को उजागर किया जा सकता है। कविवर पंत जी ने इन तीनों

शब्द-शक्तियों के उचित प्रयोग द्वारा अपने काव्य को उत्कृष्ट बनाने का सफल प्रयास किया है।

क. अभिधा शब्द-शक्ति : अभिधा शब्द-शक्ति के अंतर्गत सीधे-सरल तरीके से साधारण शब्दों में भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। पंत जी ने अपने काव्य-संसार में अनेक स्थलों पर सीधे-सरल तरीके से भाव व्यक्त किए हैं। जैसे—

भारत माता ग्रामवासिनी
खेतों में फैला है श्यामल
धूल-भरा मैला-सा आँचल
गंगा-यमुना में आँसू जल
मिट्टी की प्रतिभा
उदासिनी।³⁰

ख. लक्षणा शब्द-शक्ति : इस शब्द-शक्ति के अंतर्गत साहित्यकार अपने मनोभावों को व्यक्त करने के उद्देश्य से उपयुक्त मुहावरों तथा लोकोक्तियों का उपयोग करके अपने काव्य-संसार में उत्कृष्टता लाने का प्रयास करता है। कविवर पंत ने इस शब्द-शक्ति उपयोग प्रचुर मात्रा में किया है। यथा—

उड़ गया अचानक लो भूधर
फड़का अपार पारद के पर।
रव-शेष रह गए हैं निर्झर—
है टूट पड़ा भू पर अंबर!³¹

यहाँ पंत जी ने प्राकृतिक उथल-पुथल के भाव को व्यक्त करने के लिए चारों पंक्तियों में भिन्न-भिन्न रूपों में लाक्षणिक प्रयोग किए हैं। अन्य उदाहरण—

बन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुस्काना।³²

यहाँ कलि के मुस्काने का अर्थ है— कलि का धीरे-धीरे खिलना या बढ़ना। यहाँ अर्थ-विस्तार होने के साथ लाक्षणिक प्रयोग भी है।

इसके अतिरिक्त पंत जी ने 'विशेषण-विपर्यय' के माध्यम से भी लाक्षणिक प्रयोग किये हैं। यथा—

रंगीले गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग-सी नित।³³

यहाँ 'अधखिले भाव' में विशेषण-विपर्यय है। इसके अतिरिक्त 'खेलती थी तरंग सी' में लाक्षणिकता का गुण भी विद्यमान है।

ग. व्यंजना शब्द-शक्ति : इसके अंतर्गत व्याकरणिक नियमों का अधिक पालन नहीं किया जाता। यहाँ केवल व्यक्तिगत विचारों का ही विशेष महत्त्व होता है। कविवर पंत ने विशेष रूप से 'शशि की तरी' तथा 'समाधिता' नामक कृतियों में अपने व्यक्तिगत विचारों

को बड़े हृदयस्पर्शी ढंग से व्यक्त किया है। अपनी गोद ली गई पुत्री सुमिता के विषय में पंत जी 'समाधिता' में कहते हैं—

सुमिते,
तुम शैशव समाधि में रहतीं निश्छल
न्यौछावर तुम पर दादू के समाधिस्थ पल।³⁴

'शशि की तरी' नामक कृति में अपने कोमल भावों को व्यक्त करते हुए पंत कहते हैं—

शशि-लेखा को गोद लिए
वात्सल्य मुग्ध-सा अंबर
तुमको अंक लगाने को
आतुर हो उठता अंतर।³⁵

इसके अतिरिक्त एक स्थल पर (एक मूक अवसाद कविता में) तो पंत जी ने अपने संपूर्ण जीवन की व्यथा ही एकत्रित कर दी है—

आँसू में न्हाया-सा आसों का वन
लगता मेरे ही जीवन का दर्पण।³⁶

इस प्रकार कविवर पंत जी ने अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तीनों शब्द-शक्तियों के प्रयोग से अपने काव्य को उत्तम अभिव्यक्ति प्रदान की है। शब्द-शक्तियों के आकर्षक तथा उचित प्रयोग से पंत-काव्य और भी निखर जाता है। इस प्रकार पंत जी ने अपने भावों को सशक्त व सुंदर अभिव्यक्ति प्रदान की है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त अध्ययन-विश्लेषण के पश्चात् यह बात स्पष्ट है कि कविवर सुमित्रानंदन पंत जी ने उपयुक्त चयन के माध्यम से उत्कृष्ट काव्य-संसार का निर्माण किया है। ध्वनि-चयन के अंतर्गत भावानुकूल, कोमल ध्वनियों का चुनाव सहज ही आकर्षित करता है। इसके अतिरिक्त रूप तथा वाक्य-चयन के आधार पर भी पंत-काव्य उत्तम कहा जा सकता है; परंतु अनेक स्थलों पर वाक्य असामान्य व अधिक लंबे हैं तथा व्याकरणिक दृष्टि से भी उचित नहीं। यहाँ पंत जी के काव्य में शिथिलता-सी आ जाती है।

अर्थ : चयन के अंतर्गत पंत जी का काव्य अत्यंत आकर्षक प्रतीत होता है। यहाँ कवि ने तीनों शब्द-शक्तियों का बड़ी ही सहजता व चतुराई से प्रयोग कर अपने काव्य-संसार में चार-चाँद लगा दिए हैं। शब्द, रूप, वाक्य-चयन की अपेक्षा पंत जी का काव्य ध्वनि तथा अर्थ-चयन के अंतर्गत अधिक आकर्षक प्रतीत होता है, परंतु कुल मिलाकर 'चयन' के आधार पर पंत जी का काव्य उत्कृष्ट काव्य कहा जा सकता है।

संदर्भ

1. उषा सिंघल, 'शैलीविज्ञान और नाटक', पीतांबर पब्लिशिंग कंपनी, 888, ईस्ट पार्क रोड, करौल बाग, नई दिल्ली 110005, पृ० 43
2. नगेंद्र, 'शैलीविज्ञान', नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, 2/35 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, चौथा संस्करण-2005, पृ० 80

3. कृष्णकुमार, 'शैलीविज्ञान की रूपरेखा', संधी प्रकाशन, जयपुर, 1976, पृ०-23
4. सुरेशकुमार, 'शैलीविज्ञान', वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, पृ० 70
5. भोलानाथ तिवारी, 'शैलीविज्ञान', शब्दकार, 159, गुरु अंगद नगर (वैस्ट) दिल्ली 110092, सं० 1997, पृ० 80
6. 'शैलीविज्ञान और नाटक', उषा सिंघल, पृ० 44
7. 'हरिऔध की काव्यशैली', विमल आहुजा, आत्माराम एंड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली 6, प्रथम सं० 1970, पृ० 20
8. 'शैली और शैली विश्लेषण', पांडेय शशिभूषण 'शीतांशु', वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, सं० 2007, पृ० 51
9. 'सुमित्रानंदन पंत-कवि और काव्य', शारदालाल, तक्षशिला प्रकाशन, 23/4762 अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, प्रथम सं० 1986, पृ० 113
10. 'सुमित्रानंदन पंत-कवि और काव्य' शारदालाल, पृ० 20
11. 'शैलीविज्ञान', भोलानाथ तिवारी, पृ० 81
12. नगेंद्र, 'शैलीविज्ञान', पृ० 66
13. 'ग्राम्या', सुमित्रानंदन पंत, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, 15वाँ संस्करण संवत् 2013 वि०, पृ० 43
14. 'सुमित्रानंदन पंत-कवि और काव्य', शारदालाल, पृ० 175
15. 'पंत-आधुनिक कवि', राजकुमार शर्मा, पद्म बुक कंपनी, जयपुर, प्रथम सं० 1985, पृ० 15
16. 'सुमित्रानंदन पंत : कवि और काव्य', शारदालाल, पृ० 13
17. 'आस्था' सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि० 8 फैज बाजार, दरियागंज, दिल्ली 6 प्रथम संस्करण, सं० 1973, पृ० 111
18. 'पंत की काव्य-चेतना में गुंजन', वसुदेवनंदन प्रसाद, किताब महल, 56-ए, जीरो रोड, इलाहाबाद, सं० 1954, पृ० 26
19. 'पंत की काव्यभाषा : शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण', कांता पंत, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-211001, सं० 2007, पृ० 59
20. रत्नचंद्र शर्मा, 'भाषा विज्ञान और मानक हिंदी', कपूर पब्लिकेशंस, करनाल, दूसरा सं० 1980, पृ० 190
21. 'आधुनिक कवि', सुमित्रानंदन पंत, 1817 बी, कस्तूरबा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, सं० जुलाई, 1960, पृ० 137
22. 'पंत की काव्य भाषा-शैली वैज्ञानिक विश्लेषण', कांता पंत, पृ० 61
23. वही, पृ० 61
24. 'सुमित्रानंदन पंत-कवि और काव्य', शारदालाल, पृ० 82
25. 'पंत की काव्यभाषा : शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण, कांता पंत, पृ० 67
26. 'पंत सहचर', अशोक वाजपेयी (प्रधान संपादक), वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई

दिल्ली 110002, प्रथम सं० 2001, पृ० 220

27. वही, पृ० 301
28. वही, पृ० 29
29. वही, पृ०-59
30. वही, पृ० 224
31. वही, पृ० 254
32. 'पंत की काव्यभाषा : शैलीवैज्ञानिक विश्लेषण', कांता पंत, पृ० 80
33. वही, पृ० 78
34. 'समाधिता', सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, 8 फेज बाजार दरियागंज, दिल्ली 6, सं० 1973, पृ० विज्ञापन से
35. 'शशि की तरी', सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि० दिल्ली-6, प्रथम सं० 1971, पृ० 88
36. वही, पृ० 19

नाटकीयता का सैद्धांतिक विवेचन

सुमनदेवी, शोध छात्रा

हिंदी विभाग

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

कथासाहित्य में नाटकीयता :

कथाकार अपने साहित्य में अपने भावों की प्रखर अभिव्यक्ति के लिए नाटकीयता का प्रयोग करता है। वह अपनी रचना को प्रभावशाली और रोचक बनाने के लिए नाटकीयता को अपनाता है। संघर्ष, द्वंद्व, तनाव, आकस्मिक रूप से पात्रों का आना-जाना, संवाद, मार्मिक दृश्यों का चित्रण, ये सब कथा-साहित्य में किसी न किसी रूप में, अवश्य मिलते हैं। हडसन ने लिखा है— 'कोई भी नाटकीय कहानी किसी संघर्ष-विरोधी व्यक्तियों, आवेगों या स्वार्थों की टकराहट से जन्म लेती है। कोई भी नाटक, जिसमें संघर्ष का तत्त्व कम है, नाटक की दृष्टि से दोषपूर्ण समझा जाएगा, भले ही उसमें दूसरे गुण बहुत अधिक क्यों न हो।' जो तत्त्व हमें कहानी को आगे पढ़ने के लिए उत्साहित करता है, कौतूहल जगाता है वह नाटकीयता ही है।

वैसे देखने से तो यही लगता है कि नाटक और नाटकीयता दोनों एक ही हैं, परंतु इन दोनों में अंतर है। नाटक के लिए रंगमंच का होना ज़रूरी है, जबकि नाटकीयता रंगमंच के बिना भी कथासाहित्य में किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहती है। निर्मल वर्मा के अनुसार— 'नाटकीय तत्त्व हर कला विधा में मौजूद रहता है, लेकिन हर कला विधा नाटक नहीं होती है। यह सोचना भ्रामक होगा कि नाटकीयता केवल नाटक विधा की संपत्ति है। दरअसल, कला की हर विधा अलग-अलग ढंग से नाटकीय होती है, क्योंकि वह अलग-अलग रूपों में अपने को दुनिया से जोड़ती है।'

नाटकीयता का अर्थ :

नाटकीयता का अर्थ है आकस्मिकता। जब किसी घटना या चरित्र के कारण किसी स्थिति में परिवर्तन आ जाता है तो वहाँ नाटकीयता होती है। जीवन में हम नाटकीय किसे कहते हैं, सामान्यतः वैसी घटनाओं को, जो हमारे मन में जिज्ञासा, उत्सुकता के भावों को पैदा करती हैं। जब हम कहते हैं कि उसके जीवन ने नाटकीय मोड़ ले लिया तो इसका अभिप्राय होता है आकस्मिक रूप से कुछ हो गया। नाटकीयता केवल बड़े लोगों के जीवन में ही नहीं होती, छोटे लोगों के जीवन में भी नाटकीयता होती है। जीवन के छोटे और महत्वहीन समझे जानेवाले प्रसंगों में भी नाटकीयता होती है। नाटकीयता में ऐसी शक्ति होती है कि कुछ समय के लिए पाठक सब-कुछ भूलकर उसी में खो जाता है। पर्सिवल वाइल्ड के अनुसार 'नाटकीय स्थिति वही है, जो उसमें संलग्न व्यक्ति या व्यक्तियों के भावी सुख के संबंध में प्रश्न उठाती है। यही नाटकीयता की अनिवार्य शर्त है।'

नाटकीयता के तत्त्व :

द्वंद्व, संघर्ष और तनाव को नाटकीयता के तत्त्व माना गया है। जिन कहानियों में ये तत्त्व होते हैं, उन्हें नाटकीय मान लिया जाता है। कुछ ऐसी कहानियाँ हैं, जिनमें नाटकीयता तो मिलती है, परंतु द्वंद्व नहीं मिलता। इसके विपरीत ऐसी कोई स्थिति देखने को नहीं मिलती, जहाँ नाटकीयता हो, लेकिन आकस्मिकता और तनाव न हो। जब हम मैच देखते हैं तो वहाँ सामान्यतः द्वंद्व तो रहता है, परंतु उसे नाटकीय तभी कहेंगे, जब तनाव की स्थिति हो अर्थात् मैच अंतिम बिंदु पर हो कि कौन जीतेगा? पिक्कॉक के अनुसार— 'आकस्मिकता और तनाव वे दो आधारभूत स्तंभ हैं, जिनके माध्यम से हम किसी तत्त्व की नाटकीयता का बोध कर पाते हैं, जहाँ तक द्वंद्व का प्रश्न है, वह आकस्मिकता और तनाव की स्थिति-विशेष के कारण उत्पन्न होता है।' यह सही है कि संघर्ष, द्वंद्व और तनाव में पाठकों को आकृष्ट करने की शक्ति है, परंतु इनके विपरीत भी कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो पाठकों को आकृष्ट करते हैं। जैसे आकस्मिक रूप से वर्षा, तूफान का आना, किसी की अचानक मृत्यु हो जाना आदि।

नाटकीयता का स्वरूप :

नाटकीयता के मूल में अभिनेयता का गुण है। जहाँ प्रस्तुति मूल की न होकर उसके प्रतिरूप की होती है, वहाँ नाटकीयता होती है। जो वास्तव में है, उस पर किसी दूसरे के गुण-रूप को आरोपित कर देना ही नाटकीयता है। नाटकीयता अनेक स्तरों पर घटित होती रहती है। पात्र और पात्र के बीच, भाषा और क्रिया के बीच, स्थिति और पात्र के बीच। नाटकीय चरित्रों का विकास क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा खुलते जाना है।

नाटकीयता आंगिक हाव-भाव और विभिन्न प्रकार की मुद्राओं को आश्रय देती है। जैसे—सिर हिलाना, हाथ हिलाना, नेत्र, भौंह आदि के संकेत आदि। नाटकीयता वर्तमान काल में जीवित रहती है। अतीत कथा का मित्र तो हो सकता है। लेकिन वह वर्तमान का विरोधी होता है। नाटकीयता 'यहाँ' और 'अभी' के स्तर पर प्रवाहित होती रहती है। असाधारण भाव-स्थिति, प्रसंग किसी भी स्तर पर हो, वे नाटकीयता के जनक हैं। संघर्ष, द्वंद्व, तनाव नाटकीयता के प्राण तत्त्व हैं, जो हमारी उत्सुकता को बढ़ाते हैं।

नाटकीयता मुहावरों और जीवन के प्रसंगों में भी देखी जा सकती है। यदि हम मुहावरे के वाक्य को दो भागों में बाँटकर देखें तो पता चलता है कि पहले भाग में आकृति रहती है और दूसरे भाग में क्रिया। जैसे दाँत पीसना, आँसू बहाना, रेत में नाव चलाना आदि।

इनसे हमें क्रोध, शोक तथा व्यर्थ में ही प्रयत्न करने के विषय में पता चलता है। पहले भाग में दाँत, आँसू तथा रेत में नाव के चित्र उभरते हैं और पीसना, बहाना, चलाना आदि क्रियाएँ उन चित्रों को गति देकर नाटकीयता को अभिव्यक्त करती हैं।

नाटकीयता केवल घटनाओं में ही नहीं होती है, वह पाठकों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में भी होती है। कोई भी घटना अपने-आपमें नाटकीय नहीं होती। वह नाटकीय तभी होती है, जब पाठकों के हृदय में कोई प्रतिक्रिया जगाने में सक्षम होती है अर्थात् हमें विचलित कर देती है। नाटकीयता केवल नाटक में ही नहीं होती, वह साहित्य की प्रत्येक विधा में होती है। जब किसी ने प्रसिद्ध उपन्यासकार हेनरी जेम्स से कला के रहस्य के बारे में पूछा तो उन्होंने केवल इतना कहा, 'जिस तरह हम नाटक के दृश्य में परदा उठते ही प्रतीक्षा करने

लगते हैं कि 'अब कुछ होगा' उस तरह जब कोई अनुभूति अपने भूल अँधेरे से उठकर शब्दों के प्रदेश में रास्ता टटोलती है, तब अचानक कुछ होने लगता है। यह स्फुरण बैलौस गूँगे अस्तित्व में होने का कंपन कुछ और नहीं, सिर्फ वह नाटकीय तत्त्व है, जिसके बिना नाटक ही नहीं, हर कलाविधा मृतप्रायः हो जाती है।'

आज मनुष्य का जीवन विषमताओं की धुरी पर घूम रहा है। इसलिए उसके जीवन का ताना-बाना द्वंद्व और तनाव से निर्मित है। उसके मन में अनेक प्रकार के विरोध चलते हैं। जो नाटकीयता को जन्म देते। जो नहीं है तथा जिसे होना चाहिए का 'अतर्विरोध मनुष्य के मन को विचलित कर देता है। कहानी इसी को दृश्य रूप में प्रस्तुत करती है और यही नाटकीयता है। आशा के विपरित दो विरोधी शक्तियों का मिलन भी नाटकीय होता है।

गंभीरता में अगंभीरता का प्रयोग, व्यंग्य, विरोधाभास, तुक और लय का प्रयोग, शब्दों की पुनरावृत्ति, आदि भी कहानी को नाटकीय बनाने में योगदान देते हैं। संवादों के द्वारा भी कहानी में नाटकीयता आती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आकस्मिक और अप्रत्याशित मोड़, दृश्यत्व, प्रत्यक्षता, गतिशील क्रिया-व्यापार, आरोपण, आंगिक हाव-भाव, उत्तेजक स्थितियाँ, व्यंग्य, विरोधाभास, मुहावरे, तुक-लय का प्रयोग, शब्दों की पुनरावृत्ति, संघर्ष, द्वंद्व, तनाव आदि ऐसे तत्त्व हैं, जो कथासाहित्य में नाटकीयता लाने में योगदान देते हैं।

संदर्भ

1. नाटकालोचन के सिद्धांत, सिद्धनाथ कुमार पृ० 99; वाणी प्रकाशन 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002, प्रथम सं० 2004
2. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, पृ० 83; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1976
3. नाटकालोचन के सिद्धांत, सिद्धनाथ कुमार, पृ० 105
4. हिंदी गीतिनाट्य, कृष्ण सिंहल पृ० 39; भारतीय ज्ञानपीठ, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-17, प्रथम सं० 1964
5. प्रेमचंदोत्तर उपन्यासों में नाटकीय तत्त्व, ओमप्रकाश, पृ० 49; विक्रम प्रकाशन, ई 5/13, कृष्णनगर दिल्ली, 110051, प्रथम संस्करण 1987
6. शब्द और स्मृति, निर्मल वर्मा, पृ० 83

□ पत्नी श्री रणजीत
गाँव दयालपुर, डा० गुरुकुल
तहसील थानेसर, ज़िला कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

शिवानी के कथाशिल्प में नारी का आत्मबोध

डॉ० मंजू शुक्ला

शहीद मंगल पांडेय राजकीय महिला
स्नातकोत्तर महाविद्यालय मेरठ

बीसवीं सदी में महिला लेखिकाओं ने अपना एक इतिहास रचा है। इसके पहले विश्वस्तर पर इक्का-दुक्का नाम महिला रचनाकारों का भले कौंध जाता रहा हो, पर उनकी संख्या नगण्य ही रही। बीसवीं सदी के शुरू से ही स्त्री-लेखिकाओं की एक नयी पौध पनप गई थी और साठ का दशक आते-आते वह पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने में सक्षम हो गई। भारतीय महिला साहित्यकारों में सामाजिक परिवर्तन के साथ-साथ समय और परिस्थिति से जूझने का एक अलग ही तेवर दिखाई देता है। आज जो साहित्य रचा जा रहा, विशेषकर, जो भारतीय महिलाओं द्वारा रचा जा रहा है, वह भी समाज व समय के संदर्भ में सत्यों के प्रकाशन के लिए ही है। प्रकट रूप से महिला-समाज जिन संघर्षों से जूझ रहा है, अक्सर वही उनके साहित्य में झलकता है। शिवानी ऐसी महिला साहित्यकारों की उभरती हुई पौध का विशाल वृक्ष हैं।

साठोत्तरी हिंदी कथासाहित्य में शिवानी अत्यंत चर्चित एवं लोकप्रिय लेखिका रही हैं। हिंदी कथासाहित्य में नारी के स्वरूप, स्वर, स्वभाव, पीड़ा, प्रेम और आवेश-आक्रोश को रोमांचकारी अंदाज़ देने वाली गौरा पंत शिवानी ने नारी-संवेदना को अत्यंत आत्मीयता एवं कलात्मक रूप से प्रस्तुत किया है। अपनी दो दर्जन से अधिक प्रकाशित कथाकृतियों के माध्यम से शिवानी की लेखनी ने स्तरीयता और लोकप्रियता की खाई पाटते हुए एक नयी ज़मीन बनाई है, जहाँ हर वर्ग और रुचि का पाठक सहज विचरण कर सकता है। उन्होंने स्त्री-पुरुष संबंधों में मानवीय संवेदनाओं और आत्मीय संबंधों की अत्यंत बारीक एवं महीन ढंग से पुनर्रचना की है। अपने उपन्यास, लघु उपन्यास और कहानियों के सृजन से साठोत्तरी हिंदी कथा को पर्याप्त समृद्धि प्रदान की है।

शिवानी के कथासाहित्य में पर्याप्त विविधता है, क्योंकि इनके कथासाहित्य का ताना-बाना पर्वतीय क्षेत्र से लेकर मैदानी क्षेत्र तक के ग्रामीण एवं शहरी जीवन के विविधतापूर्ण सरोकारों से संबद्ध है। इनकी कहानियाँ प्रायः नारी-केंद्रित हैं। वस्तुतः शिवानी ने आर्थिक रूप से समृद्ध विविध प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं धार्मिक विडंबनाओं के दंश को झेलती नारी के जीवन की मार्मिक एवं जीवंत प्रस्तुति दी है। अनेक स्थानों पर नारी स्वयं से प्राताडित है तो अनेक स्थानों पर यह विवशता पुरुषजन्य परिलक्षित होती है।

नारी-विकास के साथ ही नारी-जीवन से जुड़ी समस्याओं को पहचानकर उनके निवारण का प्रयास तो सभ्यता के आधुनिकीकरण के साथ ही प्रारंभ हो गया था, किंतु आधुनिक कहे जाने वाले आज के समाज में नारी की बढ़ती हुई सहभागिता के मध्य नारी का आत्मबोध उतना सीधा, सरल नहीं रह गया है। प्रगति-पथ पर बढ़ते हुए आज की स्त्री अनायास कितनी विषमताओं को साथ लेकर आगे बढ़ती है, यह उसे भी ज्ञात नहीं होता। प्राचीनता की केंचुली को उतारकर आधुनिकता के नए कलेवर को धारण करते समय वह समाज में अनेक विषमताओं का शिकार भी हो जाती है, फिर भी आधुनिक समाज का हिस्सा बनने की उत्कट इच्छा के वशीभूत वह इन सभी को सहजता से स्वीकार करती चलती है। शिवानी के नारी-चरित्र अनेक स्थानों पर ऐसी विषमताओं को झेलते हुए दिखाई पड़ते हैं। 'ज़िलाधीश', 'अपराजिता', 'उपहार' आदि कहानियों के नारी-चरित्र आर्थिक रूप से संपन्न, आत्मनिर्भर और शिक्षित हैं, फिर भी कथाकार शिवानी ने इन्हें विविध प्रकार की समस्याओं के बीच नारी-जीवन की विवशता का बोध कराते चित्रित किया है, क्योंकि आज के जीवन की सच्चाई इसी के आस-पास है। 'ज़िलाधीश' कहानी की नायिका सुमन अत्यंत प्रतिभा-संपन्न, शिक्षित और आत्मनिर्भर होते हुए भी विवाह-संबंधी अनुत्तरित प्रश्नों से गुज़रती है। इतना ही नहीं, उसे भी आए-दिन रिश्तों की चर्चा और विफलता की पीड़ा का दंश भोगना पड़ता है। यहाँ तक कि ज़िलाधीश जैसे अपरिमित अधिकार-संपन्न पद पर आसीन होने पर भी कहानीकार शिवानी ने उसे शोषण का शिकार होती चित्रित किया है। वस्तुतः 'ज़िलाधीश' की नायिकाएँ नारी होने के आत्मबोध से गुज़रती प्रतीत होती हैं। 'वह यदि पुरुष होती तो क्या उसके इतने दिनों की कौमार्य-साधना एक ही अभिशप्त रात्रि की करवट के साथ ऐसे व्यर्थ हो उठती? बहुत होता तो उसे लूट पाटकर यह दस्यु उसके प्राण ही हर लेता, किंतु उसे तो वह प्राण न लेकर भी निष्प्राण छोड़ गया था।' उसकी विवशता इतनी ही नहीं है, वह अपनी संघर्ष-क्षमता के बल पर विषम परिस्थितियों को सम बनाती चित्रित हुई है। शिवानी के नारी-पात्र परंपरा के बंधनों से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि आत्मबोध के कारण उनमें मुक्ति की छटपटाहट अधिक है।

शिवानी का विवर्त मानव-जीवन की रहस्यमयता का एक विलक्षण पहलू प्रस्तुत करता है। चरित्र नायिका ललिता गरीब माता-पिता की सात पुत्रियों में सबसे छोटी होने पर भी स्वतंत्र-मेधा और तेजस्विनी है। डबल एम.ए. करके नौकरी करती है, पर विवाह नहीं करना चाहती और आने वाले सभी रिश्तों को ठुकरा देती है, परंतु प्रारब्ध के हाथों का खिलौना बन जाती है। मानसिक रूप से विक्षिप्त लोगों का मनोसंसार, निम्न मध्यमवर्गीय परिवार की अनब्याही बेटी और उसकी ग्लानि से दबी जाती माँ का मनोविज्ञान है 'चल खुसरो घर आपने'।

समाज में जितने भी प्रकार के स्त्री-पुरुष संबंध हैं, सभी में पुरुष की अपेक्षा स्त्री से अधिक नैतिकता की माँग की है। चाहे इस माँग के भीतर स्त्री का अस्तित्व ही छिन्न-भिन्न क्यों न हो रहा हो। मैदानी और पर्वतीय अंचल में ये मान्यताएँ अलग-अलग रूपों में भले ही दिखाई दें, परंतु उनसे मिलने वाला दर्द, चुभन और टूटन स्त्री को अंदर से तोड़ती है। ऊपर से आधुनिक दिखाई देने वाली नारी की इस पीड़ा को समझना आसान नहीं है। वह भी चाहती है कि अपनी इच्छाओं को पूरा करने का अधिकार उसके पास हो। स्त्री की इसी कशमकश

को शिवानी ने अपने कथासाहित्य के माध्यम से जीवंत रूप प्रदान किया है। माता-पिता की इच्छा के विरुद्ध भास्करन के प्रेम में डूबी वेणी के प्रेमरस की मार्मिक कथा को रोचकता से गूँथा गया है। कुष्ठ रोगी भास्करन के प्रेम में डूबी अपने भविष्य से अनजान बन स्वयं को मृत्यु की गोद में सुला देती है। शिवानी ठीक कहती हैं, 'कृष्णवेणी सबका भविष्य देख लेती थी, परंतु अपना नहीं देख पाई, जितनी बार देखने की चेष्टा करती, दिखता अँधेरा, घुप अँधेरा।'²

नारी-मनोविज्ञान की पारखी शिवानी के कथासाहित्य में स्त्री-विमर्श के अनेकों चित्र इस तरह बिखरे हुए हैं कि सहज ही पाठक की आत्मा में प्रवेश कर झकझोर देते हैं। पति द्वारा परित्यक्त चाँचरी अपने ऊपर लगाए गए आरोपों का प्रत्युत्तर न देते हुए भी अपने त्याग से उसे यह मानने पर मजबूर कर देती है कि उसने जो कुछ किया ग़लत किया। जब तक उसका पति अहंकार के चोले से बाहर निकलता, तब तक चाँचरी उसकी पहुँच से बहुत दूर चली जाती है। वाचाल, अहंकारी पति को शांत और सरलमना चाँचरी जो उत्तर दे सकी, वह शिवानी की स्त्री पारखी दृष्टि ही प्रदान कर सकती थी। 'उसे लगा, पकड़ से दूर बहे जा रहे उस निष्कंप प्रदीप के साथ-साथ हिमगिरि शिखरों से उतरी उसकी चाँचरी भी पर फैलाए लौ को बचाती, उसकी पकड़ से दूर चली गई है—बहुत दूर।'³ शिवानी का कथा-संसार विशेष रूप से पर्वतीय अंचल की सौंधी महक और सौंदर्य को अपने भीतर समेटे हुए है। वह सौंदर्य चाहे प्राकृतिक हो या फिर मानवीय, श्वेत हो या कृष्ण, वह पाठक को अपने आकर्षण में बाँध ही लेता है।

कथाकार शिवानी ने अपनी कहानी और उपन्यासों में स्त्री को स्त्री के रूप में प्रतिष्ठित करने का अथक् प्रयास किया है। उन्होंने बदलते हुए सामाजिक परिवेश में नारी की बदलती हुई स्थिति पर तीक्ष्ण दृष्टि रखी है। उनके नारी-पात्र किसी कल्पना-जगत के पात्र न होकर यथार्थ को भोगने वाले पात्र हैं। वह स्वयं कहती हैं 'बिना यथार्थ के कोई भी रचना प्रभाव उत्पन्न करने वाली नहीं हो सकती। वह युग चला गया, जब केवल काल्पनिक सुख का दृश्य दिखाकर पाठक को आकृष्ट किया जाता था। आज यथार्थ इतना कठिन और संघर्षपूर्ण है कि यदि उसे कल्पना में चित्रित करने की कोशिश करेंगे तो पाठक स्वीकार नहीं करेगा।

शिवानी जी की उँगलियाँ नारी-जीवन की हर नब्ज तक पहुँचती हैं। 'सुरंगमा' में विवशताओं के जाल में जकड़ी कुंठित जीवन जीती एक युवती की चिंघाड़ है तो 'गैड़ा' में दो सहेलियों की मर्मस्पर्शी दास्तान। 'माणिक' में एक अविवाहित बड़ी बहन के त्याग और बाद में उभरी उसकी यौन-कुंठा के चित्र हैं तो 'रति विलाप' में रति-सुख से वंचित नारी का सशक्त रेखाचित्र। 'दो बहनें' कहानी की पात्रा आत्मनिर्भर और जुझारू है तो 'मायापुरी' में स्त्री-पुरुष के चिरंतन आकर्षण की मरीचिकामय मायापुरी तथा जीवन की कठोर वास्तविकता से टकराव।

छोटो घरखानी
मौन की पाँडे सुरंगमा
मौन की पाँडे, मौन की पाँडे?

एक प्राणों से प्रिय व्यक्ति तीन-चार मधुर पंक्तियों से सुरंगमा के जीवन को झंझा के वेग से हिलाकर रख देता है। शिक्षिका सुरंगमा के जीवन में अंधड़ की तरह घुसता है एक राजनेता और प्रशंसा की मीठी छुरी से चार करके उसे समर्पण के लिए मजबूर कर देता है— 'नाम तो आपका बड़ा सुंदर है मिस जोशी, ऐसे नाम तो पहाड़ियों में कम होते हैं।'⁴

शिवानी के नारी-पात्र सहज, सरल और निष्कलक हैं। एक नारी के द्वारा नारी के चरित्र का इतना मार्मिक गठन हमें शिवानी के कथासाहित्य में सर्वत्र देखने को मिलता है। 'उसके प्रेममय सहज हृदय की सरलता को देखकर सहसा विश्वास ही नहीं होता था कि इस कुटिल युग में भी किसी का हृदय इतना निष्कपट, निष्कलुष और निस्वार्थ हो सकता है।'⁵

'कृष्णवेणी' की वेणी के चरित्र-गठन में शिवानी का पर्वत-प्रेम, तत्कालीन गंभीर कुष्ठ रोग और उससे उपजी पीड़ा का वर्णन तो सिहरा देने वाला है ही, साथ ही पहाड़ों पर पनपती कुरीतियों के जाल को तोड़कर बाहर निकलने की छटपटाहट भी दिखाई देती है— 'यह क्या वकवास है माँ, छोटे मामा के साथ मेरा विवाह कैसे हो सकता है? मैं नहीं करूँगी ऐसा विवाह। कान खोलकर सुन लो माँ, मेरी नानी मेरी सास कभी नहीं बनेगी। मैं आप लोगों की तरह मूर्ख नहीं हूँ।'⁶

शिवानी का नारी कथा-शिल्प नारी के प्रति एक व्याकुल स्पृहा की बानगी है। उन्होंने नारी-जीवन के हर एक पहलू को कुछ इस तरह उभारकर रखा है कि हर किसी मन ने हाथों-हाथ उठा लिया। 'केया' कहानी एक ऐसी ही शिक्षित आत्मनिर्भर उच्चवर्गीय नारी-जीवन की पीड़ा को व्यक्त करती है। वह पढ़-लिखकर डॉक्टर बनना चाहती है, किंतु पिता आर्थिक रूप से संपन्न अपने मित्र के क्रूर एवं कुरूप लड़के से उसका विवाह कर देते हैं। वह विरोध तो करती है, किंतु अंतर्मन की विवशता को झेलने के लिए बाध्य होती है। यहाँ तक की घर की नौकरानी को पति के साथ आपत्तिजनक स्थिति में पाकर भी वह न तो नौकरानी पर आरोप लगाती है और न ही पति से किसी प्रकार की शिकायत करती है। भला ऐसी कौनसी पत्नी होगी, जो ऐसी परिस्थितियों में चुप बैठी रहेगी। स्पष्ट है कि पति की अमानवीयता और चरित्रहीनता को सहन करने वाली नारी आत्मिक दुर्बलता की शिकार नहीं तो और क्या है?

शिवानी के कथासाहित्य में नारी के आदिशक्ति और संहारकारी दोनों रूप मौजूद हैं। कभी वह माँ बनकर सृजन करती है तो कभी उसकी यही ऊर्जा जब अधोमुखी हो जाती है, तब वह पतिता, कलंकिनी और मृत्यु भी बन जाती है। उनकी 'सती' कहानी की मदालसा ठग बनकर रेलयात्रियों को नशा देकर लूटती है तो 'विषकन्या' की नयिका भी नारी की अधोमुखी छवि ही प्रस्तुत करती है। वास्तव में शिवानी कथाशिल्पी ही नहीं हैं, बल्कि नारी-पंथ की गाइड भी हैं। वह प्रतिमान स्थापित करती हैं कि नारी से उसके निश्चित परिवेश को अलग करके उसका सही मूल्यांकन संभव नहीं। शिवानी का नारी-बोध एक कालखंड के लिए युगबोध-सा बन जाता है। उन्होंने नारी को परंपरा के दृष्टिकोण से देखा है, मगर आधुनिक परिवेश के मापक से मापकर।

एक महिला कथाकार होने के नाते बहुत-सी परिस्थितियों को जहाँ उन्होंने अत्यंत करीब से देखा, वहीं विपरीत परिस्थितियों को भोगा भी। उनका अधिकांश लेखन नारी के

विभिन्न रूपों को समेटे हुए है। उनके नारी-पात्र किसी कल्पना-जगत के पात्र नहीं हैं, अपितु वास्तविक जीवन से ग्रहण किए गए हैं— 'जी हाँ, मैंने अपने अधिकांश चरित्र वास्तविक जीवन से ही लिए हैं। सुने-सुनाए चरित्रों पर कभी कलम नहीं चलाई। मैंने अपने परिवार में जहाँ एक ओर कठोर पक्ष देखा तो वहीं दूसरी ओर अति आधुनिक रंग-ढंग भी देखे। मेरे पितामह बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के धर्मोपदेशक थे। कट्टर सनातनी थे तो पिताजी आधुनिक विचारों के पोषक थे।'⁷

शिवानी का कथासाहित्य स्त्री-पुरुष संबंधों के अंतर्द्वंद्वों का नए सिरे से मूल्यांकन करता प्रतीत होता है। विजातीय विवाह हो या अनमेल विवाह, बाँझ हो या कई पुत्रियों की माँ, स्त्री को हर रूप में पीड़ा से गुज़रना पड़ता है। आधुनिकता का दंभ भरने वाला समाज आज भी अपनी योग्य पुत्री द्वारा दूसरे कुल के किसी योग्य पुत्र के वरण को सहज पचा नहीं पाता है। योग्य नारी का अयोग्य पुरुष-वरण, क्या उसके इस मानसिक संत्रास को कोई समझ सकता है? अहं से टकराव, पराशयता से मुक्ति, स्वावलंबन, प्रेम, तलाक, असमानता आदि विषय उनके कथा-संसार के मूलाधार बनकर आधुनिक समाज में नारी की विषम स्थिति के चित्र खींचते नज़र आते हैं। मनोवैज्ञानिकता प्रत्येक पक्ष की कसौटी बनी है। उनके नारी-पात्र हमारी आत्मा में उतरकर हमें कुछ सोचने पर मजबूर कर देते हैं। 'श्मशान चंपा' की नायिका अल्हड़ नवयौवना एक ऐसे चरित्र को प्रस्तुत करती है, जिसके पास सब-कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है। ऐसे संदर्भों में महादेवी वर्मा का कथन कितना सार्थक प्रतीत होता है— 'संसार में कितने असंभव परिवर्तन हो गए, परंतु स्त्रियों के ललाट में विधि की वज्रलेखनी से अंकित अदृष्ट लिपि नहीं धुल सकी।'⁸ शिवानी कहती हैं कि जब नारी-विमर्श की बात होती है तो मैं स्वयं से एक प्रश्न करती हूँ, क्या नारी जड़ है? हम चाहते क्या हैं? उसे चेतन रहने देना या जड़ बना देना।

शिवानी अपने उपन्यास 'पाथेय' में तिलोत्तमा की अनूठी कथा के द्वारा नारी-मन के द्वार के भीतर उनकी उन इच्छाओं और आकांक्षाओं को जानने का प्रयास है, जो कभी उसके नहीं हो पाते। अपूर्व सुंदरी तिलोत्तमा का विवाह उसके मामा सोलह वर्ष की अल्पायु में धोखे से एक ऐसे युवक से करा देते हैं, जो मौत की चौखट पर खड़ा अपनी अंतिम साँसें गिन रहा है। नायिका की पीड़ा का अनुभव कर वह कह उठती हैं— 'इससे तो तेरे गले में पत्थर बाँध किसी ताल-पोखर में डुबो दिया होता।'⁹ अपने पति की मौत के साथ जैसा संघर्ष कभी सावित्री ने किया, तिलोत्तमा का संघर्ष उससे कमतर नहीं है। मृत पति की चिता ठंडी भी नहीं हुई कि पिता कहे जाने वाले ससुर द्वारा बलात्कार का प्रयास हमारे मन में इस नैतिकता को खोते जा रहे समाज के प्रति वितृष्णा का भाव भर देता है।¹⁰ नारी-मन की पीड़ा के तार-तार को छेड़ती यह कहानी स्त्री-विमर्श का सशक्त पक्ष प्रस्तुत करती है। एक नारी होने के नाते वह जानना चाहती है कि क्या सच में नारी जीवन-भर ऐसे ही छली जाती रहेगी और छलने वाला भी कौन? पुरुष के रूप में कहीं पिता, कहीं मामा, कहीं पति तो कहीं ससुर। फूल से कोमल भावुक नारी क्या जीवन-भर प्रताड़ना व पीड़ा की ही अधिकारी है। कोई जोश में आकर भले ही यह स्वीकार न करे, परंतु होश में आकर तो यह मानना ही पड़ेगा कि नारी कभी पूर्णतः स्वतंत्र नहीं हो सकी।

शिवानी हिंदी की एकमात्र ऐसी लेखिका हैं, जिन्होंने नारी-मन के सभी भावों पर विपुल लेखन किया और लोकप्रियता प्राप्त की। कथा, उपन्यास, संस्मरण सभी में नारी के आत्मबोध की सफल प्रस्तुति की है। उन्होंने आधुनिकता और पुरातनता के बंधनों में उलझती एक स्वयंसिद्धा लड़की की व्यथा-कथा को 'कालिंदी' उपन्यास में प्रस्तुत किया है, जो आधुनिकता का स्वागत करती है, लेकिन परंपरा की डोर को भी नहीं काट पाती है। एक ओर जहाँ 'पूतों वाली' की नारी पाँच-पाँच सुयोग्य मेधावी बेटों की माँ होकर भी अंत तक निपूती रहती है तो दूसरी ओर 'सूखा गुलाब' में वर्षों की तपस्या के बाद पुत्री के अभुक्त मूल में जन्म के कारण परित्याग की मर्मस्पर्शी कथा है— 'शाह जी, भला चाहते हो तो पलटकर कभी बेटा का मुँह मत देखना। अभुक्त मूल में जन्मी है। वह भी कार्तिक के मूल में। इससे तो तुम्हारी शाहनी निपूती ही भली थी।'

सौंदर्य और कौमार्य की अग्निशिखा से मंडित एक ऐसा नारी-व्यक्तित्व, जो शिवानी की लौहसंकल्पिनी मानस-संतान है, एक अद्भुत चरित्र जो अपनी जन्मजात ग्लानि और अपावनता की कर्दम में से प्रस्फुटित होकर कमल-सा फूलता है, सौरभ-सा महकता है और मादक पराग-सा अपने सारे परिवेश को आच्छादित कर देता है। 'कृष्णकली' नए-नए अनुभवों के कंटकाकीर्ण पथों से गुजरती है, फिर भी अपनी सहज संस्कारशीलता को झटक नहीं पाती। शिवानी कहती हैं कि जब पाठक किसी पात्र से एकत्व स्थापित कर लेता है, जब उसका दुख, उसका अपमान उसकी वेदना बन जाती है, तब ही लेखनी की सार्थकता को हम मान्यता दे पाते हैं। जैसा कि महान साहित्यकार प्लौबेयर ने एक बार अपने उपन्यास की नायिका मदाम बौवेरी के लिए अपने एक मित्र को लिखा था— 'वह मेरी इतनी अपनी, जीवंत, बोलती, चलती, प्रिय पात्रा बन गई थी कि मैंने जब उसे सायनाइड खिलाया तो स्वयं मेरे मुँह का स्वाद कड़वा हो गया और मैं फूट-फूटकर रोने लगा।'

शिवानी के इन सभी नारी-पात्रों से जुड़ना नारी-मन को गहराई से जान लेने जैसा है, परंतु यहाँ सब-कुछ देख और जान लेने का दावा करना मिथ्या होगा। उनके पात्रों से तादात्म्य स्थापित करने पर स्त्री-मन में चलने वाले तनाव और घुटन की पूरी झलक अवश्य मिल जाती है। स्वयं एक नारी होने के नाते उन्होंने तनाव के वास्तविक कारणों को गहराई से समझने का साहस किया है। उनकी वर्गीय स्थिति जैसी भी हो, वे पुरुष की कामना के उपकरण-मात्र प्रतीत होते हैं।

भारत में स्त्री 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' के मधुर छल से 'जिमि स्वतंत्र होहि बिगरहि नारी' की उन्मत्त घोषणा के बीच सिमटती रही है। शिवानी कहती हैं कि सिगमंड फ्रायड के इस मशहूर कथन को मैं आज तक नहीं समझ पायी कि स्त्री आखिर चाहती क्या है?¹¹ फ्रायड मानव-मन के चिकित्सक थे। फिर भी क्या वह समझ नहीं पाए कि स्त्री चाहती क्या है? या वह सदैव से अनुत्तरित रहे इस प्रश्न को समझना ही नहीं चाहते थे। स्त्री ही वह जाति है, जो कई हजार वर्षों से पराधीन है। चाहे इस पराधीनता को प्यार का नाम दें या मजबूरी का। दुनिया से भय मानें या समाज से असुरक्षा। वास्तव में स्त्री के लिए जो भी जगह छोड़ी गई है, उसका वृतांत निश्चय ही कारुणिक है।

संदर्भ

1. करिए छिमा, जिलाधीश, पृ० 33
2. कृष्णवेणी, पृ० 33
3. एक थी रामरती, अंतरंग बातचीत, पृ० 10
4. सुरंगमा
5. एक थी रामरती, पृ० 46
6. कृष्णवेणी, पृ० 19
7. अंतरंग बातचीत, पृ० 11
8. एक पाषाणी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, पृ० 67
9. पाथेय, पृ० 105
10. पाथेय, पृ० 129
11. स्त्री के लिए जगह, एक संपादकीय

गढ़वाली लोकगाथाओं में प्रणय-तत्त्व

डॉ० वीरेंद्रसिंह बर्वाल

वरिष्ठ उपसंपादक, दैनिक जागरण

धर्म-अध्यात्म की उर्वरा धरा गढ़वाल के लोकसंगीत में लोकगाथाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आख्यानमूलक इन गाथाओं में आकर्षक संगीत, शब्दों का जादुई चमत्कार है। इनमें ऐतिहासिक तत्त्व के अतिरिक्त गढ़वाल के जनजीवन के दर्शन होते हैं। इनमें लोक की भावनाएँ ध्वनित होती हैं। नारी-वेदना के दर्दिले पृष्ठों वाली इन गेय कथाओं में गढ़वाल के लोक का हर्ष-विषाद, हास-परिहास, प्रेम-प्रसंग, करुणा, अनुराग, शौर्य-पराक्रम का प्रतिबिंबन है। इनमें अभावों को चुनौती देती नारी की करुण पुकार है तो मध्यकालीन राजनीति में व्याप्त ईर्ष्या-द्वेष की पराकाष्ठा है।

लोक गाथागीत की भांति वह लंबा-चौड़ा आख्यान है, जिसमें कल्पना के साथ ऐतिहासिक बिंदु भी होते हैं।¹ लोकगाथाएँ प्रबंधात्मक गीत हैं। इनमें गेयता के साथ कथानक की प्रधानता होती है। लोकगाथाएँ आकार में बड़ी और विस्तृत होती हैं। इनमें प्रेम का गहरा पुट, संघर्ष और अंत में प्रेम की जीत होती है। ऋग्वेद में अनेक मंत्रों में पद्य अथवा गीत के अर्थ में 'गामिन' शब्द का प्रयोग किया मिलता है। 'गामिन' शब्द एक विशिष्ट गाने वाले के अर्थ में किया गया है। 'गाथा' शब्द एक विशिष्ट विधा के लिए प्रयोग किया गया है।² लोक गाथा काव्यात्मक कथाख्यान है। लोक गीतों से भिन्न लोकगाथाओं में कथा तत्त्व अनिवार्य रूप से विद्यमान रहता है।³ वर्ण्य विषय, कथानक आदि के आधार पर गढ़वाली लोकगाथाएँ मुख्यतः चार भागों में विभक्त की गई हैं⁴—1. जागर (धार्मिक गाथाएँ), 2. पवाड़े (वीर गाथाएँ), 3. प्रणय गाथाएँ, 4. चैती गाथाएँ।

जागर गाथाएँ अथवा धार्मिक गाथाएँ :

सामान्यतः अनुष्ठान विशेष में किसी देवी-देवता को आह्वान और विरुद गाकर अवतरित करने की प्रक्रिया जागर कहलाती है और इस अनुष्ठान अथवा प्रक्रिया में गाए जाने वाले आख्यान को जागर गाथा कहा जाता है। इन्हें धार्मिक गाथा भी कहा जाता है। गाथा गायन के साथ ढोल-दमाऊँ, काँस की थाली, और भँकोरा आदि पर्वतीय वाद्य यंत्रों का वादन होता है। दूसरे शब्दों में किसी अलौकिक शक्ति को मानव माध्यम पर अवतरित करने को उसे जगाना कहा जाता है। गढ़वाल में इसे ही 'जागर' शब्द का मूल माना जाता है।

'जागर' शब्द 'जागृ' के साथ 'घल्' प्रत्यय जोड़ देने से बना है, जिसका अर्थ होता है 'जागरण'। महाभारत पर्व प्रसंग में और कालिदास के 'रघुवंश' में भी 'जागर' शब्द का उल्लेख हुआ है। रात्रि में जागरण कर अथवा किसी माध्यम पर देवी शक्ति के आह्वान,

अवतरण और नृत्यमयी पूजा के लिए किए गए जाने वाले अनुष्ठान तथा गीतों को जागर कहा जाता है। इस आयोजन में बजाए जाने वाले वाद्य को 'घडियाला' कहा जाता है, जिसमें डमरू, थाली आदि वाद्ययंत्रों को एक विशेष पद्धति से बजाया जाता है।⁵

भारतीय-नाट्य शास्त्र में यह विश्वास प्रकट किया गया है कि नृत्यों से देवता प्रसन्न होते हैं। संभवता इसी परंपरा के अनुरूप पहाड़ों में भी अभीष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट निवारण के लिए देवता नचाने की प्रथा है।⁶

जागर आयोजित करने का उद्देश्य किसी देवी-देवता विशेष को प्रसन्न करना होता है। कभी किसी देवी-देवता के रुष्ट होने पर उसे प्रसन्न किया जाता है तो कभी मनौती पूरी होने पर यह नृत्यमयी उपासना की जाती है। प्रायः ये जागर नृत्यमयी उपासना के साथ देवता या अनिष्टकारिणी शक्ति की मनौती के लिए आयोजित किए जाते हैं।⁷

पवाड़े: वीरगाथा के लिए उत्तराखंड में 'पवाड़ा' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ये मध्यकाल की रचनाएँ हैं, जब गढ़वाल 52 गढ़ों में विभाजित था। इन गढ़ों में सामंत अपनी सत्ता की सुरक्षा और सत्ता विस्तार के लिए परस्पर संघर्ष करते थे। कभी-कभी यह संघर्ष भीषण बन जाता था और कई दिनों तक चलता था। इन युद्धों को लड़ने के लिए ये सामंत स्वयं तो वीर-भट्ट होते ही थे, अन्य वीर-पराक्रमियों को भी जागीर अथवा वेतन देकर अपने सेना में रखते थे। इन भट्टों में शूर-वीरता की प्रतिस्पर्धा रहती थी। संघर्षों के अवसरों पर इन्हें अपना रण-कौशल और पराक्रम दिखाने का अवसर मिलता था। वीर पुरुषों को तब बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। इन योद्धाओं के साहस, कला, रण-कौशल, बल का वर्णन जिन गाथाओं में होता है, वे वीरगाथाएँ अथवा पवाड़े कहलाती हैं।

उत्तराखंड में 'पवाड़ा' सामान्यतः उन गेय आख्यानों को कहा जाता है, जिसमें नायक का शूरता-बल, पराक्रम, रण-कौशल का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है। इनमें सत्य का अंश विद्यमान रहता है। 'पवाड़ा' शब्द को मोहनलाल श्रीदेसाई ने प्रवाद (सूचना, किंवदंती, लोकोक्ति, लोक धारणा) से व्युत्पन्न माना है।⁸

डॉ० सत्येंद्र ने 'परमारा' अथवा 'पंवारा' के शाब्दिक रूप के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि पवाड़े अथवा पंवारे प्रारंभ में पंवार क्षत्रियों की वीरगाथाएँ रही होंगी।⁹

मोहनलाल बाबुलकर ने उन लंबी-चौड़ी गाथाओं को पवाड़ा कहा है, जिनमें वीरों की शूरता का विवरण होता है। उनके अनुसार गढ़वाली बोली में पवाड़ा पद्य रूप में पाए जाने वाले स्थानीय शूरमाओं एवं वीरों तथा वीरांगनाओं के क्रियाकलापों के चरित्र हैं, जिसे हम गढ़वाल का लोक काव्य मानते हैं।¹⁰

कई साहित्यकार पवाड़ों को शब्दिक आधार पर पंवार वंश से संबद्ध मानते हैं, किंतु कुछ विद्वान इससे सहमत नहीं हैं। इनमें डॉ० गोविंद चातक प्रमुख हैं। उनके अनुसार वस्तुतः 'पवाड़ा' शब्द युद्धगीत अथवा वीरगाथा का ही पर्याय है और उसका पंवारों से संबंधित होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।¹¹

वीरगाथाओं और प्रेमगाथाओं को गढ़वाली में पवाड़ा कहा जाता है। इनमें जहाँ इतिहास की रंग-बिरंगी झलकियाँ और कल्पना के इंद्रधनुषी ताने-बाने मिलते हैं, वहीं शब्दों के जादुई चमत्कार, उपमाओं का सुंदर सौष्ठव और शैली का अद्भुत रूप भी मिलता है।¹²

प्रणय गाथाएँ :

प्रणय का सामान्य अर्थ है—प्रेम, प्रीति, प्रीतियुक्त प्रार्थना।¹³ गढ़वाली प्रणयगाथाओं में पुरुष यह प्रेम रूपसी युवती के प्रति अभिव्यक्त है। पुरुष किसी सुंदरी पर मोहित होता है तो उससे विवाह करने का संकल्प ले लेता है। इस संकल्प के आगे संपूर्ण मान-मनोव्वल, सिद्धांत, आश्वासन गौण सिद्ध हो जाते हैं। वह कठिन-सी कठिन चुनौतियों को स्वीकारता हुआ, बाधाओं को ललकारता हुआ प्रेमिका तक पहुँच जाता है, प्रेमिका से विवाह कर उसकी डोली घर ले आता है, पूरे लोक में उसका यशोगान होता है। ऐसी कुछ गाथाएँ सुखांत तो कुछ दुःखांत हैं। वस्तुतः ये गाथाएँ मध्यकाल के गेय प्रेमाख्यान हैं। इनमें उपलब्ध ऐतिहासिक स्थानों-नायकों, घटनाओं के नाम आदि इस बात को पुष्ट करते हैं। इनमें व्यक्त विश्वास, अंधविश्वास, रूढ़ियाँ भी इसकी साक्षी हैं। कुमाऊँ और गढ़वाल की अधिकांश प्रणय गाथाएँ मध्यकालीन हैं।¹⁴ जान पड़ता है कि उत्तरी भारत की ऐसी लोक गाथाओं का निर्माण अधिकतर उस युग में ही हुआ होगा, जब बाहर से आकर मुस्लिम जाति अपना प्रभाव क्रमशः जमाने लगी थी और यहाँ की राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति में उथल-पुथल थी।...स्थानीय बोलियों ने भी ऐसे ही अवसर पर अपना कार्य प्रारंभ किया और उनमें लोक साहित्य का निर्माण होने लगा। इसीलिए हम देखते हैं कि उपलब्ध रचनाओं के वर्ण्य-विषय, जहाँ तक वे सामाजिक अथवा सांस्कृतिक बातों से संबंध रखते हैं, अधिकतर वे ही हैं, जो भारतीय इतिहास के मध्यकालीन युग के अनुकूल हैं।¹⁵

तात्त्विक आधार पर इन प्रणय गाथाओं में भेद दृष्टिगोचर होते हैं। किसी में रूप-सौंदर्य की अधिकता है तो किसी में सत तत्त्व की गहनता। किसी में योग तत्त्व उभरे हुए नग की भाँति दृष्टिपथ में आता है तो किसी प्रणयगाथा में धर्म तत्त्व की प्रधानता उपलब्ध है। कुछ गाथाओं में नारी का भ्रातृप्रेम अधिक है। इन आधारों पर ये गाथाएँ पाँच भागों में विभक्त की गई हैं।¹⁶ 1. रूपाकर्षकपरक, 2. 'सत' अथवा दांपत्य जीवनपरक, 3. योगपरक, 4. धर्मपरक, 5. भ्रातृ प्रेमपरक।

चैतीगाथाएँ :

चैत्रमास में ही गृहद्वारों पर गाए जाने के कारण इन गाथाओं को चैतीगाथा कहा जाता है। वसंत ऋतु से संबद्ध होने के कारण इसी अनुसार इनमें भावाभिव्यंजना होती है। करुण रस से ओतप्रोत इन गाथाओं में गढ़वाली लोकजीवन में व्याप्त अभाव के दर्शन होते हैं। नायिकाओं में मायके के प्रति प्रबल प्रेम की झलक, सास का क्रूर आचरण और शंकालु प्रवृत्ति इन गाथाओं के कथानक की विशेषता है। नारी सौंदर्य का प्रभावोत्पादक वर्णन इनमें अन्य गाथाओं की ही भाँति है, किंतु प्रतीत होता है कि गाथाकार ने इस सौंदर्य की अभिव्यक्ति प्रेमी के लिए नहीं, अपितु श्रोताओं के लिए की हो। अनेक कला और भावपक्ष के आधार पर चैतीगाथाएँ अन्य गाथाओं से सर्वथा भिन्न हैं।

शैलीय स्तर पर भी चैतीगाथाएँ अन्य गाथाओं से भिन्न ठहरती हैं। उनमें कथानक का विस्तार न होकर गहराई। इसी कारण उनमें भावों की अपूर्व सघनता है और वे करुण रस और जीवन की त्रासदी का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करती हैं।¹⁷

चैतीगाथाओं में पहाड़ की नारी को सुसराल पक्ष विशेषतः सास और पति की ओर

से मिलने वाली प्रताड़ना का जीवंत चित्रण मिलता है। इनमें बेटी को ससुराल से मिलने वाले शोषण और निर्दयता के अतिरिक्त दानवीरता का भी प्रतिबिंबन होता है। आवजियों (अनुसूचित जाति के लोग जो ढोल बजाते हैं) द्वारा सवर्णों को अन्न आदि दान देने के लिए प्रेरित करने के लिए संभवतः ऐसा किया जाता है, चूँकि ये लोग वर्षभर में मात्र एक बार चैत के महीने गृहद्वारों में अनाज आदि मांगते हैं।

चैत का महीना गढ़वाल में 'नाचदो मैना' के रूप में ख्यात है। चैत के सारे महीने औजी व अन्य हरिजन सवर्णों के घरों के आगे नाचते हुए चैत के महीने की 'चैतोली' माँगते हैं।¹⁸ यह एक प्रकार से गढ़वाल में डडवार¹⁹ प्रथा का एक रूप है। पंडित, लोहार, डाल्या²⁰, रुड़िया²¹ को तो उसके कार्य के बदले फसल पकने पर अन्न दे दिया जाता है, किंतु ढोल वादकों को वर्ष में एक बार ही यह अन्न दिया जाता है। अन्न माँगने की इस परंपरा के अंतर्गत आवजी लोग ढोल बजाते हुए गाथाएँ गाते हैं। उनके साथ स्त्रियाँ भी गायन करती हैं।

आवजियों द्वारा अन्न माँगने की मुख्यतः तीन परंपराएँ हैं। प्रथम परंपरा 'लकमान' कहलाती है। इसमें अपने गैखों²² की बेटियों के विवाह के तीन-चार साल बाद आवजी उनकी ससुराल माँगने जाते हैं। द्वितीय परंपरा 'बढ़ाई' कहलाती है। इसमें आवजी अपने गैखों की विवाहिता बेटियों के घर तब जाते हैं, जब उनकी कोई संतान चार-पाँच साल की हो जाती है। वे इन बच्चों के लिए अपने हाथ के सिले कपड़े ले जाते हैं। तृतीय परंपरा 'पसारा' कहलाती है। इसमें सवर्णों के गृहद्वारों के आगे आवजी लोग चावल, चीनी, धान, दाल, मिर्च, नमक, तेल आदि के लिए अनेक पात्र रखकर गाथा गायन करते हैं। चैती गाथाओं के प्रमुखतः तीन प्रकार हैं। पहली भ्रातृप्रेम वाली गाथाओं में विवाहिता के भाई का अभाव और भाई के प्रति अगाध प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। दूसरी मातृपक्ष के प्रेम वाली गाथाओं में विवाहिता की मातृगृह के प्रति प्रेम की प्रबल भावना प्रतिबिंबित है। इनमें सास की क्रूरता भी दृष्टिपथ में आती है। तीसरी गाथाएँ दान-परक हैं। इनमें दान देने की प्रेरणा मिलती है।

गढ़वाली लोकगाथाओं में प्रणयतत्त्व :

गढ़वाली लोकसाहित्य के मर्मज्ञ डॉ॰ गोविंद चातक ने यद्यपि कथानक, वर्ण्य विषय आदि आधारों पर गाथाओं को चार भागों में विभक्त किया है, किंतु प्रणयगाथाओं समेत धार्मिक, वीर गाथाओं और चैती गाथाओं में भी प्रणय तत्त्व विद्यमान है। धार्मिक गाथाओं को देखें तो इनमें श्रीकृष्ण के अलौकिक और लौकिक दोनों रूप व्यक्त हैं। रसिक व्यक्तित्व के उद्घाटन में उनके रुक्मिणी, चंद्रावली, कुसुमा कोलिन और सुजू की सुनारी, मोती माला के प्रति प्रेम की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। गाथाओं में श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण 'रूप को रौंसिया, फूलु को हौंसिया' (सौंदर्य प्रेमी, रसिक मिजाज) व्यक्त हुआ है। धार्मिक गाथाओं में पांडवों की गाथाओं के अंतर्गत वासुदंता प्रसंग में अर्जुन का नागलोक की कन्या वासुदंता पर मोहित होना दिखाया गया है। वीरगाथाओं के अंतर्गत माधोसिंह भंडारी का उदीना अथवा रुक्मा के प्रति आसक्त होना, रिखोला की गाथा में रिखोला का सिरमौर के राजा की कन्या मंगला जोती पर मोहित हो जाना, राजुला मालूशाही की गाथा में मालूशाही का राजुला की प्राप्ति के लिए जाना इसके प्रमाण हैं कि वीरगाथाओं में वीर तत्त्व के साथ ही प्रणय तत्त्व भी है। यह अवश्य है कि उनमें गहनता वीर तत्त्व अथवा रस की ही है। अथवा यूँ कहा जा

सकता है कि अनेक वीर गाथाओं में परिणय और वीरतत्त्व परस्पर गुंथे हुए हैं। इसी प्रकार चैती गाथाओं में मातृपक्ष के प्रति प्रबल प्रेम के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष प्रेम के सूत्र दृष्टिपथ में आते हैं। इस आधार पर यह कहना अनुचित होगा कि मात्र गढ़वाली प्रणयगाथाओं में ही प्रेम की अभिव्यक्ति हुई है, अन्य तीन प्रकार की गाथाओं में नहीं। गढ़वाली लोकगाथाओं में प्रणय का पक्ष विभिन्न माध्यमों से व्यक्त हुआ है। इस प्रेम की विचित्र विशेषताएँ प्रकट हुई हैं। इनमें पुरुष के प्रबल आवेग के समक्ष कभी नारी की चुनौतियाँ आ जाती हैं, नायक की माँ-बहन बाधा बन जाती है तो कभी इस मार्ग को नायिका का पति (परकीया प्रेम) ही कंटकाकीर्ण बनाता है, किंतु नायक इन सभी बाधाओं को पार कर लक्ष्य प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

प्रणयगाथाओं का एक वर्ग परकीया वाली गाथाओं का है। यद्यपि पर्वतीय समाज में परकीया प्रेम को नैतिकता की दृष्टि से कभी स्वीकार्यता नहीं रही, किंतु इस क्षेत्र में श्रीकृष्ण से संबंधित कुसुमा कोलिन और सुजू की सुनारी की ऐसी गाथाएँ गाई जाती हैं। दोनों गाथाओं की नायिकाएँ अनुसूचित जाति से संबद्ध हैं। इसके पीछे एक कारण सवर्ण और अनुसूचित जाति के लोगों के बीच भेदभाव मिटाकर आपसी संबंध सशक्त करने की धारणा और दूसरा कारण मनोरंजन हो सकता है। कुसुमा कोलिन की गाथा में कुसुमा की लट को देखकर उस पर मोहित हुए श्रीकृष्ण कुसुमा के घर पहुँच गए तो उसे भाभी कहकर प्रणाम किया। कुसुमा ने इसका प्रतिकार किया कि तुम सवर्ण हो, हम अनुसूचित जाति के हैं—

तब पूछदा रीडदा बिरडदा भगवान पौँछीग्या उचा केलूगढ़-

उचा केलूगढ़ कुसुमा का डेरा!

+ + + +

बोदा:सिमानी मेरी बौजी सेवा चीम!

कुसुमा तब मुलमुल हैंसदी: हे साँवल नारैण,

तुम होला प्रभु हम छावां कोली! ²³

इस प्रसंग के माध्यम से गाथाकारों ने पहाड़ में अनुसूचित जाति के लोगों द्वारा सवर्णों को सम्मान दिए जाने की बात को महत्त्व दिया है। सुजू की सुनारी की गाथा में श्रीकृष्ण सुजू सुनार को बड़ा भाई कहते हैं—

साँवल भगीवान घोड़ी होइन असवार

चलदा चलदा ऐगीन आधी अधवाट!

छादू दादू बोलदा सुनार तैं—

सेवा मानी मेरा दादू सुनार, बौ सुनारी!²⁴

परकीया प्रणय की तीसरी गाथा में रणू की पत्नी से संबंध बनाने की इच्छा रखने वाला झंक्रू रणू का ममेरा भाई है। तीनों गाथाओं में नायिकाओं को पुरुषों द्वारा भाभी संबोधित करना यह भी दर्शाता है कि पर्वतीय क्षेत्र में भाभी के साथ हँसी-मखौल का संबंध है, अतः इनके मध्य संबंधों में मर्यादाएँ की कठोर रेखाएँ भी नहीं हैं।

किसी भी प्रेम प्रसंग की रचना में प्रणय और शृंगार का गहरा तारतम्य होता है। गढ़वाली लोकगाथाएँ भी इसमें अपवाद नहीं हैं। प्रणय तत्त्व युक्त इन लोकगाथाओं में नारीशृंगार की गहन अभिव्यक्ति हुई है। गाथाकारों ने प्रकृति के अनेक उपमान मानो इनमें उड़ेल डाले हैं। अत्युक्ति

इतनी कि रूपसी युवती के समक्ष सूर्य-चंद्र का प्रकाश धूमिल पड़ जाता है। ब्रह्मकौल की गाथा की नायिका मोतीमाला का सौंदर्य आकर्षक ढंग से चित्रित किया गया है। उसकी अंगूठियाँ तारों जैसी हैं, बाल काले बादलों जैसे हैं, वह चीणा (एक चमकदार परत वाला पहाड़ी अनाज) जैसी चमकती है, फ्यूंली जैसा फूल है, मक्खन की टिकिया जैसी है, वह हिंसर (एक पहाड़ी कंद) जैसी लगती है, वह सुंदरियों में सुंदर है, चंद्रमाओं में चंद्रमा है—

अंगूठी गैणुवा जींका बाल काली बादुली,
चीणा जसी चम फ्यूंली जसो पूल,
नौण सी लुटकी, हिंसर-सी गुंदकी,
मोतीमाला होल बांदू माँ की बाँद,
चाँदू माँ की चाँद।²⁵

अनेक गाथाओं में द्विपक्षीय प्रेम की सुंदर अभिव्यंजना परिलक्षित होती है। अर्थात् पुरुष ही किसी सुंदर युवती-स्त्री पर आकर्षित नहीं होता, अपितु कई बार उसकी प्रेमिका भी उसके शरीर शौष्ठव, वीरत्व आदि को देखकर उस पर मोहित हो जाती है। इस दोहरे प्रेम की परणति दोनों की आकांक्षाएँ पूर्ण होने के रूप में होती है। भानु भौंपलो की गाथा इसी प्रकार की है। इसके कथानक के अनुसार गाथा का नायक भानु कलूनी कोट में सुजू कलूनी के यहाँ चाकरी करने गया। उसने उसे घास काटने की नौकरी दी। सुजू की पुत्री अमरावती पहले तो भानु से घृणा करती है, किंतु उसके वीरत्व प्रदर्शन के बाद उसने भानु की शेर जैसी मूँछें, गजभर की पीठ, बड़ी-बड़ी आँखें, चौड़ा और तेजस्वी माथा देखा तो वह उस पर मुग्ध हो गई—

माल का शेर जना मोच छा,
डबराली डीठ, गजभर की पीठ छै,
छयो वैको जजर्यालो कंकर्यालो माथो,
वै देखी नौनी अमरावती मोइत ह्वै गए।²⁶

स्वप्न में प्रेम के बीज अंकुरित होना गढ़वाली लोक गाथाओं की प्रमुख विशेषता है। इससे स्पष्ट होता है कि गढ़वाल में एक समय में स्वप्न की घटनाओं को सत्य की कसौटी पर खरा पाया रहा होगा। गाथाओं के नायक स्वप्न में किसी सुंदरी को देखता है तो उसे सच्ची घटना मान बैठ वह युवती के पास तत्काल उसके देश जाने को तत्पर हो जाता है। ऐसी गाथाओं में यह विचित्र है कि स्वप्न के आधार पर ही नायक युवती के पास पहुँच जाता है। पांडवों की गाथा का वासुदंता प्रसंग इसी प्रकार का है। इसमें अर्जुन नागलोक की कन्या सुंदरी वासुदंता को स्वप्न में देखता है और द्रौपदी को सोया छोड़ वह वासुदंता के पास चला जाता है—

द्रोपती अर्जुन सेयां छया,
रातुड़ी होये थोड़ा, स्वीणा ऐन भौत,
सुपिना मा देखद अर्जुन—
बाली वासुदंता, नागू की धियाणा,
मन ह्वैगे मोहित, चित्त ह्वैगे चंचल।²⁷

नायक के साथ अनहोनी होने पर माँ को स्वप्न में आशंका होना जाती है अथवा नायक को अपने घर में किसी अनहोनी की आशंका का भान हो जाता है। ब्रह्मकौल की गाथा

के अनुसार श्रीकृष्ण द्वारा मोती माला को लेने भेजे गए ब्रह्मकौल को मोती माला ने चंद्रागिरी में पत्थर माला के पास भेज दिया। वहाँ ब्रह्मकौल को भूपू नाग ने लपेट लिया तो ब्रह्मी की माँ को स्वप्न होता है तथा उसके स्तनों पर पीड़ा होने लगती है।²⁸ इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण को भी स्वप्न हो गया।

पड़ीगे बेहोश भ्वां बरमी गेंडगू-सी!
आख्यों सेंवाल सरीगे, दांतु मा कौड़ी,
सुपिनो ह्वैगे कृष्ण द्वारिका नारैण,
कमरी कुसाण लैगे, दूदी चचड़ाण लैगे,
आँखी फुरण लैगी माता विमला की।²⁹

इसी प्रकार सूरज कौल की गाथा में भी सुरजू के संकट में पड़ने की जानकारी गुरु गोरखनाथ को स्वप्न में मिल जाती है। गाथा के कथानक के अनुसार वह स्वप्न में देखी ताता लूहागढ़ की सुंदरी जोत्रमाला के पास गया तो मार्ग में नागणियों के सेरा में चुड़ैलों ने उसे घेर लिया। संकट में पड़ा सुरजू गुरु गोरख नाथ के सपने में गया—

नागणी का सेरा बाला चुड़ीणू का घेरा,
मल्यो रंग घोड़ी तेरी धावड़ी लगौंद।

+ + + + +
बिपदा का मारा जांदू गुरु का सुपीना,
रैगडं गुरजी आज चुड़ीण का घेरा।³⁰

वाञ्छित लक्ष्य की प्राप्ति में गुरु गोरखनाथ द्वारा नायक की सहायता करना अथवा भीषण संकट से तंत्र-मंत्रों से उबारना इन गाथाओं की एक विशेषता है। इससे स्पष्ट होता है कि मध्यकालीन गढ़वाल में नाथ भक्ति की स्वीकार्यता और वर्चस्व रहा।

शैव, शाक्त और वैष्णव भक्ति भावना के अतिरिक्त उत्तराखंड में यह भक्ति का चतुर्थ रूप है। नाथ संप्रदाय उन साधकों का संप्रदाय है, जो 'नाथ' को परम तत्त्व स्वीकार कर उनकी प्राप्ति के लिए योग साधना करते थे तथा दीक्षा के पश्चात 'नाथ' उपाधि जोड़ते थे। साथ ही नाथों के मत को 'नाथमत' और उनके अनुयायियों को 'नाथपंथी' कहने की परंपरा चली।³¹

नाथ योगी संप्रदाय योग मार्गी साधकों का एक समुदाय है, जिस पर बौद्ध धर्म तथा शैव संप्रदाय का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।³² नाथ और सिद्ध संप्रदाय मूलतः लोकप्रवृत्ति मूलक था। उसके मूल में ही लोक मानस व्याप्त था। उनका संबंध उन जातियों से विशेष था, जिनमें आदिम तत्त्व प्रधान थे। उसी के अनुरूप उन्होंने ऐसे तंत्र-मंत्र, जादू-टोना व विधि-विधानों की प्रतिष्ठा की, जिनके विकास में लोक प्रवृत्ति का ही मुख्य योग रहा है।³³

प्रणय तत्त्वयुक्त गाथाओं में नायक गुरु गोरखनाथ के पास जाकर उनसे आशीर्वाद लेता है। सुरजू कौल की गाथा के अनुसार सुरजू की माँ ने कहा कि बेटा जोत्रमाला के फेर में मत पड़। तू मेरा अकेला पुत्र है, अगर तुझे कुछ हो गया तो मैं क्या करूँगी, किंतु इस पर भी जब सुरजू नहीं माना तो उसकी माँ ने कहा कि तू मानता नहीं है तो जोत्रमाला के पास जाने से पहले गुरु गोरखनाथ से आशीर्वाद ले ले। वे तेरी इस लक्ष्य के प्राप्ति में सहायता करेंगे—

निम माणदो सुरीज त जा गुरु का पास,

वो गुरु गोरख तेरी इच्छा पूरी करलो,
तब करदी वो गुरु को ध्यान।³⁴

राजुला मालूशाही की गाथा में तो राजुला के पास जाने से पहले मालूशाही ने संन्यास ही ले लिया, साधु बन गया। उसने गुरु गोरखनाथ से दीक्षा ली। गुरु गोरखनाथ ने उसे आशीष दिया, बोक्साड़ी विद्या दी, उसका सिर मूँडा, कानों में छेद किए, हाथ में खरुवा की झोली और चिमटा थमाया—

गुरु गोरख तब देंदा आशीषा,
अशीषा देंदा बोक्साड़ी विद्या!
मुँड मूँडदा वैका कंदूड़ छेडदा,
देंदा खरुवा की झोली हाथ चिमटा।³⁵

प्रणय तत्त्वयुक्त गाथाओं में सुंदर नारी पुरुष को विवाह करने से पहले आणे (चुनौती-चेतावनी) देती है, जिन्हें पुरुष स्वीकार कर लेता है। यह चुनौती उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न बन जाती है। इसमें पराजित होना वह अपने पौरुष-पराक्रम, वीरत्व, जाति की पराजय समझता है। ये आणे उसके हृदय पर काँटे की तरह चुभती हैं।

राजुला मालूशाही की गाथा में मालूशाही की मंगेतर राजुला सोये हुए मालूशाही के सिरहाने पत्र लिखकर चली जाती है कि तूने अपनी माँ का दूध पिया होगा तो मुझ से भेंट करने आ जाना और यदि सियारनी का पुत्र होगा तो यों ही पलंग में सोते रहना। वह इस चुनौती को स्वीकार करने के लिए साधु का वेश धारण कर उसके पास जाता है, वह वहाँ शौक्यानी देश में विष का सामना करता है। वहाँ पानी में विष था, वहाँ विष स्रोत थे। विघ्नी विजयपाल ने उसे खीर में विष मिलाकर दिया, वह मूर्च्छित हो गया। सिदुवा-विदुवा ने उसे जीवित कर दिया। इसके बाद उसकी सेना ने वहाँ मार-काट मचाई और राजुला के साथ मालूशाही विवाह कर अपने घर ले आया—

पिनी होली त्वैन जु माँ की दूदी त मैं भेंटण आई,
जु होलो स्यालणी को त तखी पड्यूं रई सुतरी पलंग।

+ + + + +

पौँछी गए वो विषैला शौक्यानी देश का धोर,

विषैली मुलूक टिण मा विष,

वै देश मा होला विष का नौला।

+ + + + +

नौ भाई कैत्युरा तब बगछट्ट होई गैन

गाडीन तौन अपनी तरवारी

काटीन हूण्या पिंडालू जस गाभा।

+ + + + +

तब एगे मालू लीक वीं को डोला।³⁶

सुरजू कुँवर की गाथा में सुरजू जिस ताता लूहागढ़ की सुंदरी जोत्रमाला को स्वप्न में देखता है वह कहती है कि तू सिंहणी का पुत्र होगा तो ताता लूहागढ़ आना और सियारनी

का होगा तो वहीं भीमली बाजार रहेगा। वह इस चुनौती को स्वीकारता है। ताता लूहागढ़ जाते समय मार्ग में चुड़ैलों, आछरियों (अनिष्टकारी शक्तियाँ) का सामना का सामना करता है, विषैली कांठी में विष का सामना करता है, जोत्र माला से एक बार पाँसा खेलने पर पराजित होता है, किंतु बादमें उसे जीत लेता है—

रांड की जोतरा देंदा, जलमू की बोली,
सिंहणी को ह्वेलो ऐली ताता लूहागढ़,
स्यालणी को ह्वेलो रैलो भिमली बाजार।

+ + + +
पौड़ीगे कुँवर जैकी चुड़ीणू का घेरा।

+ + + +
नौ दिन नौराति रैगे आछिर्युं का फेरा।

+ + + +
पाँचवीं दऊं जीते दिना राणी जोतमाला।³⁷

माधोसिंह की गाथा के अनुसार जब माधो की प्रेयसी रुक्मा ने माधो से कहा कि पानी न होने के कारण तेरा मलेथा गाँव बंजर है, साँवा और मंडुआ आदि असिंचित भूमि का अनाज ही उत्पन्न होगा, सुबह उठकर पानी का बंठा सिर पर नदी से भरकर लाना पड़ेगा, यह सब मेरे बस की बात नहीं, इसलिए तू मेरी कल्पना करना छोड़ दे। इस भंडारी सोये शेर की तरह जाग गया। उसने कहा—मैं छोटी नहर बनवाकर गाँव में पानी ले जाऊँगा। उसने नहर बनवाई, पानी नहीं गया। इस पर स्वप्न में माणिकनाथ ने कहा कि तू देवी राजराजेश्वरी को बलि देगा तो पानी आगे जाएगा। उसने ऐसा ही किया—

तेरा मलेथा होलो कोदो झंगोरो,
कोदो झंगोरो खाण मैं वख नी औण
सुबेरी उठीक पाणी को बंठा मुंड माँ धरी
गंगाल जैक लौणू मैं से नी होणू,
ते रै ले माधो, तै बांजा मलेथा,
अब छोड़ मेरो बामो, मैं त्वैक नी औण!

+ + +
भंडारी स्येऊं शेर जागे।

+ + + +
आधी रात मा सुपिना ऐसे गाणिक नाथ
सुण माधो तै छंडा पर होली राजराजेश्वरी
जब तू बेटा की बलि देलो तब कूल औली।

+ + + +
माधो बेटा कू मूल पर लीगे

+ + + +
माधोन वैकी बलि दी दीने।³⁸

इस प्रकार की गाथाओं में नायक का नायिका के प्रति प्रेम की पराकाष्ठा प्रकट होती है। यह प्रेम इतना प्रबल और नायक का नायिका से भेंट करने की इतनी अधिक उत्कंठा होती है कि वह उन अंधविश्वासों-अपशकुनों की भी परवाह नहीं करता, जिन्हें तत्कालीन गढ़वाली समाज में अहम स्थान प्राप्त था। जीतू बगडवाल की गाथा के अनुसार जब वह अपनी बहन शोभनी की ससुराल जाता है तो उसके मन में शोभनी की ननद को मिलने की प्रबल उत्कंठा थी। जाते समय अपशकुन हो गया। उसके वस्त्र अकस्मात् मैले-कुचैले हो गए, उसकी माँ को इसका अनुमान हो गया, उसने जीतू को समझाकर रोकने का प्रयास किया, किंतु वह नहीं माना—

न जा मेरा जीतू कपड़ी तेरी झौली हवैन मोसी,

+ + + +

त्वैक तई हवैगे जीतू यो असगुना³⁹

त्वै इसी प्रकार सुरजू कौल की गाथा में सुरजू भी ताता लूहागढ़ की सुंदरी जोत्र माला से जाते समय अंधविश्वास को कोई महत्त्व नहीं देता। उसकी माँ कहती है कि बेटा वहाँ मत जा, तू उस सुंदरी की कल्पना छोड़ दे, तेरी तिल्लू नामक बकरी छींक मा रही है, किंतु माँ की इस बात का सुरजू पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

तेरी तिल्लू बाखरी बेटा छट-पट छ्यूंदा,

निल्हेणो सूरजू तिना जोतरा को भामो।⁴⁰

उक्त आधार पर सिद्ध होता है कि गढ़वाली लोकगाथाओं में प्रणय तत्त्व अनेक रूपों में विद्यमान है। प्रेम की गहन अनुभूति कराती और गहरे प्रेम को अभिव्यक्त करती इन गाथाओं में नायिका को प्राप्त करने के लिए नायक का चुनौतियों और नाना प्रकार के संघर्षों से जूझना उल्लेखनीय है। अतिमानवी तत्त्वों, कल्पनाओं और अतिरंजना के आवरण से सुसज्जित इन गेय प्रेमाख्यानों में धर्म-अध्यात्म भी प्रदर्शित हुआ है। इनमें भारतीय संस्कृति में निहित नारी के उच्च आदर्श हैं तो सामाजिक मार्यादाओं की लक्ष्मणरेखाएँ हैं, नैतिकता की सीमाओं में बंधे प्रेम में भावनाओं का ज्वलंत प्रदर्शन है।

इन गाथाओं में भारतीय संस्कृति के स्वरूप की झाँकियाँ न्याय और सत्य की सर्वदा विजय, प्राण जाय पर वचन न जाय, सर्वे भवंतु सुखनः.....आदि दृष्टिपथ में आती हैं। ये सूत्र श्रोताओं-अध्येताओं को व्यवस्थित और सैद्धांतिक जीवन यापन करने का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अर्थात् ये गढ़वाली गाथाएँ मनोरंजन ही नहीं करतीं, अपितु गूढ़ और महत्त्वपूर्ण जीवनोपयोगी संदेशों की भी प्रदाता हैं। इनमें मध्यकालीन गढ़वाल के मनोविज्ञान के गहन अध्ययन की असीम संभावनाएँ छिपी हैं।

संदर्भ

1. मोहनलाल बाबुलकर, गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० 92
2. वही, हिम ओज अप्रैल-जून, 2003, पृ० 13
3. डॉ० हरिमोहन, शिवप्रसाद नैथानी, उत्तराखंड और उसकी संस्कृति, पृ० 179
4. डॉ० गोविंद चातक, भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ० 243-244
5. अगरचंद नाहटा, प्रचीन काव्यों की रूप परंपरा, पृ० 96-97
6. डॉ० सत्येंद्र, ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० 348

7. डॉ० गोविंद चातक, भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ० 245
8. अगरचंद नाहटा, प्रचीन काव्यों की रूप परंपरा, पृ० 96-97
9. डॉ० सत्येंद्र, ब्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० 348
10. मोहनलाल बाबुलकर, गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० 126
11. डॉ० गोविंद चातक, भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ० 268
12. डा. हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, पृ० 180
13. बृहत हिंदीकोश, संपादक कालिकाप्रसाद, राजवल्लभ सहाय, मुकुंदीलाल, पृ० 723
14. डॉ० गोविंद चातक, भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ : मध्य हिमालय, पृ० 290
15. परशुराम चतुर्वेदी, भारतीय प्रेमाख्यान की परंपरा, पृ० 50
16. डॉ० गोविंद चातक, भारतीय लोकसंस्कृति का संदर्भ: मध्य हिमालय, पृ० 291
17. डॉ० गोविंद चातक, गढ़वाली लोकगाथाएँ पृ० 207
18. डॉ० शिवानंद नौटियाल, गढ़वाल के लोकनृत्य-गीत, पृ० 47 (भूमिका)
19. गढ़वाल में विभिन्न वर्गों के लोगों को उनके कार्यों के बदले नगदी देने के स्थान पर विभिन्न प्रकार के अनाज देने की प्राचीन परंपरा
20. क्षेत्र-विशेष को ओलावृष्टि से बचाने का टोना
21. सरकंडा के पात्र बनाने वाला अनुसूचित जाति का एक वर्ग
22. वे सवर्ण, जिनके साथ आवजी परिवार विशेष का प्राचीन समय से वादन का संबंध निर्धारित होता है
23. डॉ० गोविंद चातक, गढ़वाली लोकगाथाएँ, पृ० 77
24. वही, पृ० 81
25. डॉ० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, पृ० 284
26. डॉ० गोविंद चातक गढ़वाली लोकगाथाएँ, पृ० 414
27. डॉ० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, पृ० 296
28. मोहनलाल बाबुलकर, गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० 149
29. डॉ० गोविंद चातक गढ़वाली लोकगाथाएँ, पृ० 108
30. डॉ० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, पृ० 259
31. डॉ० विष्णुदत्त कुकरेती, नाथपंथ: गढ़वाल के परिप्रेक्ष्य में, पृ० 91
32. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, उत्तरी भारत की संत-परंपरा, पृ० 54
33. डॉ० सत्येंद्र, मध्ययुगीन हिंदी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन, पृ० 91
34. डॉ० गोविंद चातक गढ़वाली लोकगाथाएँ, पृ० 360
35. वही, पृ० 492
36. वही, पृ० 490, 493, 496
37. मोहनलाल बाबुलकर, गढ़वाली लोकसाहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, पृ० 134, 139, 140, 142
38. डॉ० गोविंद चातक, गढ़वाली लोकगाथाएँ पृ० 430-432
39. डॉ० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य, पृ० 184
40. वही, पृ० 256

□ मकान नं० एच 301, नेहरू कालोनी,
धर्मपुर देहरादून (उत्तराखंड)
मो० 09411341443

स्वाधीनता-आंदोलनकाल की कविता में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति

प्रो० नवीनचंद्र लोहनी

अध्यक्ष हिंदी विभाग,

चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

डॉ० रवींद्रकुमार

परियोजना अध्येता, यू०जी०सी०

वृहत् शोध परियोजना, हिंदी विभाग

चौ० चरणसिंह विश्वविद्यालय, मेरठ

राष्ट्रीयता का प्रारूप जन-भावनाओं में मनोवैज्ञानिक रूप से निहित होता है। राष्ट्रीयता ही व्यक्ति को आत्मसम्मान और गौरव का भान कराती है। देशभक्ति का अवलंब लेकर राष्ट्रीयता का निर्माण होता है तथा इसका विकास देशभक्ति के अंतर्निहित ही दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है।

‘राष्ट्रीयता के लिए देशभक्ति का होना आवश्यक है। अपने देश के प्रति विशिष्ट आत्मीयता एवं गौरव की भावना से युक्त व्यक्तियों का समुदाय ही राष्ट्र है। सच्चा देशप्रेमी वही होता है, जो राष्ट्र की रक्षा के लिए अपने समस्त स्वार्थों एवं हितों का बलिदान करे, अपने प्राणों का उत्सर्ग करे। जन्मभूमि तथा पैतृक परंपराओं के प्रति यह अनुराग इतिहास में मिलता है।’¹

सामान्य रूप से ‘राष्ट्रीयता’ ऐसी प्रवृत्ति है, जिसमें मनुष्य अपने देश के हितों को सर्वोपरि मानकर उसके लिए सब-कुछ न्यौछावर करने हेतु तत्पर रहता है। विभिन्न विद्वानों ने ‘राष्ट्रीयता’ की परिभाषाएँ दी हैं। डॉ० सुधींद्र के अनुसार— ‘राष्ट्रवाद एक व्यक्तिगत नहीं, समष्टिगत (सामूहिक चेतना) है, जिसकी दृष्टि ‘समूह’ या ‘सर्व’ के अभ्युदय और प्रगति पर है और वह प्रगतिशील तत्त्व भी है। ‘देशभक्ति’ राष्ट्रीयता का सनातन स्वरूप है और ‘राष्ट्रवाद’ उसका प्रगतिशील रूप है।’²

डॉ० के०के० शर्मा ने ‘राष्ट्रीयता’ की परिभाषा इस प्रकार की है— ‘राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है, जो एक ही भू-भाग में बसने वालों में पैदा होती है। ‘राष्ट्रीयता’ मन की वह स्थिति है, जिससे राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की परमनिष्ठा का पता लगता है। यह परस्पर बंधुत्व का भाव है, जो राष्ट्र को गौरवान्वित करने में सहायक होता है। सामान्य भाषा, व्यवहार, धर्म आदि के संयोग से राष्ट्रीयता की भावना विकसित होती है।’³

राष्ट्रीयता का अर्थ और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जाए तो—

‘प्रत्येक व्यक्ति ‘राष्ट्र’ का अंश है, इस राष्ट्र की सेवा के लिए, इसको धन-धान्य से समृद्ध बनाने के लिए इसके प्रत्येक नागरिक को सुखी और संपन्न बनाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सब प्रकार के त्याग और कष्ट को स्वीकार करना चाहिए।’⁴

इस प्रकार 'राष्ट्रीयता' राष्ट्र के प्रति अभिव्यक्त एक ऐसी चेतना की अनुभूति, रागात्मक भाव तथा एक ऐसा आंतरिक भाव है, जो देश के प्रति समर्पण, त्याग, प्रेम, निष्ठा एवं श्रद्धा का भाव जाग्रत करता है। जो देश की उन्नति के लिए सकारात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह ऐसा भाव है, जो मनुष्य को राष्ट्र की संकटापन्न स्थिति में अपना सर्वस्व न्योछावर करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

'राष्ट्रीयता' के निर्माण में भौगोलिक एकता, राजनीतिक लक्ष्य की एकता, भाषाई एकता, जातीय एकता, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक समन्वय की भावना, धार्मिक एकता तथा आर्थिक आकांक्षा की एकता के भाव, प्रमुख तत्त्वों के रूप में समाहित रहते हैं, 'क्योंकि भौगोलिक एकता राष्ट्रीयता का बाह्य आकार है, आर्थिक एकता उसकी शक्ति, राजनीतिक एकता उसके मूर्तिकरण का हेतु और सांस्कृतिक एकता उसकी प्रेरक एवं पोषक। इन सभी तत्त्वों के समन्वयात्मक रूप से क्रियाशील होने पर एक देश 'राष्ट्र' के रूप में शक्तिशाली होकर उन्नति कर सकता है।' ⁵

रचनाकार भावात्मक एवं संवेदनात्मक रूप से प्रबुद्धता लिए होता है। अतः उसके साहित्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रीयता के भाव अभिव्यक्त होते ही रहते हैं। 'साहित्य में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति से तात्पर्य ऐसी कृतियों के प्रणयन से है, जो राष्ट्र के निर्माण एवं विकास के लिए जन-मानस में उत्साह एवं प्रेरणा का संचार कर सके।' ⁶

राष्ट्र पर आई संकट की बेला अथवा राष्ट्र की गौरवपूर्ण स्थितियों, घटनाओं का चित्रण जिस साहित्य में होता है वही 'राष्ट्रीय साहित्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस संदर्भ में रवींद्रनाथ दरगन के विचार उल्लेखनीय हैं—

'पराधीन राष्ट्र के सम्मुख स्वाधीनता की प्राप्ति ही चरम लक्ष्य होती है, जबकि स्वतंत्र राष्ट्रों के सम्मुख उत्तरोत्तर विकास की समस्या रहती है। अन्य कई सामाजिक समस्याएँ भी राष्ट्र के सम्मुख यदा-कदा उपस्थित होती रहती हैं, किंतु आंतरिक एवं बाह्य खतरों से बचाते हुए राष्ट्र की अखंडता एवं एकता की रक्षा के लिए राष्ट्रवासियों को सनद्ध रखना राष्ट्रीय साहित्य का प्रधान साक्ष्य रहता है।' ⁷

अतः रचनाकार ही साहित्य के माध्यम से राष्ट्रीय विचारों, भावनाओं को जनमानस के अन्तर्मन में रोपित करता है। इस बात के उदाहरण भारतीय साहित्य में ही नहीं, अपितु विश्वसाहित्य में भी प्राप्त होते हैं। कार्ल मार्क्स, वाल्टेयर, रूसो आदि द्वारा रचित साहित्य के माध्यम से ही रूस तथा फ्रांस की जनता में क्रांति की भावना का संचार हुआ था। इस प्रकार 'राष्ट्रीय साहित्य' राष्ट्रीय एकता के लिए सदा उपयोगी सिद्ध होता रहा है। 'साहित्य ही किसी मृत राष्ट्र को संजीवनी-शक्ति प्रदान करने के लिए समर्थ होता है। राष्ट्रीयता की भावना 'साहित्य' द्वारा ही विकास को प्राप्त होती है।' ⁸

अस्तु, उत्तम साहित्य में निश्चय ही राष्ट्रीय सुरक्षा की चिंता, उसका विकास, उसका प्रशस्तिगान करने वाले महान पुरुषों, उस पर सर्वस्व अर्पित करने वाले महान योद्धाओं, क्रांतिकारियों की गाथाएँ समाहित होती हैं। इस प्रकार साहित्य राष्ट्र की प्रगति का उद्घोषक है। राष्ट्रीयता की भावना के स्वरूप और अरूप तत्त्वों के आधार पर राष्ट्रीय कविता में पाई

जाने वाली भावनाओं को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

1. जन्मभूमि के प्रति प्रेम,
2. स्वर्णिम अतीत का चित्रण,
3. प्रकृति-प्रेम,
4. विदेशी शासन की निंदा,
5. जातीयता के उद्गार,
6. सामाजिक सुधार, भविष्य-निर्माण,
7. वर्तमान दशा पर क्षोभ,
8. वीर एवं महापुरुषों की स्तुति,
9. पीड़ित जनता, कृषकों का चित्रण,
10. भाषाई प्रेम आदि

‘राष्ट्रीय भावना में राष्ट्र-वन्दना, मातृभूमि तथा जन्मभूमि के प्रति प्रेम का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जब तक मातृभूमि के प्रति अगाध प्रेम तथा उसे परतंत्र न होने देने की भावना देशवासियों में नहीं जाग्रत होगी, तब तक उन्हें राष्ट्रप्रेमी नहीं कहा जा सकता।’⁹

स्वाधीनता-आंदोलन काल की हिंदी-कविता का अवलोकन करें तो राष्ट्रप्रेम-संबंधी उत्तेजक सामग्री की इस काल में कोई कमी नहीं रही। ‘सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम की पराजय ने भारतीय राजनीतिक चेतना में एक गतिरोध ला दिया था। पराजयजनित इस निराशा और जड़ता को तोड़ा उस सांस्कृतिक आंदोलन ने, जिसका संचालन और नेतृत्व कर रहे थे रामकृष्ण परमहंस, केशवचंद्र सेन, दयानंद सरस्वती और रामकृष्ण परमहंस के पटु शिष्य विवेकानंद। इन आध्यात्मिक पुरुषों ने अपने-अपने ढंग से जातीय उन्नयन और प्रकारांतर से मानव-मांगल्य का उपक्रम किया। हिंदीभाषी क्षेत्र में नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चंद्र थे। भारतेन्दु का उदय भारतीय-राष्ट्रीय चेतना का उदय था। यह वह युग था, जब हिंदीभाषा के जीवन में नवीन रक्त का संचार हुआ।’¹⁰

इस प्रकार उपरिलिखित मनीषी ही सांस्कृतिक जागरण के प्रवर्तक थे। उनके विचारों में राष्ट्रीयता का अर्थ मातृभूमि और मातृभाषा की उन्नति के लिए त्याग, बलिदान, अहिंसा, सेवा, सत्य आदि व्रतों का पालन करना-कराना था। ये राष्ट्रीय उत्थान के लिए कटिबद्ध थे। इस संदर्भ में डॉ॰ नरेश मिश्र का मत भी उल्लेख है—

‘देश की राष्ट्रीयता के संदर्भ में सन् 1857 का वर्ष महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में सामने आया है। इस समय स्वतंत्रता-संग्राम के माध्यम से भारतीय जनमानस में उभरा विद्रोह स्वतंत्रता का अभिलाषी रहा। इस आंदोलन से राष्ट्रीयता का मुखर स्वर सामने आया है। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने समाज-सुधार के साथ अतीत का गौरवगान करते हुए भारतीयों में आत्मसम्मान और स्वाभिमान का भाव जगाया है। सामाजिक, सांस्कृतिक उन्नयन की आशा और स्वतंत्रता-आंदोलन की छाया में विकसित भारतेन्दुयुग का साहित्य नव सांस्कृतिक राष्ट्रीय भाव के साथ विकसित हुआ है।’¹¹

भारतेन्दु ने ब्रिटिश राज्य का यथार्थ चित्र अंकित कर भारतीय जनमानस का ध्यान आकृष्ट करते हुए ‘भारत दुर्दशा’ में लिखा—

अँग्रेज़ राज सुख साज महा हितकारी,
पय धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।

‘भारत दुर्दशा’ में परतंत्रता की अंतर्व्यथा की तीन प्रमुख अभिव्यक्तियाँ हैं— निराशा, ग्लानिबोध और बेबसी। प्रस्तुत बिंदुओं को परवर्तीकाल में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने ‘भारत भारती’ के माध्यम से अभिव्यक्त किया। अतः हिंदी-कविता में राष्ट्रीयतावादी चिंतन का पहला पड़ाव भारतेंदु साहित्य और दूसरा महत्त्वपूर्ण पड़ाव ‘भारत भारती’ को माना जाना चाहिए।

‘भारत भारती’ राष्ट्रकवि के स्वदेशी-बोध की काव्यकृति तो है ही साथ ही साथ सांस्कृतिक बोध का महाकाव्य भी है। मैथिलीशरण गुप्त को केवल भारतेंदुकाव्य से नहीं, बल्कि पं० नाथूराम शर्मा ‘शंकर’, श्रीधर पाठक, मुंशी अजमेरी के काव्यों से भी प्रेरणा मिली थी, किंतु इन कवियों में व्यापक सांस्कृतिक चिंतन के संकेत नहीं मिलते। राष्ट्रकवि ने ‘भारत भारती’ को देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य, इस प्रकार तीन खंडों में विभाजित कर शैली की दृष्टि से भी महाकाव्यात्मक स्वरूप प्रदान किया है। अँग्रेजों के प्रशासन से व्यथित हो वे सहज ढंग से कहते हैं— ‘हम क्या थे, क्या हो गए।’ उनके मानस में भारतमाता की भावना मूर्त हो गई थी।¹² यही कारण था कि गुप्त जी ने ‘भारत भारती’ में ईश्वर से कामना की—

मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती,
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।

बदलते समय के परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीय स्वाधीनता-आंदोलन तेज़ होता गया। अनेक घटनाएँ घटित हुईं और तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का दमनचक्र कठोर होता गया। यह कविता का ही चमत्कार था कि संपूर्ण देश में अनुपम जनजागरण का संचार हुआ। ‘वंदे मातरम्’ की ध्वजा फहराते हुए ‘कामा गाटा मारू’ जहाज़ कनाडा के तट पर पहुँचा। सन् 1916 में काँग्रेस की होमरूल की माँग ब्रिटिश सरकार द्वारा टुकरा दी गई। सन् 1917 में ऐसे राष्ट्रीय संकट के समय श्रीधर पाठक का ‘जय-जय प्यारा भारत देश, जय जय प्यारा जग से न्यारा’ गीत बहुत लोकप्रिय हुआ।

भारतेंदु के सहधर्मी रचनाकार बद्रीनारायण उपाध्याय ‘प्रेमघन’ की कविता में गांधी जी के सत्य, अहिंसा पर आधारित विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने के प्रति आग्रह विद्यमान है—

ज्यों-ज्यों चपल चरखा चलत,
बैर फूट बढ़ाए भारत वासिनै जे छलत,
प्रेमघन तिन मिलन लखि उनको हियो खलभलत।¹³

विदित हो कि राष्ट्रीयता के संदर्भ में भाषिक चेतना की अभिव्यक्ति भारतेंदु द्वारा रचित ‘निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल’ जैसी रचनाओं द्वारा हो ही जाती है।

राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टियों से तत्कालीन सत्ता द्वारा भारतवासियों के शोषण का चित्रण बाबू बालमुकुंद गुप्त की रचनाओं में मिलता है। इनके द्वारा रचित ‘पॉलिटिकल होली’, ‘स्वदेशी आंदोलन’, ‘मास्टर वचनम्’, ‘प्रभु वचनम्’, ‘टेसू’, ‘मल्ल युद्ध’, ‘विषाद में हर्ष’, ‘सच्चाई’, ‘ताऊ और हाऊ’, ‘आशीर्वाद’, ‘कर्जन’, ‘माली’, ‘मिन्टो’, ‘छोड़ चले शाईस्ताखानी’ तथा ‘प्रिंस ऑफ़ वेल्स’ आदि राष्ट्रीयता से परिपूर्ण रचनाओं में

चेतना और क्रांति का आग्रह है। गुप्त जी ने ब्रिटिश सरकार के चाटुकारों तथा सरकार से उपाधि प्राप्त होने के मोह में देश में सांप्रदायिकता का कुप्रसार करने वाले असामाजिक तत्वों को भी आगाह किया है—

एक ओर भी आशा शेष रही है शायद पाओगे,
मरते-मरते जी०सी०एम०आई० भी तुम बन जाओगे
अमृत रूप यह विष है कैसा समझ के इसको पीओगे? ¹⁴

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार के चाटुकार सामंत, पूँजीपतियों एवं राजा-महाराजाओं की कवि निंदा करता है तो दूसरी ओर मजदूर, दलित एवं निर्धन किसानों की दीन-हीन दशा का वर्णन कर अपनी रचनाओं द्वारा राष्ट्रीय का स्वर उद्भाषित करता है। ब्रिटिश शासन की न्याय-व्यवस्था पर कवि का कटाक्ष इन पंक्तियों में देखिए—

जिन बेचारों के तन पर कपड़ा, छप्पर, फूँस नहीं,
खाने को दो सेर अन्न नहीं, बैलों को भूस नहीं,
नग्न शरीर पर बेचारों के कोड़े पड़ते हैं। ¹⁵

इस काल के साहित्य के संदर्भ में डॉ० कमला कनोडिया ने उल्लेख किया है— 'इस साहित्य में देशवासियों को राष्ट्र के लिए त्याग और बलिदान का अपूर्व संदेश है तथा देशभक्ति की क्रांतिकारी ललकार है। इन्होंने अपने चेतनशील साहित्य द्वारा जनसाधारण के कानों में चेतना तथा राष्ट्रीयता का वह नया अद्भुत मंत्र फूँका, जिससे सारे देश में राष्ट्रीय जागरण की एक अपूर्व लहर दौड़ गई।' ¹⁶

भारतेंदु के समकालीन कवियों में प्रतापनारायण मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, पंडित सुधाकर द्विवेदी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिनकी रचनाओं में राष्ट्र के प्रति चिंता सजग रूप में उजागर होती है। सन् 1900 ई० तक राष्ट्रीय चेतना-संपन्न यह युगांतकारी काव्य जनमानस को निरंतर सचेत करता रहा।

सन् 1900 से 1920 तक का समय हिंदी साहित्य के इतिहास में द्विवेदीयुग के नाम से अभिहित किया जाता है। इस काल के कवियों में महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण गुप्त, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', पुरुषोत्तमदास टंडन, मुकुटधर पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, गुलेरी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ठाकुर गोपालशरण सिंह, सियारामशरण गुप्त तथा मातादीन आदि ने अपनी रचनाओं के माध्यम से मातृभूमि को सर्वस्व मानकर उस पर तन, मन, धन न्यौछावर करने की प्रेरणास्पद रचनाएँ मुखरित कीं। हिंदी साहित्य में द्विवेदीयुग को राष्ट्रीय जागरण का उद्बोधनकाल कहना सार्थक ही है, क्योंकि 'काँग्रेस की स्थापना सन् 1885 के बाद भारतीय गौरव के पुनरुत्थान-संबंधी आंदोलन का ज़ोर इस युग में था। तिलक और गांधी जी के आगमन से देश में कई शक्तियों का संचार हुआ तथा चारों ओर उग्र राष्ट्रीयता की लहर फैल गई। साहित्य के विभिन्न अंगों की वृद्धि का कार्य भी इस युग से ही प्रारंभ होने लगा था।' ¹⁷

हिंदी का पहला व्याकरण लिखने वाले कामताप्रसाद गुरु ने राष्ट्रीय गौरव से परिपूर्ण रचनाएँ कर तत्कालीन युवावर्ग को सजग किया—

जीती जाती हुई जिन्होंने भारत बाजी,

निज बल से मलमेट विधर्मी मुगल कुराजी।
जिनके आगे ठहर सके जंगी न जहाजी,
है जग जाहिर वही छत्रपति भूप शिवाजी।¹⁸

इन कवियों ने राष्ट्र के अतीत पर चिंतन करते हुए तत्कालीन, वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों को स्वाभिमान, आत्मगौरव एवं भारतीय संस्कृति का भान कराया। मैथिलीशरण गुप्त ने देश के गौरवपूर्ण अतीत का चित्रण इस प्रकार किया—

सब देश विद्या-प्राप्ति को सतत यहाँ आते रहे,
सुरलोक में भी गीत ऐसे देवगण गाते रहे।
हैं धन्य भारतवर्षवासी, धन्य भारतवर्ष है,
सुरलोक में भी सर्वथा उसका अधिक उत्कर्ष है।¹⁹

इस प्रकार द्विवेदीयुग में राष्ट्रीयता का स्वर पूर्ण वैभव को प्राप्त हुआ। इसका प्रभाव परवर्ती रचनाकारों पर भी पड़ा। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा रचित 'सेवावृत्ति की विग्रहणा' और 'भारत की परमेश्वर से प्रार्थना' नामक दो कविताएँ सन् 1902 में सरस्वती में छपीं, जिनके भाव राष्ट्रीयता से लबरेज हैं। इस काल के संदर्भ में डॉ॰ पूनमचंद्र तिवारी का मत है— 'द्विवेदीयुगीन काव्य में राष्ट्रीय काव्यधारा को जिस क्रूरतम परिस्थिति और विषम वातावरण में से गुजरना पड़ा, उन्हीं परिवर्तनक्रमों ने हमारे जीवन और जननायकों को 'बलिपंथी' बना दिया और उसी की छाप साहित्य की बलिदानी प्रवृत्ति बनकर हमें आजादी के रूप में उसके सत्य तक ले आई। द्विवेदीयुग की उग्र राजनीतिक चेतना के कारण जो प्रचंड देशभक्ति, राष्ट्रीयता और जन्मभूमि-प्रेम जागा, उसकी उत्तेजना ने 'बलिपंथी काव्य' को जन्म दिया और देशभक्तों को बलिदानी वृत्ति को तीव्र करने के लिए प्रेरित किया। लगभग सभी तत्कालीन कवियों ने देश के लिए 'बलि' हो जाने की इस प्रवृत्ति के काव्य रचे।'²⁰

नाथूराम शर्मा 'शंकर', रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, ठाकुरप्रसाद शर्मा, बदरीनाथ भट्ट, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' की रचनाओं में राष्ट्रहित-हेतु बलिदानी प्रवृत्ति की हुंकार है—

काया अमर है यह नहीं, कर्तव्य के फिर समर से,
क्यों भागता है मूढ़ तू, यों भी न क्या मर जाएगा?
निज देश-हित अनुरक्त हो, हित साध दोनों लोको का,
होगा अमर इहलोक में, परलोक में तर जाएगा।²¹

—'सनेही', राष्ट्रीय वीणा

माखनलाल चतुर्वेदी के काव्य-संग्रह 'हिमकिरीटनी' में संगृहीत 'बलिपंथी', 'मरण त्योहार' तथा 'विद्रोह' कविताओं में देश पर प्राण उत्सर्ग करने की चाह परिलक्षित होती है। इस प्रकार स्वाधीनता-आंदोलनकाल में भारतेंदु और द्विवेदीकाल के कवियों ने अपनी रचनाओं में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति कर जनमानस को आंदोलित किया। राष्ट्रीयता के भाव से लबरेज रचनाएँ परवर्ती काल में भी निरंतर होती रहीं और परतंत्रता से मुक्ति का स्वर जाज्वल्यमान करती रहीं। जनमानस ने इन रचनाकारों द्वारा प्रदान की गई राष्ट्रीय रचनाओं को अपना जीवन-लक्ष्य निर्धारित किया और वह नवराष्ट्रीय अभ्युत्थान हेतु सजग हुआ।

संदर्भ

1. हिंदी-पत्रिकाओं में राष्ट्रीय चेतना, डॉ० बी०बी० जोशी, पृ० 16
2. हिंदी-कविता में युगांतर, डॉ० सुधींद्र, पृ० 170
3. हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, डॉ० के०के० शर्मा, पृ० 10
4. हिंदी-साहित्य : उद्भव एवं विकास, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० 257
5. आधुनिक हिंदी-कविता में राष्ट्रीय चेतना (स्वच्छंदतावाद के विशेष संदर्भ में), प्रोफ़ेसर ऊजोकिम, पृ० 19
6. छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना, रवींद्रनाथ दरगन, पृ० 55
7. छायावादी काव्य में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना, रवींद्रनाथ दरगन, पृ० 55
8. हिंदी-कविता में राष्ट्रीय भावना, विद्यानाथ गुप्त, पृ० 13
9. हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, डॉ० क्रांतिकुमार शर्मा, पृ० 19
10. हिंदी-पत्रकारिता, डॉ० कृष्णबिहारी मिश्र, पृ० 59-60
11. राष्ट्रीय चेतना और हिंदी-कविता (आधुनिक हिंदी राष्ट्रीय काव्यधारा : राष्ट्रीयता और मानवतावाद, डॉ० नरेश मिश्र, पृ० 20
12. भारतीय कविता में राष्ट्रप्रेम, डॉ० अर्जुन सतपथी, पृ० 171
13. राष्ट्रीय कविताएँ, संपादक नरेश चतुर्वेदी, पृ० 9
14. बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, संपादक डॉ० नत्थनसिंह, पृ० 242
15. बालमुकुंद गुप्त ग्रंथावली, संपादक डॉ० नत्थनसिंह, पृ० 243
16. भारतेंदुकालीन हिंदी-साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, डॉ० कमला कनोड़िया, पृ० 131
17. हिंदी-पत्रिकाओं में राष्ट्रीय काव्य-चेतना, डॉ० बी०बी० जोशी, पृ० 42
18. हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीय काव्य का विकास, डॉ० क्रांतिकुमार शर्मा, पृ० 171
19. भारत भारती, मैथिलीशरण गुप्त, पृ० 46
20. द्विवेदीयुगीन काव्य, डॉ० पूनमचंद्र तिवारी, पृ० 195
21. पूर्व स्वतंत्रता कविता में राष्ट्रीय एकता, डॉ० कृष्ण भावुक, पृ० 81

नागार्जुन कृत 'हीरक जयंती' उपन्यास में नेताओं का रूप-स्वरूप

कुलदीप

प्रोजेक्ट फेलो, हिंदी विभाग

महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक

उपन्यासकार नागार्जुन ने 'हीरक जयंती' में भ्रष्ट राजनेताओं की घृणित कार्यवाहियों एवं गतिविधियों का संपूर्ण लेखा-जोखा प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। इन राजनेताओं ने अपने प्रभाव द्वारा अपने सभी रिश्तेदारों अथवा चाटुकारों को महत्त्वपूर्ण पदों पर विराजमान कर रखा है। उत्पादन, वितरण, शिक्षा, प्रेस आदि सभी उपकरण इन्हीं राजनेताओं के संरक्षण में फल-फूल रहे हैं। उपन्यासकार नागार्जुन ने उपन्यास के आरंभ में ही नेताओं के भ्रष्ट स्वभाव का उल्लेख किया है। कवि मृगांक अभिनंदन समारोह का उल्लेख करता है।

इस संदर्भ में मनसाराम कहता है कि 'जाएँगे कहाँ? मृगांक 'ना' कर देगा तो दूसरा फिर कौन 'हाँ' करेगा? अभिनंदन का प्रसंग छिड़ते ही किस मिनिस्टर की जीभ लार नहीं टपकाती! भ्रष्ट राजनीति की स्पष्ट छाप कवि मृगांक की मानसिकता पर देखी जा सकती है। लेकिन मृगांक की मानसिकता भ्रष्ट नेताओं की रुग्ण राजनीति का शिकार हो गई है। अतः इसी कारण वह भी राजनीतिज्ञों की भाँति पैसों की उधेड़बुन में उलझा रहता है एवं धन प्राप्त करने का इच्छुक है। यथा—

'बारह बजे साठ। साठ सौ रुपए। कम नहीं होते हैं साठ सौ रुपये। साल-भर में इतनी कमाई तो दस उपन्यास भी नहीं कर सकते हैं।'²

केवल कवि मृगांक ही रुग्ण मानसिकता का शिकार नहीं है, बल्कि सभ्य और सुसंस्कृत कहे जानेवाले सफ़ेद पोशाकधारी राजनीतिज्ञ भी इससे अछूते नहीं हैं। इनकी मानसिकता इस स्तर तक संकुचित हो गई है कि उनका ध्यान विकास-कार्यों की ओर न होकर केवल अर्थोपार्जन करना ही बन गया है। यथा—

'ऑफिसरों, नेताओं और व्यापारियों की फुसफुसाहट, गिनते समय नोटों की सरसराहट, चाय की प्यालियों की खनखनाहट, सिगरेट का धुँआ, जर्दा और किवाम के साथ चबाए हुए पान की सुर्ख-चमकीली पीक, एक चोर और चालीस अलीबाबा...।'³ आपूर्ति विभाग द्वारा अकाल पीड़ित जनता के लिए गेहूँ उपलब्ध करवाया गया है, लेकिन नेताओं और अफसरों की मिलीभगत से उस अनाज की खपत जनता तक पहुँचने से पहले ही हो जाती है। नागार्जुन ने इन भ्रष्ट नेताओं को 'डाकू' शब्द से विवेचित किया है। यथा—

'अनाज की बोरियों से लदी गाड़ियों को अँधेरे में डाकू लेंगे। ... लदी हुई नावे डूब

जाएँगी।.....⁴

इस प्रकार झूठे सबूत बनाकर ये नेता आपूर्ति विभाग को लाखों की चपत लगाते हैं और मासूम एवं पीड़ित जनता के साथ खिलवाड़ करते हैं। उपन्यासकार का ऐसे नेताओं के प्रति गहन आक्रोश है। ये नेता लोग अपने आदर्शों और आचरण से इतने गिर चुके हैं कि सार्वजनिक निधि को अपने प्रयोग में लाना बुरा नहीं समझते हैं। बाबू नरपतनारायण का यह कथन—

जिनके जीवन का दीप हमेशा ही औरों के लिए जलता रहा, ऐसे कार्यकर्ता निर्लिप्त भाव से यदि सार्वजनिक निधि में से सौ-पचास रुपए लेते चलें तो इसमें बुराई कैसी?⁵ यदि हमारे नेताओं का यही हाल रहा तो वह दिन दूर नहीं, जब संपूर्ण देशवासियों का विश्वास इन नेताओं पर से उठ जाएगा और चारों ओर अराजकता का माहौल उत्पन्न हो जाएगा। ऐसी स्थिति में प्रशासनिक इकाई भी निष्ठापूर्वक एवं स्वतंत्र रूप से अपना कार्य नहीं कर सकती है।

इस प्रकार राजनेताओं का शासकीय मशीनरी पर भी राजनीतिक प्रभाव देखा जा सकता है। बाबू नरपतनारायण सिंह को किसी विभाग के डायरेक्टर से मतभेद होने की शंका हुई तो 'बाबू जी ने विगाभीय सेक्रेटरी पर जोर डालकर एडिशनल डायरेक्टर का पद कायम करवा दिया और पीछे उस पर नगेन्द्र (मंत्री का पुत्र) का एक साथी बैठा दिया।⁶ नेताओं का मुख्य उद्देश्य साधारणजन को अपने लुभावने वायदों और विभिन्न राजनीतिक प्रपंचों में उलझाकर चुनाव जीतना है। चुनाव-पूर्व किए गए वायदों को ताक पर रखकर दोनों हाथों से धन बटोरना ही इनका प्रमुख कार्य रह गया है। बाबू ब्रजबिहारी घोष कोशी-क्षेत्र से निर्वाचित एम०एल०ए० हैं। अतः धन-उपार्जन के संदर्भ में उनका कहना है कि 'लाभ का मौका सामने हो तो ब्राह्मणों को राजनीति-फाजनीति सब भूल जाती है। उनका तो बस नारा ही है : 'चरैवेति-चरैवेति', यानी 'खूब चरो-खूब चरो!' और उन्हें पत्तों से ही संतोष नहीं होता, डंठल और छाल तक चबा डालते हैं।⁷

इन काँग्रेसी नेताओं का मुख्य उद्देश्य जनसाधारण से वोट प्राप्त कर विधानसभा में पहुँचकर अपनी तिजोरी भरना है। साधारण जनता के कष्टों से अनभिज्ञ ये नेता अपनी सुख-सुविधाओं के प्रति अत्यधिक आश्वस्त प्रतीत होते हैं। बाबू रामप्यारे प्रसाद विधानसभा में पहुँचने से पहले मधुर स्वप्नों का खाका तैयार करते हुए कहते हैं, 'राजधानी के निकट ही संभ्रांत नागरिकों की एक नयी बस्ती में आधुनिक सुविधाओं से सुसज्जित नया मकान होगा। फोन, एयर-कूलर, रेफ्रिजरेटर, रेडियोग्राम, टेपरिकार्डर तो रहेंगे ही। कार भी रहेगी।' ⁸

समाज और देश को इन नेताओं ने किसी न किसी प्रकार से अपने प्रयोग हेतु कृपापात्र बना रखा है। वे सभी कृपापात्र जीव बाबू जी का गुणगान करते नहीं थकते हैं। हीरक जयंती स्वागत-समारोह में मंजुमुखी बाबू जी के सम्मान में बोलती हुई कहती है कि, 'बाबूजी के बारे में मैं भला क्या कहूँ? वह तो मेरे राजनीतिक गुरु हैं। आज मैं जो भी कुछ हूँ, सब उन्हीं की कृपा का फल है....।'⁹

नरपत बाबू भी स्वागत-समारोह में बाबू जी के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने से नहीं चूकते हैं। उनका कहना है— 'मेरे-जैसा अदना आदमी आपकी श्रद्धा-भक्ति का भाजन

हो ही नहीं सकता था, अगर बापू का जादूभरा संपर्क मुझे नहीं मिलता। पारस का संपर्क मामूली से मामूली लोहे को सोना बना डालता है।¹⁰

ये नेतागण अपने कार्यकाल की अल्पावधि में ही करोड़ों के आसामी बन जाते हैं। वहीं दूसरी ओर ग़रीब जनता दाने-दाने को मोहताज है। इस प्रकार एक ओर नेता एवं उनके गुर्गे धनाढ्य होते जा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर वे देश व ग़रीब जनता को अंधकार के गर्त में धकेल रहे हैं। हीरक जयंती नामक उपन्यास में धर्मराज दुर्गादास विभिन्न हथकंडों को अपनाने के मामले में पीछे नहीं है। यथा—

‘यही दुर्गादास चार साल में पाँच लाख की हैसियत वाले बन जाते हैं। ये अपने पद का इस्तेमाल कर कोटा का न्यूजप्रिंट कागज़ भी बेचकर खा जाते हैं और उन्होंने दो नामों पर एक ही प्रेस चला रखा है। टाइप फ़ाउंड्री भी चला रखी है। देहात में ईंटों के भट्टों का कारोबार है। चार ट्रक, उन्नीस रिक्शो। उदीयमान ठेकेदारों में से एक हैं ये।¹¹

इस अपवित्र भ्रष्टाचार के यज्ञ में हमारे नेताओं के साथ-साथ हमारा व्यापारी-वर्ग भी कम योगदान नहीं दे रहा है। वह भी राजनेताओं के साथ मिलकर भारतीय अर्थव्यवस्था को क्षीण बनाने पर तुला हुआ है। अपने व्यक्तिगत लाभ हेतु वह राजनेताओं को खुश करने में जुटा हुआ है।

इस संदर्भ में बाबा नागार्जुन ने सेठ पूनमचंद जी से कहलवाया है कि, ‘व्यापारी का क्या कसूर है, अग्रवाल साहब? हमारा व्यापारी समाज तो सर्वोदय को अपना आदर्श मानता है। सबका उदय होगा तो हम भी उपर उठेंगे न? हम किसी को नाराज़ नहीं करते हैं। काँग्रेसी सोशलिस्ट, प्रजा, समाजवादी, कम्युनिस्ट, जनसंघी, स्वतंत्र पार्टी वाले.....कौन नहीं हमसे चंदा ले जाता है ? बंदरों को चने हम खिलाएँ, चींटियों को चीनी हम चटाएँ, कबूतरों को दाना हम डालें.....किसको हम ‘ना’ करते हैं। आपने जब जहाँ इशारा किया, हमने दस-पाँच हजार डाल दिए। नहीं साहब?¹² इसी कारण व्यापारियों और राजनेताओं की मिलीभगत से दोनों को अत्यधिक लाभ होता है।

इस संदर्भ में बाबू का यह कथन है— ‘ठीक ही तो कहते हैं सेठ पूनमचंद जी। अभी दो-तीन वर्ष पहले युनिवर्सिटी के जुबली समारोह में अग्रवाल साहब ने पचास हजार दिए थे। दो लाख औरों से दिलवा दिए थे। विभिन्न संस्थाओं को अब तक वह लाखों दे चुके हैं और करोड़ों दिलवा चुके हैं।¹³ राजनीतिज्ञों और व्यापारियों के मधुर संबंधों के चलते लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि उनकी तिजोरियों पर इसी तरह बनी रहेगी। इस संबंध में रामनिरंजन सेठ पूनमचंद को आश्वस्त करता हुआ कहता है कि, ‘बेशक मेरी ही नहीं, आपकी ही नहीं, देश में जितने भी बनिये हैं, सभी को लाभ पहुँचा है, सभी की तरक्की हुई है। यूँ, हमारे वर्ग में रोने-झींकने वालों की कमी नहीं है, लेकिन आज कौन व्यापारी कहेगा कि वह अनाथ है, बे-आसरा है?¹⁴

हीरक जयंती उपन्यास में किसी प्रकाशक ने मंत्री जी की महिमा के गुणगान हेतु उनके नाम से पुस्तकों की एक शृंखला निकाली, तो मंत्री जी का आशीर्वाद उनकी उपेक्षा कैसे कर सकता था। यथा— ‘एक परमार्थी प्रकाशन ने आपके नाम पर दो पैसे वाली पुस्तिकाओं की ‘लोकोपयोगी’ सिरिज ही चला दी तो माननीय मंत्री जी का चित्त मैत्री और मुदितावृत्तियों से विगलित हो उठा और किताबों का यह सौदागर कपड़ा और चीनी का क्षेत्रीय लाइसेंसदार

बनकर निहाल हो गया। आपके बड़े बबुआ के नाम पर बालीगंज (कलकता) में दो फ़्लैट उसने चोरबाजारी के उस पहले दौर में ही ले लिए थे....।¹⁵

इस प्रकार उपन्यासकार नागार्जुन ने अपने उपन्यास हीरक जयंती में नेताओं के विकृत रूप का अत्यंत सशक्त शब्दों में भंडाफोड़ किया गया है। इस तरह लेखक ने देश, समाज और लेखकीय कर्तव्य को पूरी तरह निभाकर आम नागरिकों एवं लेखकों के सामने एक आदर्श स्थापित किया है।

संदर्भ

1. नागार्जुन, हीरक जयंती, पृ० 9
2. नागार्जुन, हीरक जयंती, पृ० 9
3. वही, पृ० 53
4. वही, पृ० 58
5. वही, पृ० 107
6. वही, पृ० 103
7. वही, पृ० 56
8. वही, पृ० 60
9. वही, पृ० 116
10. वही, पृ० 116
11. वही, पृ० 25
12. वही, पृ० 96
13. वही, पृ० 95
14. वही, पृ० 96
15. वही, पृ० 108

□ पुत्र श्री सुबेसिंह
गाँव व डाक चांग
ज़िला व तहसील भिवानी (हरियाणा)

जनवादी चेतना के संदर्भ में पर्यावरण का महत्त्व

अर्चना शुक्ला, शोध छात्रा
प्रो० वेदव्रत शर्मा, शोध निदेशक
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र (हरि०)

प्रकृति स्वयं में नित्य, शाश्वत और चिर सुंदर है और सदैव मनुष्य की सहचरी रही है, किंतु जब मनुष्य ने अपने हित के लिए प्रकृति का दोहन आरंभ किया तो कठिनाई उत्पन्न हो गई और अनेक दुष्परिणाम सामने आए।

वर्तमान समय में बढ़ती औद्योगिकता, वैज्ञानिक प्रगति एवं उपभोक्तावादी बाजार ने प्राकृति के सौंदर्य को नष्ट कर दिया है, जिससे सामान्य व्यक्ति ही नहीं, साहित्यकार भी इस ख़तरे से प्रभावित और चिंतित हुए हैं। चूँकि साहित्य अपने समकालीन परिवेश से ही दिशा ग्रहण करता है, इसलिए साहित्य में पर्यावरण-चिंतन की भावना अपने आप ही रूप ले लेती है। पर्यावरण-चिंतन की विचारधारा पर्यावरण-संरक्षण के विचार के साथ ही जन्म लेती है। हिंदी नाट्य साहित्य में भी पर्यावरण-चिंतन और पर्यावरण-संरक्षण से संबद्ध कथावस्तुओं पर आधारित नाटकों की रचना की जा रही है।

श्री भगवानसिंह कृत 'शकुंतला का द्रोह' नाटक शकुंतला-दुष्यंत की मिथकीय कथा को आधुनिक दृष्टि से प्रस्तुत करता है। यह नाटक पर्यावरण-संकट से होने वाली हानियों के साथ-साथ पेड़-पौधों की रक्षा तथा वन्यजीव-संरक्षण की आवश्यकता से दर्शक/पाठक का परिचय करवाता है। 'कालिदास के कालजयी नाटक 'अभिज्ञान शकुंतलम्' की शकुंतला-दुष्यंत वाली मिथकीय प्रेम-कथा को शाप और अँगूठी के पौराणिक चक्कर से निकालकर नाटककार ने उसे समसामयिक भाव-बोध और आज की प्रदूषण-जैसी ज्वलंत समस्या से बड़ी कुशलतापूर्वक जोड़ दिया है।'¹

नाटक में कण्व ऋषि के आश्रम में पली-बढ़ी शकुंतला वन-संस्कृति की प्रतीक है और राजसत्ता का प्रतिनिधि दुष्यंत नागर सभ्यता का प्रतीक है। प्रकृति की गोद में पलनेवाली शकुंतला वन में रहनेवाले पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों से प्यार करती है, किंतु दुष्यंत उन्हें उपभोग की वस्तु समझता है।

शकुंतला : ... हमें तो बाल्यकाल से यही शिक्षा दी गई है कि मनुष्य जो कुछ भी है, वह प्रकृति की अनुकंपा है, इसलिए हमें प्रत्येक प्रकृति-प्रदत्त वस्तु का समादर करना चाहिए, उससे रागात्मक संबंध रखना चाहिए और उसकी रक्षा के लिए हर क्षण तत्पर रहना चाहिए। क्या आपके नगर-राज्य में ऐसी शिक्षा का चलन नहीं।

दुष्यंत : अपनी प्रिया की प्रसन्नता के लिए मैं सब-कुछ करूँगा.....किंतु प्रकृति-प्रेम को मानव-प्रेम से अधिक महत्त्व देने का क्या औचित्य! प्राकृतिक उपकरण तो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैं, फिर उनका उपभोग करना तो अनुचित नहीं। प्रकृति पर प्रभुत्व तो मानव-विकास का प्रमुख आधार रहा है।

शकुंतला : तो क्या आप भी उन पेड़ काटने वालों की भाँति प्रकृति को केवल उपभोग की वस्तु समझते हैं।

दुष्यंत : हाँ शकुंतले! जीवन का अर्थ ही है भोग करना, और प्रकृति का अर्थ है इस भोग कार्य में अधिक-से-अधिक सहायक होना।²

शकुंतला और उसके सहभागी आश्रमवासियों का प्रकृति से अभिन्न संबंध है। पेड़, पशु-पक्षी, नदियाँ इनके जीवन से जुड़े हुए हैं। इसलिए शकुंतला के प्रेम में डूबा हुआ दुष्यंत शकुंतला के आग्रह पर पेड़ों के काटने, पशु-पक्षियों के शिकार पर प्रतिबंध लगा देता है, किंतु अमात्य परिषद् को यह प्रतिबंध नागर-जीवन और राजकीय विलासमय रहन-सहन के लिए प्रतिकूल लगने लगता है।

अमात्य : ...जब हम जीवों की हत्या रोक देंगे, तब हमारे सैनिकों को पुष्ट आहार कैसे मिलेगा? शाकाहार ऋषि-मुनियों के लिए बहुत उत्तम है, पर सैनिकों का काम तो शाक-पात से चलेगा नहीं। उन्हें बलशाली एवं पुष्ट रखने के लिए सामिष भोजन नितांत आवश्यक है। उन्हें ही क्यों, हमारे महाराज को भी सामिष भोजन का त्याग नहीं करना चाहिए। निर्बल राजा और सैनिक राज्य की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते, और जब राज्य सुरक्षित नहीं रहेगा, तब प्रजा कैसे निरापद रह सकती है।हमारे नगर जीवन की अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति तो वन-संपदा से ही होती है। ईंधन, भवन-निर्माण, साज-सजावट, विहार-विश्राम आदि के सारे उपकरण तो हम वन-संपदा से ही प्राप्त करते हैं। यदि वनस्पतियों को न काटा जाय, तो हमारा सभ्य जीवन दूभर हो जाएगा।³

अमात्य की ये 'राज्य कल्याणार्थ' की बातें दुष्यंत को धर्मसंकट में डाल देती हैं और उसका पुरुषोचित अहंकार उसे अपना निर्णय बदलने को बाध्य करता है— 'विचित्र दशा है मेरी! क्या सचमुच, शकुंतला के प्रेम ने मुझे विवेक-भ्रष्ट कर दिया अमात्य परिषद् ने आज तक, मेरे किसी निर्णय पर आपत्ति नहीं की थी।.....इस आपत्ति के पीछे उनका भी अपना कोई स्वार्थ नहीं। वे तो राज्य और प्रजा का मंगल चाहते हैं। वास्तव में, सामिष आहार के अभाव में हमारे सैनिक दुर्बल हो जाएँगे.... वन से लकड़ियों का आयात न होंगे, तो हमारे नगर जीवन की आवश्यकताओं का क्या होगा।..... इस वनकन्या ने तो मुझे अपने रूप-सौंदर्य से दिग्भ्रमित कर दिया। प्रजा क्या कह रही होगी।.... यही कि दुष्यंत की बुद्धि, पराक्रम को एक नारी ने वश में कर लिया। पुरुवंशी दुष्यंत एक स्त्री का दास बन गया।.... अमात्य-प्रवर ने सत्य कहा है कि राजसत्ता की भाषा करुणा की नहीं, शक्ति की होती है, राज्य-संचालन के लिए हाथों

में कमलनाल नहीं, धनुष-बाण होना चाहिए।..... कोई विकल्प नहीं!’⁴ यहाँ दुष्यंत अपने अंतर्मन में चलने वाले विचारों के द्वंद्व से घिरा हुआ है। दुष्यंत द्वारा प्रतिबंध हटा लेने से शकुंतला का मन आहत होता है। वह छला हुआ महसूस करती है। ‘तुम्हारी सभ्यता में विवाह दो व्यक्ति-मनों का मेल समझा जाता है। वन-संस्कृति और नगर सभ्यता के मध्य एक संतुलन स्थापित करने के ध्येय से, एक सशक्त माध्यम बनने हेतु मैंने यह परिणय-सूत्र स्वीकार किया था। विवाह से पूर्व महाराज ने संयोगवश ऐसा भाव भी दिखाया, जिससे मुझे दो जीवन-दृष्टियों में अंतःसंगति स्थापित करने की संभावना दिखाई दी थी।’⁵

मधुमीता को कहा गया शकुंतला का यह संवाद उसके दुःखी मन को अंकित करता है, जहाँ वह छला हुआ महसूस कर रही है। उसे अपने अस्तित्व को नकारा जाना स्वीकार नहीं है। राजा की पत्नी या राजकुल की वधू होते हुए भी उसके निर्णय की कोई महत्ता नहीं रहती। उसका आक्रोश उसे दुष्यंत से विद्रोह करने को विवश करता है। वह दुष्यंत के उपहारों का तिरस्कार करती है। दुष्यंत उसे आभूषणों का मोह देता है, किंतु वह अपने विचारों पर अडिग रहती है।

शकुंतला : महाराज शकुंतला का तिरस्कार करें, तो उचित! पर शकुंतला उनके उपहारों की अवहेलना करे, तो अनुचित है! यह कैसा न्याय है एक राजा का!

दुष्यंत : मैंने तुम्हारा कब तिरस्कार किया, शकुंतले! मैं तो सदैव चकोर की भाँति तुम्हारे चंद्र-वदन की ओर टकटकी लगाए रहता हूँ....स्त्रियों को आभूषण तो अत्यंत प्रिय रहे हैं, विचारों से भी अधिक!

शकुंतला : महाराज! अब मुझे नहीं छल सकता आपका कोमल शब्द-विन्यास! ..केवल हाड़-मांस निर्मित शरीर का नाम नहीं है शकुंतला।.... उसकी कुछ भावनाएँ भी हैं, कुछ विचार भी हैं उसके! और जब व्यक्ति के विचारों की उपेक्षा हो, तब आभूषणों से उसके शरीर को सजाना किसी शव को अलंकृत करने जैसा है।’⁶

शकुंतला दुष्यंत के प्रेम में अपनी जन्मभूमि वन-प्रदेश के प्रति कर्तव्य को नहीं भूलती है। वहाँ के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी पर सैनिकों द्वारा किए गए अत्याचार उसे असहनीय हैं।

दुष्यंत : ... वन-प्रांत के जीव-जंतु, वनस्पति-संपदा ये सब हमारे राजकीय जीवन के लिए उपभोग की वस्तुएँ हैं। उन्हें संरक्षण देना, राजकीय जीवन को संकटग्रस्त करना है.... हमारे लिए प्राथमिकता राजकीय जीवन की आवश्यकताओं की है। तुम्हारे जीव-प्रेम, प्रकृति-प्रेम के मार्ग पर चलकर हमारे राज्य का मंगल नहीं हो सकता। तुम क्यों नहीं समझती कि प्राकृतिक संपदा मनुष्य के उपभोग के लिए है, और इनके साथ करुणा, मैत्री का संबंध-निर्वाह करने में हम असमर्थ हैं।.... तुम्हारे वन-प्रदेश जैसे पिछड़े समाज के हित के लिए कोई भी विकसित समाज अपने को पिछड़ा बनाने की मूर्खता नहीं करेगा। हमारा हित वन-प्रांत के उपभोग में है, इसके साथ कोई समझौता नहीं हो सकता।

शकुंतला : आज आपके अंदर उन्नत समाज का दर्प-भाव जाग उठा है। एक समय

वनकन्या की सरलता पर समस्त राजकीय वैभव को न्यौछावर कर देने की बात करनेवाला व्यक्ति श्रेष्ठता के अंधकार से ग्रस्त हो गया। कितनी विचित्र बात है। तो फिर, आपके साथ पिछड़े समाज की इस स्त्री के रहने का क्या औचित्य?... आप रहिए प्रसन्न अपने उन्नत समाज में, और मुझे-जाने दीजिए वन-प्रांत में! ⁷

यहाँ शकुंतला और दुष्यंत का वार्तालाप दोनों के मध्य जनवादी संघर्ष को स्पष्ट करता है, जो प्राकृतिक वातावरण के संरक्षण से सम्बंधित है। साथ ही स्त्री-पुरुष संबंधों का संघर्ष भी यहाँ दिखाई देता है। दुष्यंत स्त्री होने की सार्थकता सुंदरता और शारीरिक सुख भोग में मानता है, जबकि शकुंतला नारी के स्वतंत्र अस्तित्व की हिमायती है। वह दुष्यंत के निर्णय का प्रतिवाद करती है और ऐसी पाठशाला का नियमन करना चाहती है, जहाँ प्रकृति से प्रेम और उनके संरक्षण की शिक्षा दी जा सके।

दुष्यंत : (खिन्नता से) तुम सदैव मेरी दृष्टि में एक स्त्री, सुंदर स्त्री रही हो, और हम यही जानते हैं कि स्त्री होने की सार्थकता शारीरिक सुख भोगने में है! किंतु! तुम्हारा तो आदर्श तपोवन का जीवन-दर्शन बना हुआ है!... तो मैं भी केवल तुम्हारी प्रसन्नता के लिए न तो राजकुल की परंपराओं का परित्याग कर सकता हूँ, न ही अपने राज्य को तपोवन में परिणत कर सकता हूँ।

शकुंतला : (उत्तेजित होकर) वाह रे महाराज!..... सचमुच, मनुष्य में कैसे-कैसे परिवर्तन होते हैं! शकुंतला का प्यार पाने के लिए कितना विनती समर्पित जीव बन गया था वह व्यक्ति!..... किंतु राजमद के प्रभाव में सब-कुछ भूल गया। राजमुकुट का ऐसा चमत्कार!.... पर मैं भी इस राजमद का प्रतिवाद करूँगी, उसका परिणाम जो भी हो! ⁸

शकुंतला के राजमहल छोड़ देने के पश्चात् प्रजा की सहानुभूति उसके साथ होती है। प्रजा 'वसंतोत्सव' का आयोजन का बहिष्कार करती है। इस स्थिति में दुष्यंत के मन में पुनः राजधर्म और व्यक्तिगत अनुभूति को लेकर संघर्ष होता है। वह यह समझ जाता है कि प्रेम और करुणा की भाषा शक्ति की भाषा से श्रेष्ठ होती है। वह यह भी स्वीकारता है कि शकुंतला जैसी वनवासी स्त्री का राजकीय नीतियों के निर्धारण में हस्तक्षेप राजपुरुषों के अहंकार को आहत कर रहा था, जिस कारण शकुंतला के विचारों की अवहेलना की गई। दुष्यंत विचारों के इस द्वंद्व से मुक्ति पाने के लिए तपोवन में ऋषि कण्व से मिलने जाते हैं। ऋषि कण्व वन के संरक्षण के साथ और उसके लगातार भक्षण से होने वाले दुष्प्रभावों की ओर दुष्यंत का ध्यान आकर्षित करते हैं।

कण्व : महाराज! राज्य है तो मनुष्य के लिए ही ना!.... चिंता मनुष्य की होनी चाहिए, न कि राज्य की। आपके मानस में चिंता केवल राज्य की है, इसलिए आप शकुंतला के मनोभावों को समझने में असमर्थ रहे! शकुंतला या हमारा यही आग्रह है कि जीव-जंतु, पेड़-पौधे सबकी यथासंभव रक्षा हो... किंतु आप लोग राजकीय शक्ति एवं वैभव की

वृद्धि के लिए सबका भक्षण करना चाहते हैं।... कभी सोचा है कि क्या परिणाम होगा इस असीम भक्षण-प्रवृत्ति का!... जिस भक्षण-प्रवृत्ति को राज्य-प्रबंध द्वारा प्रोत्साहित किया जा रहा है, वही एक दिन मानव-अस्तित्व के लिए संकट का कारण बनने वाली है... और तब पता नहीं आपका राज्य किसके लिए अस्तित्वमान रहेगा।⁹

ऋषि कण्व दुष्यंत और अमात्य को अपने साथ वन-भ्रमण के लिए ले जाते हैं। वहाँ हरे-भरे पेड़ पौधे, कलरव करते पक्षियों को देखकर मन जहाँ आनंदित हो उठता है, वहीं पेड़-पौधों से रहित निर्जन प्रदेश और खाल के लिए मारे गए पशुओं के शव देखकर मन तिकता से भर जाता है। ऋषि उन्हें इस बात से अवगत कराते हैं कि यदि इसी प्रकार से नगरवासियों की प्रसाधन-सामग्री के लिए, खाल उपलब्ध करने के लिए विविध जीव-जंतुओं और पेड़-पौधों को विनष्ट किया गया तो आने वाली पीढ़ी को रमणीय दृश्यों से वंचित रहना पड़ेगा।

कण्व :यदि राज्य एवं नगर की आवश्यकताओं के नाम पर, इसी गति से वन-संपदा का दोहन होता रहा.... तो वे वनस्पतियाँ भी नहीं रह पाएँगी, जिन्हें देखकर आपका मन-मयूर नाच उठा था। जिन पक्षियों के कलरव, मृगों के स्वच्छंद विचरण ने आपके चित्त को आह्लादित कर दिया था, वे भी नहीं रह जाएँगे!.... और फिर, भावी संतति जब पूछेगी कि देवदार के वृक्ष कैसे होते हैं.... पलाश, केतकी, कुटज, कदंब के फूल कैसे होते हैं, मृग, बाघ, सारस, मयूर, चक्रवाक आदि कैसे होते हैं, तब उन्हें दिखाने के लिए कुछ नहीं शेष रह जाएगा!.... सर्वत्र दृष्टिगोचर होगा मरुस्थल, जहाँ मनुष्य के लिए देखने, सुनने, खाने-पकाने, सबके लिए रह जाएगा केवल मनुष्य! ¹⁰

यह संवाद आज के समय की स्थिति को दर्शाता है, जहाँ बाघ, शेर आदि पशु अनेक पक्षी लुप्त होने वाली प्रजातियों में हैं, जिनके संरक्षण के लिए कई योजनाएँ शुरू की गई हैं।

ऋषि कण्व द्वारा मनुष्य की अपरिमित भक्षण-प्रवृत्ति की भावी परिणति की ओर ध्यान दिलाने पर दुष्यंत वन-संरक्षण के हेतु जाग्रत होता है और शकुंतला के सुझाव पर राज्य एवं वन-प्रांत से समान अनुपात में प्रतिनिधियों को लेकर संयुक्त परिषद् गठित करने का निर्णय लेता है, जो वन-संरक्षण सम्बंधित चेतना का प्रसार कर सके।

प्रदूषण सिर्फ भारत की राष्ट्रीय समस्या नहीं, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय समस्या के रूप में उभरा है। चिरंजीव का 'नया मन्वंतर' इसी समस्या को लेकर लिखा गया है। इस नाटक का प्रमुख विषय प्रदूषण जहाँ उसे समस्या-प्रधान बनाता है, वहीं वैज्ञानिक उपकरणों के दृश्य उसे वैज्ञानिक बनाते हैं तथा यंत्र-लोक की योजना इस नाटक को कल्पना-प्रधान बनाती है। स्वयं चिरंजीव ने इसे 'कल्पना-प्रधान नाटक' कहा है— '....प्रस्तुत नाटक का कथानक पृथ्वी से लेकर सुदूर-अदृश्य अंतरिक्ष तथा पृथ्वी के एक उपग्रह तक फैला है। भविष्य के विभिन्न घटनास्थलों को एक कथानक में समाहित करने के लिए मैंने कल्पना का सहारा लिया है, इसीलिए मैंने अपने इस नाटक को कल्पना-नाटक कहा है।' ¹¹ इस नाटक के माध्यम से नाटककार ने पर्यावरण-संकट की ओर पाठक/दर्शक का ध्यान डाला है, साथ ही इस समस्या

हेतु उपाय खोजने का प्रयास भी किया है। नाटक की शुरुआत ही अत्यधिक-वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी के कारण पृथ्वीलोक के उन्नत राष्ट्र के ऐसे भयानक संकट में फँसे होने से होता है, जिसका कारण काले धुँए के वे विषैले बादल हैं, जो राष्ट्र पर मौत के साये की तरह छाए हुए हैं। इस विपत्ति का कारण भौतिक सुख-समृद्धि मोह में प्राकृतिक वनस्पति का विनाश है। पर्यावरणवादी के प्रतीक के रूप में आचार्य बृहस्पति ने इन कारणों को स्पष्ट किया है— 'ऑक्सीजन मानव के लिए प्राणवायु के समान है। उसी प्राणवायु को प्रदान करनेवाले वन नष्ट कर दिए गए हैं। वनस्पति नष्ट कर दी गई है। अब ऑक्सीजन की जगह साँस लेने के लिए मानव को मिल रही हैं कार्बन डाइऑक्साइड, सल्फर डायोक्साइड जैसी अनेक विषैली गैसों। आज हमारे राष्ट्र पर जो जहरीला, काला धुआँ छाया हुआ है और जिससे यह महामारी फैली है, वही उन्हीं गैसों का मिश्रण है।'¹² किंतु उनके द्वारा बताए गए कारणों और दिए गए सुझावों को भौतिकतावादी, पर्यावरण-विरोधी विज्ञान-सचिव और उद्योग-सचिव टुकरा देते हैं, क्योंकि उनके लिए वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति ही सब-कुछ है। इस कारण आचार्य बृहस्पति और विज्ञान-सचिव और उद्योग-सचिव के मध्य विरोधी विचारधाराओं को लेकर वैचारिक संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है—

आचार्य बृहस्पति :गैसों का यह घातक मिश्रण मुख्यतया पेट्रोल और डीजल से चलने वाले वाहनों और फैक्ट्रियों से लगातार भारी मात्रा में निकल रहा है। अतः पृथ्वीपति महोदय, इस जहरीले काले धुँए की अविलंब रोकथाम के लिए एक ही उपाय है और वह यह कि आप आज ही एक आर्डिनेंस जारी करके तमाम सड़कों पर कारों, बसों, जीपों, लारियों, ट्रकों, स्कूटरों और ऑटो-रिक्शाओं का चलना रोक दें और तमाम फैक्ट्रियाँ बंद कर दें....।

पृथ्वीपति : (परेशान-सा) नहीं-नहीं। ऐसा आर्डिनेंस जारी नहीं किया जा सकता।

उद्योग सचिव : आपने ठीक कहा, पृथ्वीपति महोदय, अगर कार, ट्रक, स्कूटर आदि वाहनों और फैक्ट्रियों का चलना बंद हो जाए, तो राष्ट्र की समूची सामाजिक, आर्थिक, व्यावसायिक और औद्योगिक प्रगति ही रुक जाएगी।

विज्ञान-सचिव : यही नहीं, राष्ट्र की वैज्ञानिक प्रगति भी रुक जाएगी।

बृहस्पति : (भड़ककर) यह वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति आज मानव की आत्महत्या का पर्याय बन गई है। इस वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति ने ही प्रदूषण फैलाया है।¹³

इस प्रकार यह संवाद स्पष्ट करता है कि वैज्ञानिक और औद्योगिक प्रगति के लिए स्वयं व्यक्ति के जीवन का कोई मोल नहीं है। प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए बृहस्पति द्वारा दिए गए उपायों को अव्यावहारिक कहा जाता है और ज्योतिषाचार्य के मतों को मानकर चंद्रमा से अमृत लाने की बात मान ली जाती है। चंद्रमा से अमृत लाने को प्रो० दिवाकर यान में तकनीकी ख़राबी की वजह से यंत्रलोक पहुँच जाते हैं। वहाँ से वापस पृथ्वी पहुँचने तक के समय में पृथ्वीलोक काले धुँए की चपेट में आकर नष्ट हो जाता है और पुनः नए लोक का निर्माण होता है। प्रलय के बाद बृहस्पति, उषा, प्रभात (दिवाकर का पुत्र), सीमा,

पवित्रानंद, विशुद्धानंद मिलकर नई प्रदूषण-रहित पृथ्वी के निर्माण का संकल्प लेते हैं। दिवाकर यह बात समझ लेता है कि स्वच्छ प्रदूषण ही वास्तविक अमृत है, मनुष्य के विकास के लिए। इस प्रकार दिवाकर जैसा कट्टर भौतिकतावादी वैज्ञानिक भी पर्यावरणवादी हो जाता है। बृहस्पति भी मानव-जीवन में विज्ञान की आवश्यकता को ज़रूरी बताते हैं, किंतु हृदयहीन, अमानवीय यांत्रिकता को मनुष्य के लिए अनिष्टकारी मानते हैं। वह मानव-जीवन और स्वच्छ पर्यावरण के विकास का दायित्व नई पीढ़ी को सौंपते हैं 'सृष्टिकर्ता ने इस नए मन्वन्तर में पृथ्वी पर मानव-जीवन के पुनर्विकास का जो दायित्व मुझे सौंपा था, वह आज मैं तुम्हें सौंपता हूँ, तुम्हारे साथ इस नई पीढ़ी को सौंपता हूँ।' ¹⁴ इसके साथ ही नई, स्वच्छ, प्रदूषण-रहित पृथ्वी की कामना के साथ नाटक समाप्त होता है—

शुभ मुंगल हो नव मन्वन्तर,
मनुज प्रकृति हों एकाकार,
फिर न प्रदूषण से पीड़ित हों
धरती माँ नूतन संसार। ¹⁵

इस प्रकार जनवादी हिंदी-नाटकों में संस्कृति के प्रमुख नियामक तत्त्वों— धर्म, नीति, कला, साहित्यादि को यथास्थान चित्रित किया गया है। आज धर्म-संबंधी रूढ़ मान्यताएँ बदलने लगी हैं और बौद्धिकता पर बल दिया जाने लगा है। नैतिक मूल्यों के ह्रास ने नैतिकता के प्रतिमानों को भुला दिया है। भौतिक प्रलोभनों के कारण कलाकार अवमूल्यन का शिकार हो रहे हैं। जनवादी हिंदी-नाटककारों ने अपने नाटकों में सांस्कृतिक चेतना और नैतिक पतन के इन आयामों को नए और पुराने मूल्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

जनवादी नाटकों में भी पर्यावरण-चिंतन के विभिन्न आयामों की चर्चा की गई है। राजेश जैन कृत 'चिमनी चोगा' पर्यावरण-चिंतन पर आधारित नाटक है। इस नाटक में पर्यावरण से संबद्ध कई प्रकार के वैज्ञानिक तथ्यों को साहित्यिक कलेवर प्रदान किया गया है। मानव-जीवन एवं प्राकृतिक वातावरण के अंतर्संबंध को स्पष्ट करता यह नाटक कई ज्वलंत प्रश्नों को उठाता है। नाटक का प्रारंभ ही प्रतीकात्मक रूप से प्रकृति एवं पर्यावरण-चिंतन को उभारता है। नाटक के कई संवाद प्रेक्षकीय मानसिकता को झकझोरकर रख देते हैं। प्रकृति के साथ अधिक छेड़छाड़ के परिणाम सुखद नहीं होते, इसी बात को लेखक ने प्रतीकात्मक ढंग से मानवी और उसके पापा के बीच के संवाद के माध्यम से स्पष्ट किया है। यहाँ ग्लोब को पृथ्वी का प्रतीक माना गया है—

मानवी : ऐसा नहीं होता था पापा.... ये क्या हो गया.... मेरा ग्लोब भी पिलपिला रहा है। यह पंचर हो गया है। अब यह स्टैंड पर नहीं लग सकता....
घूमेगा भी नहीं ठीक से....।

पापा : हाँ बेटा, ये पृथ्वी ही पंचर हो रही है। जगह-जगह से पूर्व इसमें कई स्थानों पर सूई जो चुभो रहे हैं। इसे गेंद समझकर लतिया रहे हैं हम। मैंने कहा था, इससे खेलो मत....। ¹⁶

मानव और प्राकृतिक पर्यावरण के मध्य उपजा असंतुलन का कारण अत्यधिक वैज्ञानिकता और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि ही रही है। 'चिमनी चोगा' नाटक में कोई कथा नहीं

है, बल्कि पर्यावरण प्रकृति, प्रदूषण से संबंधित हरेक समस्या से पाठक/दर्शक को अवगत कराया गया है। स्वयं लेखक के शब्दों में— ‘नाटक के कथ्य में जो कैनवास था, उसमें मैं पर्यावरण-संबंधित ‘मेक्रो’ एवं ‘माइक्रो’ स्तर को छूना चाहता था। ‘मेक्रो’ से तात्पर्य संपूर्ण विराट ब्रह्मांड जो पाँच तत्त्वों से बना है— हवा, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इन्हीं तत्त्वों से बना है ‘माइक्रो’ स्तर पर आदमी का शरीर। दोनों के पर्यावरण का संतुलन एक-दूसरे से जुड़ा है— पूरक है। इतने व्यापक कथ्य को समेटने की धृष्टता के कारण ही कोई सीधी-सपाट कहानी नहीं बन पायी और न ही देश, काल और कार्य-व्यापार जैसी परंपरागत शर्त ही पूरी हो पायी, पर हाँ...छोटे-छोटे कोलाजों में गुँथा हुआ नाटक अपने-आपमें पूर्ण था।’¹⁷ इस प्रकार यह नाटक पात्रों एवं वस्तुओं को प्रतीकात्मक ढंग से प्रयोग में लाते हुए प्रकृति और पर्यावरण-चिंतन को प्रस्तुत करता है। नाटक में मानवी और उसके ‘पापा’ प्रकृति-प्रेमी हैं। पर्यावरण के प्रति जागरूक व्यक्ति के प्रतीक हैं, जो अपनी बेटी मानवी को ‘ग्लोब’ उपहार में देता है तथा उसे पृथ्वी का ध्यान रखने को कहता है— ‘....लाओ मैं इस फोन को स्टैंड पर लगा दूँ। पृथ्वी को अपनी धुरी पर ही रहना चाहिए। उसे घूमना जो होता है।’¹⁸

वहीं दूसरी ओर के०पी० एक उद्योगपति है, जिसकी मनोवृत्ति प्रकृति-विरोधी है। यह प्रकृति एवं पर्यावरण की हर चीज़ (फूल, उसकी खुशबू) को पैसों से खरीदना चाहता है। वह मानवी जैसी बच्चों को प्रकृति से विमुख कर उन्हें आधुनिक मशीनी खिलौनों की तरफ आकर्षित करना चाहता है। इस कारण मानवी के पापा के विचारों में जनवादी चेतना दिखाई देती है।

के०पी० : फूलों से ही क्या दिल बहलाना। हमें अपनी नई पीढ़ी को कुछ नया देना चाहिए...देखिए ये लोहे के खिलौने।

पापा : ओह, पर ये काफी महँगे हैं।

के०पी० : मशीन से बने हैं— महँगे तो होंगे, पर बच्चों के विकास के लिए हमें भार उठाना होगा।

पापा : माफ़ कीजिए, इन्हें खरीदने के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं।

के०पी० : आपके पास उम्र है, श्रम की शक्ति है, फूल हैं। इन्हें मेरे पास गिरवी रख दें, मेरे लिये काम करें, उधार चुकता रहेगा....ये फूल मुझे दे दीजिए और उन फूलों के बदले ये खिलौने ले लीजिए.... बाद में फूल उगाइये. ... मुझे देते जाइए.... मैं आपको बैटरी देता रहूँगा।

पापा : कोमल पंखुड़ी वाले कुदरती फूलों के बदले ये लोहे के खिलौने।

के०पी० : फूलों की क्या कमी? मैं फैक्टरी में बने फूल ला दूँगा। फूलों की फैक्टरी लगा दूँगा।.... सुगंध की क्या कमी? सेंट लगा दूँगे।.... फैक्टरी के फूल ज़्यादा मजबूत होंगे। हम उनसे इत्र बनाएँगे। इनकी खुशबू को स्थायी तौर पर शीशी में बंद कर अमर कर देंगे।

पापा : ... पर बगीचे में उगने वाले फूलों की तरह नहीं होते वे। न उनमें सुगंध ही होती है और न ही कोमलता।.... चावल और गेहूँ के दाने भी फैक्टरी में क्यों नहीं बना लेते?..... पी०वी०सी० के रंग-बिरंगे दानों से

चावल और गेहूँ फैक्टरी में बनाया जा सकता है, पर उसे खाया नहीं जा सकता। इनको शीशी में बंद करके अमर कर सकते हैं, पर आदमी को अमर नहीं कर सकते हम.....।' ¹⁹ यहाँ प्रकृति को पैसों की नज़र से देखने वाले उद्यमी और प्रकृति-प्रेमी दो विरुद्ध विचारों के प्रतीक व्यक्तियों का वैचारिक संघर्ष है।

यह नाटक पर्यावरण से जुड़ी हुई समस्याओं को दर्शक/पाठक को समक्ष रख उन्हें सोचने पर मजबूर करता है। प्रदूषण से विकृत वातावरण से मानव-मन भी अछूता नहीं रहा है। नाटककार ने मानवीय सोच के साथ जनवादी चेतना को भी प्रस्तुत किया है। नाटककार ने जमादार के माध्यम से शारीरिक के साथ-साथ मानसिक सोच की विकृतावस्था का वर्णन किया है— 'अपने-आपको पढ़ो। अपने शरीर एवं दिमाग के विभिन्न हिस्सों में नियुक्त संवाददाता क्या कहते हैं? क्या तुम्हारे दिमाग के क्षेत्र में धारा एक सौ चवालीस नहीं लगी है? क्या वहाँ उत्पात नहीं। क्या दूषित हवा पानी के साथ विदेशी घुसपैठियों की तरह भयंकर बीमारियों के कीटाणु आपके अंदर आतंक मचा रहे हैं? क्या भूख और सेक्स के कारण संबंधित अंगों में तनाव का आवरण नहीं है?' यहाँ नाटककार ने के०पी० और मानवी के पापा के माध्यम से जनवादी चेतना को अतियथार्थ रूप में उजागर किया है।

युद्ध पर्यावरण को भौतिक और वैचारिक दोनों ही स्तरों पर प्रभावित करता है। दो महायुद्धों और उनमें प्रयुक्त रासायनिक हथियारों के प्रयोग ने न केवल प्राकृतिक अपितु सामाजिक पर्यावरण को भी झकझोर डाला। पर्यावरण और युद्ध के अंतर्संबंध पर कुछेक नाटक लिखे गए हैं। 'अंधा-युग' युद्ध के भयंकर परिणाम, टूटते मानवीय मूल्यों को चित्रित कर भौतिक पर्यावरण के बिगड़ने से होने वाली समस्याओं को हमारे सामने रखता है। आणविक प्रयोगों के घातक परिणाम और भावी समस्या को धर्मवीर भारती ने नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया है—

पृथ्वी पर रसमय वनस्पति नहीं होगी
 शिशु होंगे पैदा विकलांग और कुंठाग्रस्त
 सारी मनुष्य-जाति बौनी हो जाएगी
 जो कुछ भी संचित किया है मनुष्य ने
 सतयुग में, त्रेता में, द्वापर में
 सदा-सदा के लिए होगा विलीन वह
 गेहूँ की बालों में सर्प फुफकारेंगे
 नदियों में बह बहकर आएगी पिछली आग।
 सूरज बुझ जाएगा
 धरा बंजर हो जाएगी।

इस प्रकार जनवादी हिंदी-नाटकों में संस्कृति के प्रमुख नियामक तत्वों—धर्म, नीति, कला, साहित्यादि को यथास्थान चित्रित किया गया है। आज धर्म-संबंधी रूढ़ मान्यताएँ बदलने लगी हैं और बौद्धिकता पर बल दिया जाता है। नैतिक मूल्यों के ह्रास ने नैतिकता के प्रतिमानों को भुला दिया है। भौतिक प्रलोभनों के कारण कलाकार अवमूल्यन का शिकार हो रहे हैं। जनवादी हिंदी-नाटककारों ने अपने नाटकों में सांस्कृतिक चेतना और नैतिक पतन के इन

आयामों को नए और पुराने मूल्यों के माध्यम से प्रस्तुत किया।

निष्कर्ष :

मनुष्य और पर्यावरण का संबंध गहरा है। प्रकृति का संतुलन बनाए रखने के लिए धरती के 33 प्रतिशत भाग पर वनों का होना आवश्यक है। आज ग्लोबल वार्मिंग की तपिश उन इलाकों को भी चुभने लगी है, जहाँ हर तरफ बर्फ ही बर्फ जमी रहती थी। ग्लोबल वार्मिंग के कारण मौसम का मिजाज ऐसा बदला है कि सारी दुनिया हैरान है। आज पर्यावरण को बचाने के लिए प्रदूषण के विरुद्ध रणभेरी बजाने का समय और जन-जन को जगाने की आवश्यकता है। इसी चेतना को लोगों में भरने और नव-प्राण फूंकने के उद्देश्य से 'अमृतलाल बेगड़' ने बंजर नदी की परिक्रमा कर लोगों में नवचेतना का संचार किया। बेगड़ जी स्वयं कहते हैं कि— 'एक ओर हम अपनी धरती को विकृत कर रहे हैं, पर्यावरण को क्षति पहुँचा रहे हैं और नदियों को विषाक्त कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर अन्य देशों के लोग धरती का चेहरा बदल रहे हैं। वे जंगल उगा रहे हैं, नदियों को साफ़ कर रहे हैं और रेगिस्तानों में पानी ला रहे हैं। क्या हम यह नहीं कर सकते? आखिर इस धरती पर हम मेहमान ही तो हैं। हमारे आगमन के समय यह जैसी थी, अगर जाते समय कुछ और अच्छी न बना सकें, तो कम-से-कम खराब करके तो न जाएँ।'

बंजर नदी की परिक्रमा कर अमृतलाल बेगड़ ने बनाया रिकार्ड :

जबलपुर, 9 मई (जबलपुर ब्यूरो), सुविख्यात लेखक, चित्रकार, पर्यावरणवादी अमृतलाल बेगड़ ने 80 वर्ष की उम्र में अपनी पत्नी श्रीमती कांता बेगड़ के साथ नर्मदा नदी की सहायक नदी बंजर की परिक्रमा पूर्ण कर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। नर्मदा परिक्रमा के लिए प्रसिद्ध अमृतलाल बेगड़ ने ऋषि मार्कंडेय द्वारा की गई नर्मदा-परिक्रमा पूर्ण की। इन्होंने यह परिक्रमा बंजर और नर्मदा के संगम-स्थल महाराजपुर (मंडला) से प्रारंभ की, जंगल, गाँव, कान्हा के रिजर्व फॉरेस्ट के मध्य से होते हुए वे और उनके साथी बंजर नदी के उद्गम स्थल बंजारपुर (राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़) पहुँचकर वापस दूसरे छोर से संगम-स्थल महाराजपुर तक पहुँचे। इस यात्रा में उनको उनकी पत्नी कांता बेगड़ जिनकी उम्र 73 वर्ष है, का पूरा साथ मिला। उनके कारवाँ में शामिल लोग यात्रा के बीच छूटते गए, लेकिन पूरी यात्रा में बेगड़ दंपति का हौसला और उत्साह बरकरार रहा और इस भीषण गर्मी में 375 किलोमीटर की लंबी यात्रा 19 दिनों में पूरी कर उन्होंने एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। संभवतः बेगड़ जी पहले ऐसे पदयात्री हैं, जिन्होंने ऋषि मार्कंडेय के बाद बंजर नदी की परिक्रमा पूरी की है।

इस प्रकार जनवादी चेतना के माध्यम से जब पृथ्वी प्रदूषण-रहित और स्वच्छ होगी, तभी हम मैथिलीशरण गुप्त जी की पंक्तियाँ गुनगुना सकेंगे—

नीलांबर परिधान हरित-तट पर सुंदर है,
सूर्य-चंद्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकार है।
नदिया प्रेम, प्रवाह, फूल तारे मंडन है,
बंदीजन खग-वृंद शेष फन सिंहासन है,
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की।

संदर्भ

1. शकुंतला का द्रोह : डॉ० श्रीभगवान सिंह (विभिन्न पत्रों और पत्रिकाओं में), पृ० 15 जयदेव सिंह।
2. शकुंतला का द्रोह : डॉ० श्रीभगवान सिंह, पृ० 45
3. वही, पृ० 56
4. वही, पृ० 58
5. वही, पृ० 64
6. वही, पृ० 67
7. वही, पृ० 68
8. वही, पृ० 69
9. वही, पृ० 77-78
10. वही, पृ० 80-81
11. नया मन्वन्तर : चिरंजीव (भूमिका)।
12. नया मन्वन्तर : चिरंजीव, पृ० 19-20
13. वही, पृ० 20
14. चिमनी चोगा : राजेश जैन, पृ० 57
15. चिमनी चोगा : (भूमिका : अनुभव एक नाट्य-प्रस्तुति का), राजेश जैन, पृ० 5
16. चिमनी चोगा : राजेश जैन, पृ० 5
17. चिमनी चोगा : राजेश जैन, पृ० 13-14
18. यथा उद्धृत नागपुर, 10 मई, 2008 लोकमत समाचार से साभार।
19. यथा उद्धृत नागपुर, 10 मई 2008 लोकमत समाचार से साभार।

□ मन्० ए-96
अंसल सुशांत सिटी
सेक्टर 13-17 के सामने
पानीपत 132103 (हरियाणा)

आधुनिकताबोध में अस्तित्ववाद की भूमिका और स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यास

रजनी, शोधछात्रा

हिंदी विभाग

पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला (पंजाब)

आधुनिकता का अर्थ विचारों के नयेपन से लिया जाता है। आधुनिकता एक सतत गतिशील प्रक्रिया है, जो निरंतर हमारे विचारों में चलती रहती है। इसीलिए 'आधुनिकता' की धारणा को किसी समय-सीमा में बाँधकर देखना अनुचित-सा प्रतीत होता है। प्रत्येक युग अपने-आपमें नवीन होता है, आधुनिक होता है। आधुनिकता तो कबीर के समय में भी देखने को मिलती है। वह अपने युग के आधुनिक पुरुष थे। उन्होंने तत्पुगीन परिस्थितियों के आकलन के पश्चात् 'फोकट माल' अर्थात् व्यर्थ रूढ़ियों का कड़ा विरोध किया और बदलते समय के अनुरूप विभिन्न नए रिवाजों का आहवाहन किया। उनकी मानसिकता ही अपनी आधुनिकता की प्रतीक थी, जिसने मानव को समयानुरूप और समाजानुरूप आचरण के लिए प्रेरित किया। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिकता भूतकाल और भविष्य से संबद्ध न होते हुए काल-निरपेक्ष है। आधुनिकता किसी चलन का अधानुकरण-मात्र नहीं है और न परंपरा का विरोध ही आधुनिकता है। आधुनिकता एक ऐसी प्रक्रिया है, जो बौद्धिकता को आधार बनाकर चलती है। आधुनिकता की सार्थकता मनुष्य के आत्म-साक्षात्कार में है। जो मनुष्य तर्क और बुद्धि के आधार पर नवीन परिस्थितियों के संदर्भ में अपना संस्कार करता चला जाता है, वही सही मायने में आधुनिक है। आधुनिकता परंपरा से प्रतीयमान अर्थ को स्पर्श करती है, उसे माँजती है, खरोंचती है और परिमार्जित कर उसमें से चमत्कारिता तथा नतून अर्थवत्ता को जन्म देती है। इस तरह आधुनिकता की सार्थकता परंपरा की एक नई कड़ी होने में है।

साहित्य-विशेष के संदर्भ में जब हम आधुनिकता की बात करते हैं तो आधुनिकताबोध नामक धारणा से वह हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है, जिसका प्रारंभ लगभग 15वीं शताब्दी से माना जाता है, जिसने समाज और साहित्य को सामांतर रूप में प्रभावित किया। आधुनिकताबोध नामक धारणा फ्रांस की औद्योगिक क्रांति और विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों से प्रभावित होकर अस्तित्व में आई। तकनीकी विकास ने समाज-व्यवस्था को आमूल-चूल परिवर्तित किया। समाज कृषि-आधृत न रहकर उद्योग-आधृत हो गया। उद्योगों की चकाचौंध के चलते नगरीकरण की प्रवृत्ति उभरकर सामने आई। गाँवों का पलायन शहरों की तरफ होने लगा। लोगों

के रहन-सहन, परिधान-परिवेश सब परिवर्तित होने लगे। नगरीकरण की प्रवृत्ति ने मानव को आत्मकेंद्रित कर दिया। संयुक्त परिवार-प्रणाली से विमुख होकर लोगों को एकांतमय जीवन रास आने लगा और स्वचिंतन की प्रवृत्ति मानवीय स्वभाव की मुख्य प्रवृत्ति बन गई। यहीं से कीर्केगार्द के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत 'अस्तित्ववाद' मानवीय जीवन पर जीवंत रूप में लागू होने लगा, क्योंकि यही सब प्रवृत्तियाँ अस्तित्ववादी चिंतन की आधारभूमि हैं।

हिंदी साहित्य में भारतेंदु और द्विवेदीयुग के बाद छायावाद तक पहुँचते-पहुँचते साहित्य में प्रचलित आधुनिकताबोध की झलक स्पष्ट दिखाई देने लग गई। छायावाद में मानसिक संतुष्टि, घोर व्यक्तिनिष्ठा आदि प्रवृत्तियाँ प्रगतिवाद में आकर सामाजिक समानता का बिगुल बजाने लगीं। मार्क्सवादी विचाराधारा का प्रभाव साहित्य में भी परिलक्षित होने लगा। क्रांति का स्वर मुखर हुआ। प्रगतिवाद के बाद प्रयोगवादी काव्य में काव्य के शिल्प-विधान में नवीनता का दम भरा गया। नए-नए प्रतीकों, बिंबों, मिथकों आदि का प्रयोग होने लगा। तदुपरांत नव-लेखन, जहाँ साहित्य की विभिन्न गद्य-विधाओं का उत्थान हुआ, में अलग-अलग लेखन-प्रवृत्तियाँ दिखाई देने लगीं। साहित्य की साहित्यिकता को विभिन्न कसौटियों पर कसा जाने लगा यथा- मनोविश्लेषणवाद, यथार्थवाद, विखंडनवाद, अस्तित्ववाद, मार्क्सवाद आदि। आलोचना के इन प्रतिमानों में से अस्तित्ववाद का विशेष महत्त्व है। पश्चिम में जहाँ अस्तित्वबोध को आधुनिकताबोध की आधारभूमि के रूप में पहचाना गया, वहीं भारतीय समाज और साहित्य में आधुनिकताबोध के विभिन्न घटकों जैसे औद्योगिकीकरण, आधुनिकीकरण, तकनीकीकरण, नगरीकरण आदि ने लोगों की मानसिकता को उद्वेलित कर उन्हें उनके अस्तित्व का बोध करवाया।

अस्तित्ववाद नामक धारणा के लक्षण साहित्य में पहले परिलक्षित हुए और यह दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में बाद में उभरकर आया। विभिन्न अस्तित्ववादी चिंतकों की रचनाओं में सर्वप्रथम अस्तित्ववादी दर्शन का साक्षात्कार हुआ। तदुपरांत यह एक दार्शनिक सिद्धांत बन गया, जिसे बच्चनसिंह ने 'जिया जाने वाला' दर्शन की संज्ञा से अभिहित किया। अस्तित्ववादी दर्शन मनुष्य की व्यक्तिगत पहचान को प्रतिस्थापित करने का पक्षधर है, किंतु जब वह मनुष्य की बात करता है तो वह एक ऐसे मनुष्य की बात करता है, जो समाज में विचरता है। 'अस्तित्ववादी दार्शनिक मनुष्य को इस रूप में समझने का प्रयास करता है, जैसा कि वह वास्तविक रूप में है, जैसा कि अपनी विशिष्ट ऐतिहासिक स्थिति में वह स्वयं का अनुभव करता है। ... और कुछ दार्शनिक, जो अस्तित्ववाद से प्रभावित हैं, मानवीय संबंधों पर विचार करते हैं और मनुष्य में मनुष्यों को रखकर उसे देखते हैं, उनसे पृथक् करके नहीं।'

इस प्रकार अस्तित्ववाद घोर व्यक्तिवादी दर्शन नहीं, वरन् एक ऐसी जीवन-शैली से संबद्ध दर्शन है, जो सामाजिक समायोजन को भी उतना ही महत्त्व देता है, जितना मनुष्य को। 'मनुष्य' से अभिप्राय व्यक्ति-मात्र से न होकर मनुष्य से है, जिसकी सारगर्भिता मनुष्यता है। मनुष्य जब आधुनिकता की परिधि में प्रविष्ट हुआ अर्थात् जब उसने पुनः विचार की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अपनी जीवन-शैली में परिवर्तन का चक्र प्रारंभ किया, उसी अवस्था में

अस्तित्ववाद का जन्म हुआ। अस्तित्ववाद की धारणा तब अस्तित्व में आई, जब दो-दो विश्वयुद्धों के परिणामस्वरूप मानव-जीवन संकटग्रस्त हो गया। उस समय मानव ने ईश्वर की सत्ता की अपेक्षा अपने सामर्थ्य को पहचानने की चेष्टा की और वह अपने अस्तित्व के प्रति चेतन हुआ। इस प्रकार अस्तित्ववाद मानव-जीवन की त्रासद स्थिति से संबद्ध है। अस्तित्ववादी चिंतन के लिए कुछ परिस्थितियाँ उत्तरदाई थीं। इन परिस्थितियों के पैताने से अस्तित्ववादी दर्शन को समझा जा सकता है।

आधुनिकताबोध विचारों के नयेपन से संबद्ध है, वहीं अस्तित्ववादी दर्शन में पुनर्विचार एक ऐसी परिस्थिति है, जो मानव को अस्तित्वबोध करवाती है। मानव पहले पूर्णतः धर्मावालंबी था, किंतु आधुनिकता के चलते विचार बदले और मानव ने अपने प्रति दृष्टिकोण को भी बदला, पुनः विचार किया और स्वयं को अपने अस्तित्व के प्रति चेतन बनाया। यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि विचारों के नयेपन से 'आधुनिकता' का अविर्भाव, उसी आधुनिकता ने पुनर्विचार की प्रवृत्ति को जन्म दिया, जिससे आगे चलकर अस्तित्ववाद नामक धारणा अस्तित्व में आई। पुनर्विचार के लिए भी एक विशेष प्रकार का वातावरण समाज में पनप चुका था; वह थे दो-दो विश्वयुद्ध। तत्पुगीन राजनीतिक परिवर्तनों ने मानवीय मन-मस्तिष्क पर प्रतिस्थापित ईश्वरीय आधिपत्य को अस्वीकार किया, क्योंकि मानव दयनीय दशा से ग्रस्त था। इसीलिए अस्तित्ववादी चिंतनधारा में आस्थावादियों के विरोध में एक अलग वर्ग अनास्थावादियों का आ खड़ा हुआ, जिसने ईश्वर की मृत्यु की घोषण करते हुए मानव के अस्तित्व को सर्वोपरि बताया और इस विद्रोह का उत्तरदाई कारण था मानवीय जीवन की त्रासदी, जिसे अस्तित्ववाद के दुःखवाद नामक सिद्धांत से जाना जाता है। दुःखवाद के अंतर्गत इस तथ्य पर चर्चा की गई है कि मानव दुःख के क्षणों में ही अपने अस्तित्व के प्रति चेतन होता है। तब ही उसे मानव-अस्तित्व के महत्त्व का भान होता है। दुःखवाद से पहले की स्थितियाँ व्यर्थबोध/विसंगतिबोध/ अजबोपन/अकेलापन आदि हैं। मानव ऊपरी सतह के चिंतन के आधार पर स्वयं को प्रत्येक स्थिति, प्रत्येक स्थान पर व्यर्थ, अकेला और अजनबी पाता है। स्वयं के व्यर्थ, अकेले ओर अजनबी होने की तिममिलाहट दुःख में बदलती है और दुःख के क्षणों में मानव-अस्तित्व की प्रतिष्ठा होती है, ऐसा अस्तित्ववादियों का मानना है। अस्तित्ववादी चिंतक दुःख को जीवन का सत्य मानते हैं। अस्तित्ववाद की सबसे बड़ी देन मानव-जीवन में जिजीविषा का स्फुरण है। अस्तित्ववाद का एकमात्र लक्ष्य है, अस्तित्व की प्रतिष्ठा, फिर चाहे परिस्थितियाँ कितनी भी विकट क्यों न हों। विपरीत परिस्थितियों में जीना अर्थात् अपनी पहचान बनाए रखना ही जिजीविषा है और यही अस्तित्ववाद का ध्येय है।

इस प्रकार यह विदित है कि अस्तित्ववाद का उद्भव मानवीय जीवन पर आ पड़े संकट के कारण हुआ और मानव-मन की कुंठाओं ने इसे प्रस्फुटित किया, त्रासदी के क्षण अस्तित्वबोध की धरा को ऊर्वर करते रहे और अंततः स्वचेतना ने एक विद्रोह के रूप में 'अस्तित्ववाद' की प्रतिस्थापना की। तत्कालीन परिस्थितियों के कारण मनुष्य की वेदना, अकेलेपन का भय, निराशा, विसंगतिबोध, दुःखवाद, अजनबीपन, अपरिचय, मृत्यु-बोध,

संज्ञास आदि मनःस्थितियाँ मानवीय जीवन का परम सत्य बन चुकी थीं। यहाँ अस्तित्ववादी दर्शन के इन्हीं कुछ चिंतन तत्त्वों और अनुभूतियों के प्रभावाधीन हिंदी-उपन्यास चर्चा का विषय है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-साहित्य के अंतर्गत अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन से संबंधित उक्त तत्त्वों अथवा अनुभूतियों की अभिव्यक्ति उपन्यास-साहित्य में यत्र-तत्र देखी जा सकती है। अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' (1965) से हिंदी-उपन्यास साहित्य पर अस्तित्ववाद का प्रभाव मुखर रूप से परिलक्षित हुआ। इसके उपरांत जैनेंद्र का 'मुक्तिबोध', उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं राधिका' तथा 'पचपन खंबे लाल दीवारें', डॉ॰ सुरेश सिन्हा का 'एक और अजनबी' आदि चर्चित हैं। इसी की अगली कड़ी में कमलेश्वर, निर्मल वर्मा, लक्ष्मीकांत वर्मा, श्रीकांत वर्मा आदि के लेखन में अस्तित्ववाद की स्वीकृति का सजग रूप में रेखांकन हुआ। अस्तित्ववादी विचारधारा में जिस मानवीय-स्वतंत्रता का समर्थन सार्त्र ने किया है, भारतीय परंपरा में भी उसी की चर्चा की गई है। इसीलिए हिंदी-साहित्य में भी यह प्रवृत्ति प्रकट हुई है। सार्त्र का कथन है, 'मैं अपनी स्वतंत्रता की कामना करने के साथ-साथ दूसरों की स्वतंत्रता का समर्थन करने के लिए प्रतिश्रुत हूँ।' भारतीय दृष्टिकोण से भी व्यक्ति की स्वतंत्रता न्याय, समता और बंधुत्व से युक्त है। रूसो भी स्वतंत्रता की सार्थकता समाज से संबद्ध होने में ही मानते हैं। उनका मानना है कि 'मनुष्य स्वतंत्र जन्म लेता है, किंतु सर्वत्र वह जंजीरों से जकड़ा हुआ है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य की सार्थकता से अभिप्राय यह है कि व्यक्ति और समाज भय और अभाव के ताने-बाने से निर्मित इन जंजीरों को काट सकें और स्वतंत्रता का आस्वादन कर सकें।' भारतीय परंपरा में स्वतंत्रता का स्वरूप सामूहिक है। यहाँ स्वतंत्रता का अर्थ है समाज में रहते हुए अपने अधिकारों का प्रयोग करना। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी-उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि व्यक्ति सामाजिक परिवेश में ही आत्मोपबिधि के उचित अवसर पाता है। अज्ञेय के उपन्यास 'नदी के द्वीप' में गौरा व्यक्ति-स्वातंत्र्य की सामाज-सापेक्षता पर बल देती कहती है— 'स्वाधीनता केवल सामाजिक गुण नहीं है। वह एक दृष्टिकोण है, व्यक्ति के मानक की एक प्रवृत्ति है। हम कहते हैं कि समाज हमें स्वाधीनता नहीं देता, पर समाज दे कैसे? हमें तो अपने दृष्टिकोण से समाज बनाते हैं। मैं अपने-आपको बद्ध नहीं मानती हूँ और स्वाधीनता के लिए अपने मन को ट्रेन करती हूँ। सफलता की बात नहीं जानती, उतनी शक्ति मेरे भीतर होगी तो क्यों नहीं होऊँगी सफल? और मैं सोचती हूँ कि सब लोग यातनापूर्वक अपने को स्वाधीनता के लिए ट्रेन करें तो शायद हमारा समाज भी स्वाधीन हो सके।'

मानवीय स्वतंत्रता की सार्थकता समाज में स्वयं को पूरी तरह खपा देना ही नहीं है, अपितु अपने अस्तित्व के प्रति चेतन होने में भी है। 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के योके और सेलमा अपने-अपने अस्तित्व के प्रति चेतन दिखाई देते हैं। योके भ्रमण करने के लिए पहाड़ों पर आती है, किंतु भारी बर्फबारी के कारण उसे घर में ही कैद होकर रहना पड़ता है। सीमित साधनों में भी वह कहीं भी विकट परिस्थितियों से समझौता नहीं करती, अपितु अपनी

जिजीविषा को कायम रखती है और अंत में वह मृत्यु का वरण भी केवल अपने अस्तित्व की सार्थकता को सिद्ध करने के लिए ही करती है।

‘रुकोगी नहीं राधिका’ की मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखनेवाली नायिका अपने अस्तित्व एवं स्वतंत्रता के प्रति चेतन और चिंतित है। अपने ही घर में अपने अस्तित्व की निरर्थकता का आभास होते ही वह सचेत हो जाती है और क्षण-प्रतिक्षण स्वयं के अस्तित्व को प्रतिस्थापित करने का प्रयत्न करती है। इसी प्रकार सुरेशकुमार सिन्हा के उपन्यास ‘एक और अजनबी’ उपन्यास की नायिका मीनल समाज के समस्त नारी-वर्ग के अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। उसे अपने पालनकर्ता का घर उसके कुचक्रों के कारण छोड़ना पड़ता है। कॉलेज में अध्यापिका की नौकरी कॉलेज के मैनेजर की स्वार्थवृत्ति के कारण छोड़ देती है, फिर मसूरी की एक दुकान में मॉडल का काम अपने चरित्र की रक्षा-हेतु छोड़ देती है। वह प्रत्येक स्थिति में अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठता को महत्त्व देती है। राजी सेठ के ‘तत्-सम’ की वसुधा पुरुष का संबल लेकर भी व्यक्ति के रूप में अपनी स्वतंत्रता की उपलब्धि करती है। परिस्थितियों से समझौता न करते हुए अपने अस्तित्व की पहचान कायम रखना ही अस्तित्ववाद का मूल स्वर है, जोकि उपर्युक्त उपन्यासों में प्रतिध्वनित होता है।

अस्तित्ववादी चिंतकों ने मृत्यु और जीवन की सार्थकता-निरर्थकता पर व्यवस्थित रूप से चिंतन किया। अस्तित्ववादी मृत्यु को परम सत्य मानते हैं। मृत्यु अस्तित्व की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संभावना है, जो मानव के जन्म लेते ही उसके अस्तित्व के साथ-साथ चलने लगती है। मार्टिन हेडेगर इस विषय पर लिखते हैं, ‘समस्त दार्शनिकता का उद्देश्य मन को अपनी मृत्यु की संभावना के समक्ष खड़ा कर देना है; ताकि उसे अपने ‘होने’ और सत्ता का अर्थ स्पष्ट हो सके।’

मृत्यु के भय से मुक्ति पाते हुए सहर्ष मृत्यु का वरण करना आदि भाव अस्तित्ववाद की प्रमुख देन हैं। यशपाल के उपन्यास ‘दिव्या’ में मारिश जीवन के अंतिम क्षण तक जीना और पूर्ण रूप से जीने में विश्वास रखता है। वह कहता है, ‘प्रयत्न और चेष्टा जीवन का स्वभाव और गुण है। जब तक जीवन है प्रयत्न और चेष्टा रहना स्वाभाविक है...।’ ‘अपने-अपने अजनबी’ उपन्यास में मृत्यु-दर्शन का उत्कृष्ट रूप झलकता है। मृत्यु-बोध ही योके और सेलमा को अपने-अपने अस्तित्व के प्रति चेतन बनाए रखता है। रमेश बख्शी के उपन्यास ‘चलता हुआ लावा’ में भी इसी मृत्यु-बोध का अभाव मिलता है। यह उपन्यास समस्त दुनिया को केवल एक भीड़ के रूप में चित्रित करता हुआ इस भाव का बोध करवाता प्रतीत होता है कि इस दुनिया में प्रत्येक व्यक्ति असंग और अकेला है। इसके नायक को मृत्यु-बोध और मृत्यु-संत्रास की अनुभूति होती है। निर्मल वर्मा का उपन्यास ‘अंतिम अरण्य’ भी अस्तित्ववादी दर्शन इसी भाव का समर्थन करता प्रतीत होता है। मेहरा साहब जीवन के अंतिम अरण्यमय दौर में प्रविष्ट हो चुके हैं। भयाक्रांत होने के बावजूद उनमें जीने की ललक है। इसी प्रकार मिसेज मेहरा इस भाव को प्रदर्शित करनेवाली सशक्त पात्र है। वह अपनी भावी मृत्यु से परिचित है, किंतु फिर भी सदैव एक मुस्कान उनके चेहरे पर छाई रहती है। वह मरने

से पहले पूरी तरह से जी लेने में विश्वास रखती हैं। 'मैं' इस विषय में बताता है 'मिसेज़ मेहरा दफ़न होने से पहले थोड़ा-सा अग्नि-स्पर्श करना चाहती थीं, वह शायद जानना चाहती कि मांस-हड्डियों की टूट-गठरी के किसी कोने में जीने की हसरत ही तो थी, जो उनकी खिलखिलाती हँसी में बाहर छलकती थी।' निर्मल वर्मा का उपन्यास 'रात का रिपोर्टर' में सारा का सारा कथानक भयाक्रांत रिपोर्टर रिशी के इर्द-गिर्द बुना गया है। वह अपनी भावी मृत्यु से अवगत है, फिर भी वह लड़ता है, केवल जीने के लिए, अपने अस्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए।

इन दो प्रमुख चिंतन-बिंदुओं के अतिरिक्त अस्तित्व की अन्य धारणाओं यथा-क्षणवादी धारणा और विभिन्न मनःस्थितियों यथा अकेलापन, अजनबीपन, वैयक्तिक चेतना आदि का भी स्वातंत्र्योत्तर उपन्यास-साहित्य में यथा-उचित चित्रण हुआ। निर्मल वर्मा का उपन्यास 'वे दिन' में अस्तित्ववादी धारणा, क्षणवाद, को रचनात्मक अभिव्यक्ति मिली है। 'इसमें द्वितीय महायुद्ध के कारण हुई मानव की स्थिति और मनोवृत्ति उजागर हुई है। लेखक ने रायना के जीवन के वे दिन, जो उसने 'मैं' के साथ प्राग में गुजारे थे, के मध्य सार्थक दिनों के चुनाव की समस्या को उभारा है। इसमें आधुनिक जीवन की विवशता, ऊब, उदासी, अकेलापन, अजनबीपन आदि समस्याएँ मुख्य रूप से उभारी गई हैं।' निर्मल वर्मा का उपन्यास 'लाल टीन की छत' भी इन्हीं भावों को रेखांकित करता है। उपन्यास में लामा नामक पात्र व्यक्ति-स्वातंत्र्य के भाव को प्रदर्शित करती है। अकेलेपन का भाव सदैव भीड़ में भी उसका साथ नहीं छोड़ता। अमृतलाल नागर के उपन्यास 'बूँद और समुद्र' भी व्यक्ति-चेतना को सशक्त रूप में अभिव्यक्त करता है। इसके पात्र जीवन में संघर्षरत रहते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी उपन्यासों पर अस्तित्ववाद की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। मानवीय स्वतंत्रता के विषय पर लगभग स्वातंत्र्योत्तर लेखकों ने अपना-अपना मत रखा है। दर्शन के रूप में अस्तित्ववाद ने मृत्यु और जीवन आदि जटिल विषयों पर चर्चा की है, जिसे विभिन्न उपन्यासकारों ने साहित्य के माध्यम से सहज रूप में चित्रित किया है। इसी के साथ अस्तित्ववाद से प्रभावी उपन्यासकारों ने अस्तित्व की प्रतिष्ठा के साथ-साथ मानव में जिजीविषा का संचरण भी दिखाया है। इनके उपन्यासों के पात्र जीवन की विपरीत परिस्थितियों में जीना चाहते हैं। उनकी यह जिजीविषा ही उनके अस्तित्वबोध की परिचायक है और अगर वह मृत्यु का वरण भी करते हैं तो अपनी इच्छा से और अपने अस्तित्व की पहचान स्थापित करने के लिए ही।

सूर के काव्य में श्रीकृष्ण की मुरली-माधुरी

रमाकरसिंह

बंसी पर सूरदास ने अनेक उदात्त कल्पनाएँ की हैं। बंसी के बहाने उन्होंने आंतरिक शक्ति के जागरण का अपनी प्रतिभा के बल पर चित्रण किया है। सूरदास ने लिखा है कि यह बंसी ब्रह्मा से भी बढ़कर है। ब्रह्मा चार मुख से उपदेश देते हैं, पर बंसी अपने आठ मुखों (रंश्रों) से उपदेश दे रही है। ब्रह्मा का स्थान एक कमल के ऊपर है, परंतु बंसी का स्थान दो कर-कमलों के ऊपर है। ब्रह्मा केवल एक बार पढ़कर ही ज्ञाता बन गए, परंतु बंसी के साथ कृष्ण निरंतर लगे रहते हैं। ब्रह्मा एक हंस की सवारी करते हैं, बंसी अनेक गोपी-मानस-हंसों पर सवार रहती है। लक्ष्मी जिस परमेश्वर की पद-रेणुका की कामना करती है, बंसी उन्हीं के अधरामृतों का पान करती है। बंसी अत्यंत आनंदस्वरूप वाली है।¹ मुरली को रुद्र का स्वरूप बतलाया गया है।² श्रीमद्भागवत पुराण में मुरली को वंशावतार कहा गया है।³ डॉ॰ रामकुमार वर्मा ने अपने हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में कृष्ण की मुरली को योगमाया से अभिहित किया है।⁴ कहीं पर इस मुरली को सरस्वती⁵ तो कहीं इसे परावाक् की जननी कहा गया है।⁶ इसकी ध्वनि अमृत के समान है।⁶ इस ध्वनि को अनहदनाद की भी संज्ञा दी गई है।⁸

यह मुरली कृष्ण की अन्यतम शक्ति है। यदि इसे कृष्ण से अलग कर दिया जाए तो यह मात्र बाँस का एक टुकड़ा है, जिसमें छिद्र होते हैं और वह मुख से बजाने के काम आता है, परंतु जिस मुरली के वादक कृष्ण हैं, वो तो रस-ब्रह्म है। कृष्ण की मुरली को माया भी कहा गया है। यह माया भक्त को सांसारिक जीवन से हटाकर भगवान की ओर आकर्षित करती है, जो माया अविद्या को उत्पन्न करती है, वही ईश्वर का अनुग्रह होने पर विद्या को उत्पन्न करती है और भक्त को भगवान से मिलाने का साधन बन जाती है। माया के इस रूप को दार्शनिक परिभाषा में योगमाया कहा गया है। मुरली यही योगमाया है। श्रीकृष्ण ने इसी मुरली की ध्वनि से रासलीला के लिए गोपियों का आह्वान किया। सोलह सहस्र गोपिकाओं के बीच श्रीकृष्ण उसी प्रकार व्याप्त थे, जैसे असंख्य आत्माओं के बीच परमात्मा व्याप्त रहता है। रास का यही रूपक है। आदि से लेकर अंत तक लौकिक वर्णन के पीछे यही अलौकिक भावना है। सूरदास ने मुरली के प्रभाव को लेकर अनेक परिकल्पनाएँ की हैं, जिससे यह प्रमाणित होता है कि सूरदास संगीत के रस भीगे हुए तो थे ही, बंसी की उस ध्वनि से भी परिचित थे, जो नाम रूप से भगवान की महिमा का आख्यान करती रहती है। सूरदास ने मुरली के वादन के विशद् प्रभाव का भी चित्रण किया है। इन्होंने मुरली को एक व्यक्तित्व प्रदान करते हुए उसे गोपियों की सौत के रूप में वर्णित किया है। सूरदास ने गोपियों पर मुरली के

प्रभाव का सजीव चित्रण किया है—

मुरली मधुर बजाई स्याम,
मन हरि लियौ भवन नहिं भावै, व्याकुल ब्रज की बाम।⁹

भक्ति साहित्य में कृष्ण की मुरली के तीन रूप बताए गए हैं—वेणु, मुरली और बंसी।¹⁰ सूरदास के सूरसागर में इनके अतिरिक्त दो और नामों का प्रयोग किया गया है। वे नाम हैं—बाँसुरी और मुरलिका। परंतु ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी नाम उसी मुरली के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुए हैं—

1. यह मुरली मोहिनी कहावै।¹¹
2. बाँसुरी विधि हूँ तै परवीन।¹²
3. हरि के बराबरि बेनु, कोउ न बजावै।¹³
4. बंसी री बन कान्ह बजावत।¹⁴
5. स्याम तुम्हारी मदन-मुरलिका, नैसकु सो जग मोहयौ।¹⁵

सूरदास के कृष्ण की यह मुरली बाल्यकाल से ही संगिनी है तथा उनके प्रिय खिलौनों में से एक है। बाल्यावस्था में बालक अपने प्रिय खिलौनों के खोने अथवा चोरी किए जाने से आशंकित रहते हैं। सूरदास ने भी कृष्ण की इसी आशंका को व्यक्त किया है। कृष्ण राधा द्वारा मुरली चुराए जाने की आशंका प्रकट करते हुए माँ से कहते हैं कि माँ मेरी मुरली छिपाकर रखना, नहीं तो राधा चुरा ले जाएगी। कृष्ण मुरली से अगाध प्रेम करते हैं। उसी मुरली से वे गायों को चराते हैं तथा ग्वालों को रिझाते हैं—

रीझत ग्वाल रिझावत स्याम।
मुरलि बजावत, सखनि बुलावत, सुबह सुदामा लै-लै नाम।।
हँसत सखा सब तारी दै-दै, नाम हमारौ मुरली लेत।
स्याम कहत अब तुमहुँ बुलावहु, अपने कर तैं ग्वालनि देत।।
मुरली लै-लै सबै बजावत, काहू पै नहिं आवै रूप।
'सूर' स्याम तुम्हरे मुख बाजत, कैसे देखौ राग अनूप।।¹⁶

मुरली कृष्ण के रूप का शृंगार भी है। रूप वर्णन के पदों में मुरली का भी उल्लेख हुआ है। सूरदास ने रासलीला का प्रारंभ मुरली सम्मोहन से किया है। मुरली की धुन सुनकर गोपियाँ सब-कुछ भूल जाती हैं। वे कृष्ण प्रेम में लीन हो जाती हैं और अपने लोक-लाज को छोड़कर एवं सभी संबंधों को तोड़कर, वे दौड़ती हुई कृष्ण के पास चली जाती हैं। डॉ॰ दीनदयाल गुप्त के अनुसार अष्टछाप भक्तों ने भी गोपी-प्रेम द्वारा अपनी प्रेम-लक्षण-भक्ति का परिचय देते हुए लोकलाज तथा लोकवेद की उपेक्षा का भाव प्रकट किया है।¹⁷ सूरदास के कृष्ण की मुरली अद्भुत है, उसके बजाते ही सिद्धों की समाधि भंग हो जाती है। रवींद्र ने भी एक स्थान पर लिखा है—मेरे प्रभु मैंने तेरे संगीत स्वर को सुना, वह स्वर मेरे प्राणों में समा गया है और मैं विवश होकर उसे सबको सुनाता फिरता हूँ। सूरदास ने मुरली के व्यापक प्रभाव को अंकित किया है—

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी। सुनि सिध-समाधि टरी।
सुनि थके देव बिमान। सुर-बधू चित्र-समान।

ग्रह नखत, तजत न रास। बाह न बँधे धुनि पास।
चले थाके, अचल टरे। सुनि आनँद-उमँग भरे।
चर-अचर-गति बिपरीति। सुनि बेनु कल्पित गीत।¹⁸

यह मुरली का व्यापक प्रभाव है। क्या जड़ क्या अर्द्धचेतन और क्या पूर्ण चेतन सब उससे प्रभावित होते हैं। प्राण पोषक मनोहारी नाद से आनंदित होते हैं। सूरदास ने मुरली पर कई कल्पनाएँ चित्रित की हैं—

मुरली तरु गुपालहि भावति।

सुनि री सखी जदपि, नँदलालहिं नाना भाँति नचावति।¹⁹

यहाँ पर सूरदास ने मुरली को एक धृष्ट स्त्री के रूप में प्रदर्शित किया है, जो पति को अपने शासन में रखती है। वह अधिकारपूर्वक आज्ञा देती है, तो श्रीकृष्ण एक पैर पर खड़े हो जाते हैं। कृष्ण उस मुरली रूपी स्त्री के वशीभूत हैं जैसे वह कुछ कहती है कृष्ण गर्दन झुकाकर उसे शिरोधार्य करते हैं। इतना ही नहीं उसकी धृष्टता उस समय सीमा का उल्लंघन कर जाती है, जब वह मुरली (पत्नी) कृष्ण के अधरों को शैया बनाकर लेट जाती है और उनके हाथों से अपने पैर दबवाती है। कृष्ण को यह सब-कुछ करना पड़ता है। सूरदास कल्पना करते हैं कि मुरली उन्हें प्रसन्न देखती है, तो उनके अधर और सिर को भी हिलाने लगती है।

कृष्ण की मुरली ने कवियों एवं दार्शनिकों दोनों का ध्यान आकृष्ट किया है, क्योंकि उससे वह दिव्य एवं मधुर संगीत निकलता है, जो संपूर्ण विश्व को सम्मोहित कर लेता है। कतिपय विद्वानों ने अध्यात्म क्षेत्र में इस मुरली के शब्द को ब्रह्म का नाम दिया है। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापक है। उसी प्रकार मुरली की धुन भी सर्वव्यापक है। बंसी परब्रह्म का शब्दरूप है। हठयोग कुंडलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर जो स्फोट एवं नाद होता है और नाद ब्रह्मांड-भर में गूँजता हुआ सुनाई देता है, उसे ही बंसी ध्वनि के साथ उपमित किया गया है। वल्लभाचार्य ने लिखा है कि मुरली ध्वनि ब्रह्मानंद से भी अधिक आनंद प्रदायिनी है। वह आनंद का मूल है। सूरदास ने मुरली को गोपिकाओं से स्पर्धा करने वाली राधा की सपत्नी के रूप में चित्रित किया है—

अधर-रस मुरली लूटन लागी।

जा रस कौं षट रितु तप कीन्हौ, सो रस पियति सभागी।

सूरदास-प्रभु हम पर ताकौं, कीन्हौ सौति बजाइ।²⁰

मुरली का पर्याय वेणु भी है। वेणु शब्द की व्युत्पत्ति व+इ+अणु से है, जो क्रमशः ब्रह्मानंद, सांसारिक सुख और तुच्छता के प्रतीक हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ यह हुआ कि वेणु के समक्ष समस्त सांसारिक सुख और ब्रह्मानंद भी तुच्छ बन जाता है। वेणु शब्द ब्रह्म का प्रतीक है, जिसे स्कंद पुराण में विस्तार के साथ ब्रह्म का समानार्थी बताया गया है। यह वेदवाणी का प्रतिरूप है और समस्त राग-रागिनियाँ इसी से उद्भूत हुई हैं। मुरली के रूपक द्वारा सूरदास ने शब्द ब्रह्म की महत्ता स्पष्ट की है। वल्लभाचार्य ने स्पष्ट रूप से मुरली को श्रुति (शब्द) ही कहा है। सूर साहित्य में मुरली के प्रभाव, उसकी अलौकिकता और उसके अतींद्रिय माधुर्य का व्यापक रूप से वर्णन हुआ है। मुरली मधुर भाव की प्रतीक है, परंतु सूरदास उसमें वीर भाव की भी कल्पना करते हैं—

बंसी वनराज आजु आई रन जीति।
मेटति हैं अपनै बल सबहिनि की रीति।²¹

मधुर मुरली की तान से कृष्ण सब ब्रजवासियों को रसानुभूति प्रदान करते हैं, जिससे वे कृष्ण के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं।²² सूरदास के मुरली-संबंधी पदों में वे सबसे हृदयस्पर्शी पद हैं, जिनमें उसे गोपियों की सौत के रूप में चित्रित किया गया है। मुरली को सौत के रूप में देखने की कल्पना को डॉ॰ गोवर्धननाथ शुक्ल सूर की मौलिक कल्पना मानते हैं। मुरली के संबंध में कथा यह है कि एक बार कृष्ण जब राधा के गुणगान में तन्मय थे, तब उनके मुख से सरस्वती प्रकट हुई और उन्होंने कृष्ण के सौंदर्य पर लुब्ध होकर उनका आलिंगन चाहा। तब कृष्ण ने उन्हें वेणु-रूप में प्रकट होने को कहा। सरस्वती ने वैसा ही किया और कृष्ण को पाने के लिए तप करती हुई मुरली के रूप में अपनी साध को पूरा किया। सूरदास ने इस वेणु को स्त्री के रूप में प्रस्तुत किया है और गोपियों की मुरली के प्रति ईर्ष्या को स्वाभाविक बनाने के लिए सपत्नी रूप में प्रस्तुत किया है। ईर्ष्या अपने समकक्ष व्यक्ति की वृद्धि देखकर बढ़ जाती है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अपने ईर्ष्या पात्र की अवनति चाहता है। उसकी निंदा करता है, उसके गुणों को भी दोष रूप में देखता है। गोपियों की मुरली के प्रति ईर्ष्या इस प्रकार से भी है, क्योंकि मुरली का कृष्ण पर एकाधिकार है और वह कृष्ण को अपने अधीन रखती है। मुरली जो कहती है कृष्ण वही करते हैं। गोपियाँ कहती हैं कि कृष्ण की अद्धांगिनी राधा है, परंतु यह कृष्ण को उनसे भी अधिक प्रिय हो गई है। ईर्ष्या के कारण गोपियाँ मुरली पर अनेक दोष लगाती हैं। वे उसे छिनाल, पापिन, कपटिन आदि कहती हैं। वे उसके जन्म, जाति, कुल आदि के बारे में दोष निकालती हैं—

सुनहु री मुरली की उतपत्ति।

बन में रहति, बाँस कुल याकौ, यह तौ याकी जति॥

जलधर पिता, धरनि है माता, अवगुन कहौँ उघारि।²³

कृष्ण की बंसी की धुन सुनकर गोपियाँ ही नहीं प्रकृति भी स्थिर हो जाती है। यमुना का प्रवाह रुक जाता है। वायु भी स्तब्ध हो जाती है। जितने भी चंचलता की प्रतीक वस्तुएँ हैं, सभी स्थिर हो जाती हैं। मुरली का शब्द सामान्य संगीत नहीं है और न तो वह वर्तमान का अद्भुत संगीत है। वह तो वर्तमान में प्रकाशित हो रहा है, किंतु अतीत और अनागत (भविष्य) का भी संगीत उसमें व्याप्त है। जो शब्द है वह वर्तमान, भूत, भविष्य सबका आधार है। अतः मुरली के संगीत से भिन्न कोई संगीत नहीं है। इस तत्त्व को सूरदास ने निम्न पदों में व्यक्त किया है—

नंद-नंदन सुघराई, बाँसुरी बजाई।

सरगम सुनि कै साधि, सप्त सुरनि गाई।

अतीत अनागत संगीत, बिच तान मिलाई।²⁴

रासलीला में मुरली नाद की विशिष्ट भूमिका है। मुरलीनाद को सुनकर गोपियों की अद्भुत दशा हो जाती है। गंधर्व तान से मोहित हो जाते हैं। तीनों भुवनों में नाद व्याप्त हो जाता है और वृंदावन के कुंज में आनंद का विलास हो जाता है। मुरली के वर्णन-प्रसंग में सूरदास ने नाद और शब्द पदों का विशेष रूप से प्रयोग किया है। इन पदों की योजना से शब्द ब्रह्म

अथवा नाद ब्रह्म की चराचर व्याप्ति की अभिव्यक्ति हो रही है। प्रेम-तत्त्व के रूप में मुरली सूरदास के काव्य की आत्मा है। लौकिक दृष्टि से यह मुरली मनुष्य के प्रति मनुष्य के उस महान प्रेम की प्रतीक है, जिसके बिना मनुष्य की ईर्ष्या का सक्रिय प्रतिरोध एवं जीवन के नए-नए रूपों की व्यावहारिक संरचना असंभव है।

संदर्भ

1. सूरदास, सूरसागर, दशम स्कंध, पद संख्या 1247
2. कल्याण पत्रिका (उपनिषद् अंक), पृ० 695
3. स्वामी अखंडानंद सरस्वती, श्रीमद्भागवत पुराण में वेणुगीत, पृ० 11
4. डॉ० रामकुमार वर्मा, हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 533
5. स्वामी हरिदानंद सरस्वती, भक्ति सुधा (द्वितीय खंड), पृ० 291
6. स्वामी प्रत्यगात्मानंद सरस्वती, जपसूत्रम् (प्रथम खंड), श्लोक 96
7. रूप गोस्वामी, उज्ज्वल नीलमणि, उद्दीपन प्रकरण, श्लोक 61
8. डॉ० हरवंशलाल शर्मा, सूर और उनका साहित्य, पृ० 209
9. सूरदास, सूरसागर, दशम स्कंध, पद संख्या 996
10. स्वामी प्रभुपाद, द नेक्टर आफ़ डिवोशन, पृ० 221
11. सूरदास, सूरसागर, दशम स्कंध, पद संख्या 1249
12. वही, पद संख्या 1247
13. वही, पद संख्या 1218
14. वही, पद संख्या 648
15. वही, पद संख्या 656
16. वही, पद संख्या 1217
17. डॉ० दीनदयाल गुप्त, अष्टछाप और बल्लभ संप्रदाय, पृ० 633
18. सूरदास, सूरसागर, दशम स्कंध, पद संख्या 623
19. वही, पद संख्या 655
20. वही, पद संख्या 1221
21. वही, पद संख्या 650
22. वही, पद संख्या 620-621
23. वही, पद संख्या 1256
24. वही, पद संख्या 1151

□ वार्ड नं० 5 टाउन एरिया
हंडिया, इलाहाबाद (उ०प्र०)

जैनेंद्र : व्यक्तित्व और व्यक्तिवादी चेतना

डॉ० पूनम चौहान

अध्यक्ष हिंदी विभाग

एस०बी०डी० कॉलेज, धामपुर (उ०प्र०)

हिंदी साहित्य के आकाश पर नक्षत्र की भाँति दैदीप्यमान प्रखर विचारक, चिंतक, मनीषी जैनेंद्र का व्यक्तित्व और कृतित्व अपनी सार्थक अभिव्यक्ति के साथ विद्यमान है। सन् 1905 में कोडियागंज (अलीगढ़) में जन्मे जैनेंद्र की प्रारंभिक शिक्षा हस्तिनापुर में हुई तथा इन्होंने प्राइवेट विद्यार्थी के रूप में मैट्रिक की परीक्षा दी। काशी विश्वविद्यालय में शिक्षार्जन के मध्य ही जैनेंद्र असहयोग आंदोलन में कूद पड़े और जेल गए, जिससे उनकी शिक्षा बाधित हुई।

जैनेंद्र का रचना-संसार में प्रवेश उनके प्रारंभिक प्रकाशित कहानी संग्रह 'फाँसी' के साथ हुआ। सन् 1930 में 'परख' उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिस पर उन्हें 'हिंदुस्तान एकेडमी पुरस्कार' प्राप्त हुआ। इनके अन्य उपन्यास कल्याणी, सुनीता, विवर्त, जयवर्धन, अनंतर, त्यागपत्र, मुक्तिबोध, अनामस्वामी, व्यतीत, सुखदा आदि हैं। 'मुक्तिबोध' कृति पर उन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार तथा सन् 1970 में पद्मभूषण से अलंकृत किया गया। उनकी विचारकृति 'जैनेंद्र के विचार' 1957 में प्रकाशित हुई। जैनेंद्र जी को 'प्रेमचंद एक कृति व्यक्तित्व' तथा 'समय और हम' कृतियों के लिए उ०प्र० शासन द्वारा पुरस्कृत किया गया।

विचारक जैनेंद्र की रचना में उनकी प्रखर चिंतन-दृष्टि तथा प्रश्नात्मक चिंतन का सृजन पाठक को भी अपने झंझावात में समेट लेता था। इसी तथ्य के संवाहक हैं ये शब्द- 'पुस्तकों और पत्रिकाओं में मौलिक प्रश्नों से जूझना पड़ता था। हम क्या हैं? समाज क्या है? प्रश्न क्या है? पुरुष का पराक्रम क्या है? पराक्रम की प्रेरणा क्या है? उपलब्धि क्या है? अनुपलब्धि क्या है?' प्रश्नों के रूप में इन विचार-बिंदुओं पर चिंतन जैनेंद्र के साहित्य का महत्त्व कम नहीं करते, अपितु यह उनकी प्रश्नानुकूलता और वैचारिक वेग के परिचायक हैं। अपने चिंतन और अभिव्यक्ति में जैनेंद्र को जटिल कहा जाता है तथापि उनका व्यक्तित्व सरल और विनम्र है। लेखिका महुला गर्ग उनकी विनम्रता से अभिभूत हुईं, जब उनकी प्रथम पुस्तक प्रकाशित हुई तो जैनेंद्र जी गोष्ठी में पहुँचे। 'तभी हवा के ताजे झोंके की तरह जैनेंद्र जी भीतर आए। देर से पहुँचने के लिए क्षमा माँगी। उनके गले में फूलों का हार था, जो उन्हें समारोह में भेंट किया गया था। आते ही उन्होंने वह हार मेरे गले में डाल दिया और खुलेमन से मुझे बधाई दी।'

जैनेंद्र के व्यक्तित्व में सागर-सी गहराई और विराट् चिंतक-स्वरूप से प्रभावित

राजगुरु भी कह उठे थे कि 'मैं जब-जब जैनेंद्र के बारे में सोचता हूँ तो मेरे सामने प्रशांत महासागर का चित्र साकार हो उठता है।'

आशा व्होरा के उद्गार उनके व्यक्तित्व के बहुआयामी स्वरूप का दिग्दर्शन करते हैं—'एक बेजोड़ व्यक्तित्व जो बालसुलभ जिज्ञासु भी रहा। महान चिंतक साहित्यकार भी।' ³ जैनेंद्र एक व्यक्तित्व जो सदैव चिंतन की गहराईयों में धँसता रहा। दर्शन की ऊँचाइयों को छूने के लिए तत्पर रहा। बालसुलभ जिज्ञासा जैसे उनकी नस-नस में प्रवाहित थी।'

आचार्य तुलसी ने भी जैनेंद्र के व्यक्तित्व के विषय में कहा है— 'हमने जैनेंद्रकुमार जी जैसे गंभीर चिंतक और स्थिर एवं सूक्ष्म दृष्टि वाले व्यक्ति कम देखे हैं। उनका हर वाक्य चाहे वह लिखा गया हो या बोला गया हो, साहित्य है।' ⁴

अज्ञेय उनके वाक्शिल्प के प्रभाव को स्वीकार करते हुए कहते हैं कि 'वाक्शिल्प का और शब्दार्थ की बारीकी का इतना प्रभावशाली उपयोग आधुनिक हिंदी में अन्यत्र कम ही मिलेगा।' ⁵

अटलबिहारी वाजपेयी उनके सृजन को उनके व्यक्तित्व की छायाकृति मानते हैं— 'जैनेंद्र की कथाओं में, निबंधों में उनका चिंतन व्यक्तित्व की छायाकृति है। उनकी चिंतन-दृष्टि नये संदर्भों की खोज और व्याख्या में स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जैनेंद्र कहानी कहें या निबंध लिखें, उनकी मूल पैठ चिंतक तथा विचारक रहती है। उन्होंने जीवन को उनकी समग्रता में न केवल देखा और परखा है, किंतु उसे नए अर्थ भी दिए हैं। वर्तमान में नए संदर्भ में उसकी व्याख्या भी की है।' ⁶

जैनेंद्र के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टि डालने पर जैनेंद्र की विचारक अदम्यता, निर्भीकता, स्पष्टता, सूक्ष्मता और बौद्धिकता का दर्शन होता है; तो उनकी बौद्धिक शक्ति व सृजन-सामर्थ्य व क्षमताओं का भी परिचय मिलता है। जैनेंद्र के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं से जहाँ साहित्यकार, विचारक प्रभावित हुए, वहीं पाठक भी उनके रचना-संसार में प्रवेश कर उनके व्यक्तित्व-कृतित्व की ज्ञान-गंगा में स्नान कर खुद को धन्य मानते हैं।

व्यक्तिवादी चेतना :

जैनेंद्र की व्यक्तिवादी चेतना निःसंदेह व्यक्ति के अस्तित्व-चिंतन में, व्यक्ति की उन्नति एवं विकास के संदर्भ में, स्त्री-संबंधी विमर्श में तथा व्यक्ति के पारिवारिक, सामाजिक संबंधों में विस्तार देती प्राप्त होती है। उनकी व्यक्तिवादी चेतना शोषक-शोषित, श्रम-पूँजी, मशीन-उद्योग, मालिक-मजदूर, राजनीति-प्रजातंत्र, परिवार-समाज, विवाह-दांपत्य, धर्म-विज्ञान, प्रेम-नारी आदि ऐसा कौनसा क्षेत्र है, जिसमें प्राप्त नहीं होती। 'जीवन के वे बिंदु जो सामान्यजन के लिए अबूझ पहली हैं, जैनेंद्र के लिए विचार के सूत्र हैं।' ⁷ जैनेंद्र व्यक्ति और जीवन की समस्याओं को चित्रित करते हुए व्यक्ति को केंद्र में रखते हैं, क्योंकि मनुष्य ब्रह्म का अंश है, व्यक्तिरूप में यह अंश अपूर्ण है। पूर्ण ब्रह्म है। जैनेंद्र के सुखदा, मृणाल, सुनीता आदि अनेक प्रमुख पात्र उनकी व्यक्तिवादी चेतना को परिलक्षित कराते हैं। 'जैनेंद्र की दृष्टि में व्यक्ति ही वह आधार है, जिस पर समस्त जीवन की भीति आरूढ़ है, जो समष्टि में है, वही व्यष्टि में है।' ⁸

'जैनेंद्र व्यक्तिवादी उपन्यासकार हैं तथापि उनकी व्यक्तिवादिता हठवाद को प्रश्रय

नहीं देती।’⁹ जैनेंद्र की व्यक्तिवादी चेतना किसी भी रूप में अतिवादी नहीं होती, क्योंकि उन्हें व्यक्ति-हित में समाज का अहित सहन नहीं होता। उनके साहित्य में व्यष्टिवादी चेतना समष्टि की बढ़ने की सतत प्रक्रिया है। जैनेंद्र की व्यक्तिवादी चेतना और दृष्टिकोण सामाजिक परिप्रेक्ष्य में अभिव्यक्त होते हैं। ‘जैनेंद्र-साहित्य मानव-जीवन और व्यक्ति की समस्याओं का अमित आधार है।’¹⁰

जैनेंद्र स्वयं भी व्यक्तिवादी चेतना को स्वीकार करते हैं। व्यक्ति प्रत्यक्षतः स्वचेतना और अस्तित्व से हमारे समक्ष होता है। उसकी विस्तृत भूमिका हमारे लिए दुर्लभ ही होती है। ‘अनाम स्वामी’ उपन्यास में अनाम स्वामी, उपाध्याय से वार्तालाप में इसी तथ्य को सामने रखते हुए कहते हैं— ‘सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, सौरमंडलीय इत्यादि भूमिका दुर्लभ है। मुझे वे परोक्ष है, जो चेतना-प्रत्यक्ष और व्यक्तिगत होकर काम कर रही हैं, मेरा क्षेत्र तो वहीं तक है।’¹¹

यह व्यक्तव्य निःसंदेह लेखक जैनेंद्र के विचारों की वह शृंखला है, जो व्यक्तिवादी चेतना को सिद्ध करती है। अनाम स्वामी में दयाल व्यक्ति के अस्तित्व में अहम् की भूमि को महत्त्व देते हैं। अहं अर्थात् अस्तित्व ही व्यक्तित्व का प्रेरक है और यही अस्तित्व का निर्माता— ‘मैंने कहा कि व्यक्ति में अहम् की चेतना है। उत्तरोत्तर वह परिवार, समाज, राष्ट्र और जगत को भी पहचान रहा है, पर इसके आकलन के लिए उसके पास निजी चेतना का माप ही है। समष्टि को भी अपने अहं के द्वारा ही वह ग्रहण कर सकता है। ‘हमारे विचार का सूत्र तो आदमी है। मैं ‘अहम्’ हूँ, इस तरह जिनमें ‘अहम्’ हो उनको मैं समझ सकता हूँ।’

जैनेंद्र की व्यक्तिवादी चेतना अपने देश व भूमि से कहीं ऊँची और विस्तृत है। व्यक्ति को मात्र मानव मानकर मानवीय संवेदना की अभिव्यक्ति जैनेंद्र के व्यावहारिक जीवन में व्यक्तिवादी चेतना की संवाहक बनकर उभरी है। मुक्तिबोध उपन्यास में तमारा रूसी बाला है। जब वह अपने आर्टिस्ट व विदेशी होने का संकोच सहाय से व्यक्त करती है तो सहाय मानवीय दृष्टिकोण से समझाते हुए कहते हैं— ‘क्या समझती हो कि देश के आगे मैं सत्य को नहीं मान सकता हूँ। तुम रूसी हो, मैं हिंदुस्तानी हूँ, पर सच में तो दोनों इंसान ही हैं।’¹³

‘मुक्तिबोध’ में ही ठाकुर भी सहाय के बेटे वीरेश्वर के बिगड़ने पर सहाय से कहते हैं कि ‘व्यक्ति स्वयं अपने व्यक्तित्व को बनाता है। किसी के चाहने से वह अच्छा या बुरा नहीं बनता है। तुम लोगों ने अब तक उसे अच्छा बनाना चाहा है, पर आदमी खुद होने और बनने के लिए होता है। बनाना किसी को पसंद नहीं होता’¹⁴

सहाय को वीरेश्वर का धन-अपव्यय तनिक नहीं भाता। अपनी सुविधाओं के लिए राजनीति या ऐसे ही माध्यमों से धनार्जन उनकी दृष्टि में अनुचित है। सहाय इसी संदर्भ में नीला से कहते हैं— ‘बल्कि सच पूछो तो ज्यादाती है कि हम अपने खर्च के लिए हज़ार से ऊपर रुपया पा जाते हैं, जबकि बेचारा औसत आदमी जाने कैसे काम चलाता है।’¹⁵

जैनेंद्र का व्यक्तिवादी चिंतन उनके उपन्यासों में सर्वत्र उपलब्ध होता है और प्रत्येक उपन्यास के प्रमुख पात्र में मानो स्वयं लेखक प्रवेश कर स्वचेतना से अनुप्राणित होकर प्रखर हो उठा है। ‘त्यागपत्र’ में प्रमोद का चरित्र भी इसी व्यक्तिवादी चेतना को परिपुष्ट करता है। मृणाल के कहने पर कि वह उसके साथ अपने संबंधों को लड़की वाले के समक्ष उजागर न करे और अपना वैवाहिक जीवन सफल करे। तब प्रमोद कहता है— ‘मैंने कहा! मैं छल नहीं

कर सकता। विवाह के मामले में तो मैं छल कर ही नहीं सकता। यह जीवन-भर का संबंध है। क्या उसे झूठ पर खड़ा करूँ।' ¹⁶

मजदूर और मालिक संबंधों में वे मजदूर का पक्ष व्यक्तिवादी चेतना के तहत रखते हुए कहते हैं कि 'वे मजूर बने ही क्यों? उन्हें अपने श्रम का मालिक रहना चाहिए। हरेक स्वाधीन भाव में उद्यमी क्यों न हो?' ¹¹

'त्यागपत्र' की मृणाल संवेदनशील नारी है। परिवार में शील-लज्जा का पालन करने में भी तत्पर है तथापि भीतरी संवेदना की अभिव्यक्ति कैसे करे? किससे करे? अपने भतीजे प्रमोद से वह मन की पीड़ा को उड़ेल देती है। प्रमोद के बहुत कुरेदने पर बोली— 'सच-सच कहती हूँ। प्रमोद किसी और से नहीं कहा, तुझे कहती हूँ। बँत खाना मुझे अच्छा नहीं लगता। न यहाँ अच्छा लगता है न वहाँ अच्छा लगता है।' ¹⁷

मृणाल अस्तित्व के प्रति चैतन्य नारी है। वह सर्वस्व नष्ट होने पर स्वयं के स्वाभिमान को नष्ट नहीं होने देती, जो कि व्यक्तित्व का एक प्रमुख गुण है। कोयले वाले द्वारा छोड़ दिए जाने पर भी वह स्वयं की, स्वयं के बच्चे के अस्तित्व-संकट का निवारण परिश्रम से करना चाहती है। किसी की दया पर जीवित रहना, उसे उपयुक्त नहीं लगता। प्रमोद जब बुआ मृणाल की खोज करते-करते उसी अस्पताल में पहुँच जाता है, जहाँ मृणाल ने बच्चे को जन्म दिया था। डॉक्टर मैम से प्रमोद प्रश्न करता है कि मृणाल कहाँ गई? तब डॉक्टर याद करके उसे घटना को दोहराती है— 'ठीक-ठीक! वही केस है। हमसे वह कुछ काम भी माँगती थी। नर्स बनने को तैयार थी। अँग्रेजी भी जानती थी न? अच्छी लड़की थी, मुझे याद है।' ¹⁸

'अनामस्वामी' में दयाल के व्यक्तिवादी चिंतन से भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने लिए दायित्व-बोध संपन्न तो है ही, साथ ही उसका जीवन अपना उसका अपना है। इसलिए दयाल अपनी पौत्री उदिता के संदर्भ में चिंतित नहीं होते और समझाते हैं— 'पर सबसे ऊपर मैंने यहीं सोचना चाहा कि उदिता स्वयं अपनी है। दायित्व दूसरे मानें तो यह उनका दंभ है।' ¹⁹

जैनेंद्र ने वेश्या जीवन पर आधारित उपन्यास 'यामा' का अनुवाद किया और भूमिका में जो लिखा, वह भी उनके व्यक्तिवादी चिंतन और दृष्टिकोण को ही परिभाषित करता है— 'वेश्या वही है, जो माँ है। क्या यह प्रश्न हम को नहीं छूता, न ही चौंकाता? कि क्यों वह माँ नहीं है और क्यों नारीत्व का विद्रूप बनकर वह कोठे पर सजी सजाई बैठी है।' ²⁰ जैनेंद्र के नारी-विमर्श में नारी का अस्तित्व-चिंतन सर्वथा स्वीकार्य है। वे मानते हैं कि नारी को भी अपने संबंध में निर्णय लेने का अधिकार है, चाहे वह विवाह हो अथवा प्रेम। 'अनंतर' में प्रसादबाबू अपनी पत्नी रामेश्वरी को समझाते हैं कि— 'सुनो! रामेश्वरी, आदित्य तुम्हारा जमाई है, उसको चाहो तो कह-सुन भी सकती हो। पर अपरा पर, हमारा-तुम्हारा हक् नहीं है और अपने बारे में वह अपनी मर्जी क्यों नहीं रखेगी।' ²¹

नारी मात्र पुरुष-भोग्या या सेविका रूप में नहीं, अपितु पुरुष के सहयोगी की भूमिका में भी सक्षम है। 'परख' की नायिका अनपढ़, गँवार है, किंतु पुरुष के मार्ग का रोड़ा नहीं। वह अपना अस्तित्व मिटाती नहीं। वह बिहारी के साथ आजन्म वैधव्य का पालन कर, परसेवा में जीवन व्यतीत करती है और इस वचन-पालन हेतु बिहारी के साथ प्रतिज्ञा करती

है। 'हम दोनों वैधव्य-यज्ञ की प्रतिज्ञा में एक-दूसरे का हाथ लेकर आजन्म बँधते हैं, हम एक होंगे- एक प्राण दो तन' ²² वह अनपढ़ कट्टो बिहारी जैसे युवक को भी समाज-कल्याण का मार्ग दिखा देती है।

'दर्शाक' में व्यक्ति के समाजगत आधार को वे रंजना के माध्यम के अभिव्यक्त करते हैं। 'घर के केंद्र से अलग नागरिक धर्म से च्युत हो गई हूँ, बूँद की तरह छिटक कर सागर से अलग जा पड़ी हूँ। व्यक्ति तभी व्यक्तित्व है जब कि समाज है। समाज से अलग उसका न व्यक्तित्व है और न ही अस्तित्व' ²³ रंजना 'दर्शाक' का वह नारी-चरित्र है, जिसमें व्यक्तिवादी चिंतन भरपूर दृष्टिगोचर होता है। वह व्यक्ति रूप में मात्र भोग्या या सेविका बनकर संतुष्ट नहीं होती, वरन् अपने शासक पर शासन करना चाहती है। वह अधिकार नहीं माँगी, वरन् पुरुष को अपने अधिकार में रखती है। पति के साथ अपने अस्तित्व न होने की स्थिति में ही वह घर छोड़ देती है।

जैनेंद्र की कहानियों में जाह्नवी, घुँघरू, भाभी आदि नारी के चरित्र समाज में योगदान देनेवाले चरित्र हैं। जाह्नवी की नायिका 'जाह्नवी' प्रेम-हेतु अपने अस्तित्व को बेहद शालीनता के साथ बचा ले जाती है। ब्रजनंदन को वह पत्र में लिखती है—'विवाह में आप मुझे लेंगे और स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को दे ही दूँगी, आपके चरणों की धूलि माथ लगाऊँगी। आपकी कृपा मानूँगी। कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग हटा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी, निर्णय आपके हाथ है; जो चाहे, करें।' ²³ नारी अनुशासन के दायरे में किस प्रकार अपनी अस्मिता-अस्तित्व की रक्षक है, जैनेंद्र का यही अस्तित्ववादी चिंतन यहाँ प्रस्फुटित हुआ है।

व्यक्तिवादी चेतना में नारी-व्यक्तित्व पर उनकी दृष्टि नारी के समाजगत ढाँचे में योगदान के परिप्रेक्ष्य में अधिक विचरती है। पुरुष के प्रति पक्षधरता पर वे गंभीरता से कहते हैं— 'मैं तो केवल इतना चाहता हूँ कि दोनों का कर्तव्य है कि पूरी निष्ठा से समाज की संरचना में अपना योगदान दें।' ²⁵

जैनेंद्र के बहुआयामी व्यक्तित्व के अध्ययन से स्पष्ट है कि वे काल के साक्षी के रूप में तटस्थ रहकर अच्छाई-बुराई को देखते, भोगते, लिखते और चिंतन करते हैं और उनके साहित्य के मूल में मानव नीति का प्राधान्य है। वे विश्व के स्तर पर पड़ोसी को भूल जाना उचित नहीं समझते। 'यद्यपि यह सत्य है कि वृहत्तर हित के हेतु लघुतर हित का त्याग सराहनीय है, किंतु पड़ोसी के दुख-दर्द की उपेक्षा करके होने वाली विश्व-प्रगति मानवता के विपरीत है।' ²⁶ अर्थात् व्यक्तिवादी चेतना मुखर रूप से उभरी है। इसी प्रकार अनामस्वामी कहते हैं कि पर धर्म व्यष्टि का समष्टि सर्वांग विसर्जन है। दयालु व्यक्तिवादी चेतना से प्रेरित हो कहते हैं तो क्या पास के पड़ोसी को लाँघकर धर्म की उपलब्धि होगी। यह मानना होगा।' ²⁷ जैनेंद्र की व्यक्तिवादी चेतना व्यष्टि से समष्टि की ओर बढ़ती है तथा इकाई की संरचना में गुणवत्ता की दृष्टि रखते हुए समाजगत ढाँचे की मजबूती का प्रतीक बन जाती है और इस प्रकार जैनेंद्र समाज-कल्याण का प्रेरक बन जाते हैं। निःसंदेह जैनेंद्र की व्यक्तिवादी चेतना युग-निर्माण चेतना की संवाहक है, जिसे नकारना या उपेक्षित करना न तो साहित्य के लिए श्रेयस्कर है और न समाज के लिए।

संदर्भ

1. जैनेंद्र : साक्षी है पीढ़ियाँ, संपादक विष्णु प्रभाकर, पृ० 8, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
2. वही, पृ० 237
3. वही, पृ० 34
4. वही, पृ० 22
5. वही, पृ० 01
6. वही, पृ० 37
7. वही, पृ० 03
8. जैनेंद्र के कथासाहित्य में चित्रित सामाजिक समस्याएँ, सुरेश गायकवाड़, परिशिष्ट, साहित्य रत्नाकर, 104अ/118 रामबाग, कानपुर
9. पूर्वोक्त
10. जैनेंद्र का जीवन-दर्शन, डॉ० कुसुम कक्कड़, पृ० 209, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
11. अनामस्वामी, जैनेंद्रकुमार, पृ० 144, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
12. वही, पृ० 32
13. मुक्तिबोध, जैनेंद्रकुमार, पृ० 25, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
14. वही, पृ० 25
15. वही, पृ० 29
16. वही, पृ० 103
17. त्यागपत्र, जैनेंद्रकुमार, पृ० 74, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
18. वही, पृ० 25
19. वही, पृ० 69
20. अनाम स्वामी, जैनेंद्रकुमार, पृ०-135, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
21. यामा (अनुवाद), जैनेंद्रकुमार, पृ० 12, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
22. अनंतर, जैनेंद्रकुमार, पृ० 83, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
23. परख, जैनेंद्रकुमार, पृ० 87, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
24. जैनेंद्र की कहानियाँ (चतुर्थ भाग), पृ० 88, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
25. प्रस्तुत प्रश्न, जैनेंद्रकुमार, पृ० 138, पूर्वोदय प्रकाशन, 7/8 दरियागंज, दिल्ली
26. जैनेंद्र साक्षी हैं पीढ़ियाँ, विष्णु प्रभाकर (भूमिका), पृ० 5
27. जैनेंद्र के कथासाहित्य में चित्रित सामाजिक समस्याएँ, सुरेश गायकवाड़, परिशिष्ट

संत गुरु रविदास वाणी में उत्तर-संरचनावाद

पूनम भौरियाँ

उत्तर-आधुनिकतावाद ने संरचनाधर्मिता के सारे प्रयासों का निषेध करते हुए उत्तर-संरचनावाद की नींव रखी। जाक देरिदा ने उत्तर-संरचनावाद का प्रवर्तन करते हुए बताया कि भाषा पाठ में अर्थ की सृष्टि करती है और समीक्षक इसी धर्म को सामने लाता है।

‘उत्तर-संरचनावाद ने बताया कि मूलतः रचनाकार और समीक्षक में कोई अंतर नहीं होता है। दोनों ही रचयिता हैं और दोनों ही अर्थ का निर्माण करते हैं। लेखक, शब्द और अर्थ का कार्य जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से पाठक इस खेल में शामिल होता है।’¹

देरिदा को उत्तर-संरचनावाद का जनक कहा जा सकता है। उन्होंने इसके अविर्भाव को 1966 से बताया है। देरिदा वस्तुतः भाषाई उत्तर-संरचनावाद के प्रणेता थे। उन्होंने सोसोरे के व्याकरणवाद में परिवर्तन किया। वे पहले विचारक हैं, जिन्होंने भाषा की संरचना से अपने-आपको हटाकर लेखन पर केंद्रित किया। जार्ज रिट्ज़र ने देरिदा के संरचनावाद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है— ‘देरिदा पश्चिमी लोगों के सेंट्रिज़्म यानी सत्य, शिव और सुंदर तथा पाठकों के लेखन को विखंडित करने के बाद हमें आगे क्या होगा, विकल्प क्या है, इसका कोई उत्तर नहीं देते।’²

देरिदा का उत्तर-संरचनावाद बहुत स्पष्ट है। वे भाषाई संरचना को अपनाते हैं। माइकल फूको दूसरी प्रकार के उत्तर-संरचनावादी हैं। माइकल फूको की पुस्तक ‘आरक्योलॉजी ऑफ़ नोलेज’ उल्लेखनीय ग्रंथ हैं, जिसमें कई जगह हमें उत्तर-संरचनावाद देखने को मिलता है। वे इस पुस्तक में ज्ञान और उसके तत्त्वों-विचारों, विमर्श की विधियों आदि का विवेचन करते हैं। वे कहते हैं— ‘जब हम लेखन और वाणी के कथनों की तुलना करते हैं, तब हमें इनमें बड़ा अंतर दिखाई देता है। कुछ विमर्श ऐसे हैं, जिन्हें व्यवहार में लाया जाता है और ये विमर्श ही वैज्ञानिक विमर्श की श्रेणी में आते हैं। अपने इस अध्ययन में फूको कहीं भी ज्ञान और शक्ति के संबंधों को नहीं पाते। ऐसी अवस्था में उनका प्रारंभिक रुझान भाषाई संरचना के साथ ही था।’³

जब हम उत्तर-संरचनावाद की चर्चा करते हैं, तब हमें भारत का उल्लेख अवश्य करना चाहिए। हमारे यहाँ जो भी समाजशास्त्रीय अनुसंधान और सिद्धांत-निर्माण का प्रयास हो रहा है, निश्चित रूप से उसमें उत्तर-संरचनावाद के क्षेत्र में कुछ नहीं हुआ है। इस परंपरा की कोई धारा यहाँ नहीं है। लेकिन योगेंद्रसिंह ने आई०सी०एस०आर० की ट्रेंड रिपोर्ट (1969-1979) में संरचनावाद के प्रारंभ की चर्चा की है। वे कहते हैं कि भारत में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अध्ययनों के प्रारंभ की बात है, इसका नेतृत्व लुई डयूमो की पुस्तक ‘होमो हेरारकिकस’ ने

किया है। इस पुस्तक का आधार संरचनावाद है। वे कहते हैं—

‘एक बात निश्चित है : भारतीय समाज अपने संपूर्ण रूप में बदला नहीं है। समाज में परिवर्तन आया है, लेकिन समाज का परिवर्तन नहीं हुआ है।’⁴

मोटे रूप में कहा जा सकता है कि जिन विचारकों ने उत्तर-आधुनिकता को विकसित किया है, वे ही विचारक उत्तर-संरचनावाद के विकास के लिए उत्तरदायी हैं। फूको, ल्योटाड, जेमेसन, देरिदा, आदि कई उत्तर-आधुनिक विचारक हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अस्तित्ववाद के विरोध में अर्थात् सार्त्र के जवाब में संरचनावाद आया। संरचनात्मक मार्क्सवाद कई ऐतिहासिक और वैचारिक गुत्थियों में फँस गया और इसकी अकालमृत्यु हो गई, जिसे हम उत्तर-संरचनावाद कहते हैं। वह भी उत्तर-आधुनिकतावाद का शिकार हो गया। उत्तर आधुनिकता की लोकप्रियता इतनी प्रभावशाली है कि इसमें उत्तर-संरचनावाद अपना पृथक् अस्तित्व ही खो बैठा है। वह उत्तर-आधुनिकता का पर्यायवाची-मात्र रह गया। जब कोई सिद्धांत मरता है, तब उसे ओढ़ाने के लिए कफ़न लाने के लिए दौड़ना नहीं पड़ता। लाश की तरह आज भी उत्तर-संरचनावाद जिंदा है।

विखंडनवाद और उत्तर-संरचनावाद :

‘उत्तर-संरचनावाद की मान्यता है कि रचना की अंतिम व्याख्या हो सकती है, जबकि विखंडनवाद ठीक उसके उलट कहता है कि मूल रचना की अंतिम व्याख्या नहीं हो सकती। ‘विखंडनवाद का मानना है कि भाषा में ‘वाक्’ (मौखिक) नहीं ‘लिखित’ ही प्रथम है, जो उसे भारतीय और पाश्चात्य भाषाई मान्यताओं से अलग करता है।’⁵

वास्तव में उत्तर-आधुनिकता, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, विखंडनवाद सभी मुख्यतः अँग्रेजी के शब्द ‘डिक्स्ट्रक्शन’ का पर्याय हैं।

नीचहु उँच करे मेरा गोबिंद, काहु ते न डरै।

संत गुरु रविदास मध्यकालीन भारतीय लोक-जागरण के पुरोधा संतों, भक्तों और लोकधर्मों के गुरुओं में शीर्ष स्थान के अधिकारी हैं। इनका जीवनकाल सन् 1385-1518 (संवत् 1445-1575) के बीच माना जाता है। ‘ये गुरु रामानंद के प्रमुख शिष्य और कबीर के समकालीन थे। कबीर की अपनी उक्ति— ‘संतन में रविदास संत’, कबीर का अपना काल 1456-1575 विक्रमी स्वीकार होने पर, रविदास के उनका समकालीन या पूर्वकालीन होने की धारणा को पुष्ट करती है।’⁶

उत्तर-संरचनावाद यह कहता है कि किसी भी रचना की अंतिम व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार संत रविदास वाणी की व्याख्या उत्तर-संरचनावाद को आधार बनाकर की है। रविदास वाणी का महत्त्व और प्रासंगिकता छह सौ साल पहले भी थी और आज भी है। अर्थात् संत रविदास की आज से छह सौ साल पूर्व कही गई बातें, आज भी सही हैं, यह अनुभूति आज भी उतनी ही गहरी और व्यापक है, जितनी तब थी।

संत रविदास ने अपनी वाणी के द्वारा मानव को यह संदेश दिया कि समाज में धन-दौलत, कुल-जाति आदि का कोई स्थान नहीं। वे जातिवाद के कट्टर विरोधी हैं—

जात-पाँत के फेर में मंहि उरझि रहई सभ लोग

मानुषता कूं खात हई, रविदास जात का रोग।⁷

संत रविदास ने हिंदू और मुसलमान दोनों जातियों में एकता स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। सबमें एक ही ज्योति का प्रकाश है। इसलिए सबमें प्रेमभाव होना चाहिए—

मुसलमान सो दोस्ती, हिंदुअन सों कर प्रीत।

रविदास जोति सब राम की, सभ हैं अपने मीत।⁸

उनका विश्वास था कि जब तक जाति-पाँति का यह रोग दूर नहीं होता, तब तक भारत का शरीर स्वस्थ नहीं हो सकता। जब शरीर ही स्वस्थ नहीं है, उसमें स्वस्थ मन कैसे निवास कर सकता है? अतः जब तक शरीर और मन, दोनों स्वस्थ नहीं होंगे, तब तक मानव एक नहीं हो सकेगा—

जात-जात में जात है, ज्यों केलन में पात।

‘रविदास’ न मानुष जुड़ सकैं, जौ लौ जात न जात।⁹

इस प्रकार उन्होंने अपने काव्य में जात-पात का विरोध किया तथा हिंदू और मुसलमान की दोस्ती और प्रेम को बढ़ावा दिया। यदि आज हम उनके ‘दर्शन’ का अनुसरण करें तो समाज की हर क्षेत्र में फैली कुरीतियों से छुटकारा मिल सकता है।

उन्होंने अपनी वाणी में कर्म-बंधन का गंभीर चिंतन किया है। निष्काम भाव से किया गया कार्य मानव को बंधन मुक्त कर सकता है। मुँह से प्रतिदिन राम का नाम लें और हाथों से अच्छे कर्म करें तो सभी विघ्न-बाधाओं से मुक्ति मिल जाती है—

जितना भजै हरिनाम नित, हत्थ करहि नित काम।

रविदास भय निहचित हय, भय चित करेंगे राम।¹⁰

यहाँ सभी-कुछ निस्सार है। बंधनों से छुटकारा केवल सच्चे कर्म एवं सच्ची भक्ति से मिल सकता है। कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए वह कहते हैं कि—

रविदास मनुष का धरम है, करम करहि दिन-रात

करमनहिं फल पावना, नहिं काहू के हाथ।¹¹

संत रविदास का काव्य एक क्रांतिकारी काव्य था। मध्ययुग तो रूढ़ि, अंधविश्वासों और कुरीतियों की बेड़ियों का युग था। इतिहास बताता है कि साहित्यिक, धार्मिक, राजनीतिक दर्शन प्रत्येक स्तर पर संतों ने लकीर को टुकराते हुए फ़कीर की भूमिका निभाई। संत रविदास ने जीवन और जगत् की वास्तविकता को पहचाना था। उन्होंने जो भी चेतावनियाँ दी हैं, वे समाज के लिए सदैव कल्याणकारी हैं, कल भी थीं और आज भी हैं—

रविदास जिभ्या स्वाद बस, जउ मांस मछरिया खाय,

नाहक जीव मारन बदल, आपन सरीर कटाय।

रविदास जीव मत मारहिं, एक साहिब सभ माहिं,

सभी माहिं एकउ आत्मा, दुसरह कोउ नाहिं।¹²

संत रविदास ने सभी वर्गों के व्यक्तियों के लिए अन्न प्रदान करने की बात अपने काव्य में कही है। यह नहीं है कि एक विशेष वर्ग तो ऐश्वर्य के साथ रहे और उस समाज का दूसरे वर्ग को एक जून की रोटी भी नसीब न हो। उन्होंने ऐसी आर्थिक प्रणाली को अपनाते पर जोर दिया, जिसमें सभी छोटे-बड़े व्यक्तियों को अन्न की सुविधा हो। वे सच्चे समाजवाद का स्वरूप प्रकट करते हुए कहते हैं—

ऐसा चाहूँ राज मैं, जहाँ मिलै सबन को अन्न।
छोट बड़ौ सब सम बसै, रविदास रहै प्रसन्न।¹³

संत रविदास सीधे रूप में राजनीति के अखाड़े से जुड़े हुए नहीं थे, लेकिन उनमें एक अच्छी राजनीतिक सोच थी। उनके काव्य में सभी संस्कृतियों की एकता के सुंदर दर्शन होते हैं, जिसकी राष्ट्र को सदा आवश्यकता रहेगी। पराधीनता को उन्होंने कलंक स्वीकार किया है—

पराधीनता पाप है, जान लेहू रे मीत।
'रविदास' दास पराधीन सो, कौन करै रे प्रीत।¹⁴

अर्थात् पराधीनता तो एक पाप है, तुम अच्छी तरह मित्र जान लो। पराधीन व्यक्ति से कोई भी प्रेम नहीं करता है।

रविदास की वाणी में सामाजिक बुराइयों से जुड़े कितने ही लोकतत्त्व युक्त उदाहरण सुलभ हो जाते हैं। मांसाहार और मदिरापान के गर्हित रूप को वे भक्ति-सुधा के समक्ष रखकर एक बड़े सत्य की ओर संकेत करते हैं। उनके अनुसार—

रविदास मदिरा का पीजिए, जो चढ़े उतराय।
नाम महारस पीजिए जो चढ़े नाहिं उतराय।¹⁵

संत गुरु रविदास सामाजिक समता के अग्रदूत थे। उन्होंने प्रजातांत्रिक समाजवाद की पूरी रूपरेखा अपनी सुप्रसिद्ध साखी 'बेगमपुरा सहर' में यों वर्णित की है—

बेगमपुरा सहर को नाऊँ, दुख अदोह तिहि ठाऊँ
ना सवीस खिराजु, न मालू, खडफू न खता न तरसू जमालू
काइमू दाइमू सदा पातिसाही, दोम न सेम एक सो आही।¹⁶

रविदास जी का राज्य ऐसा है, जिसमें न किसी को कोई ग़म है, न दुख, न चिंता। जहाँ न कोई छोटा है, न कोई बड़ा। जहाँ किसी तरह की रोक-टोक, टैक्स-लगान नहीं। ऐसी सुंदर आबोहवा वाले शहर में जो रहेंगे, वे सभी हमारे मित्र हैं। भला इससे बढ़कर समाजवाद की और क्या संकल्पना हो सकती है?

पारस्परिक स्नेह और सद्भाव, घृणा और विद्वेष की भेंट चढ़ चुके हैं। संकीर्णता, कट्टरता और धर्मांधता मनुष्यता पर भारी पड़ने लगी है। वास्तविकता तो यह है कि हिंदू और मुसलमान दोनों एक ही खुदा या ईश्वर के बंदे हैं, दोनों में एक ही नूर है। दोनों का संबंध तो कंचन और कंगन जैसा है—

रविदास कंगन अरु कनक माहि, जिमी अंतर कहु नाहिं।
तेसउ अंतर नहीं, हिंदुअन तुरकन माहिं।¹⁷

सत्य, संतोष एवं शुद्धाचरण को जीवन का सच्चा आधार मानते हुए रविदास जी कहते हैं कि काम, क्रोध, मद, लोभ आदि पाँच विकारों का दमन करनेवाला साधक प्रभु-सम हो जाता है—

रविदास सदा ही रखिए, मन महिं सहज सभाओ,
राखो नहीं कुपथ पग, जौ लोरौं सुख चाहो।¹⁸

इस प्रकार गुरु रविदास जी के जीवन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव जाति से नहीं सत्कर्मों और भगवद्भक्ति से ऊँचा होता है। अतः वे सच्चे मानवतावादी, समतावादी,

समदर्शी, समन्वयवादी और राष्ट्रीय एकता के समर्थक थे। उनकी दिव्य वाणी की ज्योति आज तक निराश हृदयों में आशा का संचार करती है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि वास्तव में उत्तर-आधुनिकता, संरचनावाद शब्द 'डिकंस्ट्रक्शन' का हिंदी-पर्याय हैं। उत्तर संरचनावाद यह कहता है कि किसी भी रचना की अंतिम व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार संत रविदास की वाणी का महत्त्व छह सौ साल पहले भी था और आज भी है। उन्होंने अपनी वाणी में लोकतंत्र की स्थापना करते हुए कहा था कि मैं एक ऐसा राज्य चाहता हूँ, जहाँ पर सबको अन्न प्राप्त हो तथा अमीर-ग़रीब उस राज्य में एक समान हों। अतः इस प्रकार सुख-सुविधाओं से संपन्न राज्य और सबकी समानता की जो बात उन्होंने छह सौ साल पहले अपनी वाणी में कही, वह आज भी हमारी लोकतंत्रीय व्यवस्था में हमें मिलती है।

संदर्भ

1. बालेंदुशेखर तिवारी, वस्तुनिष्ठ काव्यशास्त्र : संपूर्ण भारतीय पाश्चात्य काव्यशास्त्र, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ० 138
2. एस०एल० दोषी, आधुनिकता, उत्तर-आधुनिकता एवं नव-समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रावत पब्लिकेशंस, जयपुर, 2005, पृ० 386
3. वही, पृ० 388
4. वही, पृ० 385
5. दैनिक ट्रिब्यून, चंडीगढ़, रविवार 17 फरवरी 2008, प्रो० मीरा गौतम
6. हिंदी साहित्य कोश, भाग-2, वाराणसी : ज्ञानमंडल 2020 वि०, पृ० 510
7. पृथ्वीसिंह आज्ञाद, रविदास दर्शन, गुरु रविदास संस्थान, चंडीगढ़, साखी-121
8. वही, साखी 147
9. काशीनाथ उपाध्याय, एस०एल० सोंधी, सचिव, राधास्वामी सत्संग व्यास, अमृतसर (पंजाब) 1985, पृ० 131
10. पृथ्वीसिंह आज्ञाद, रविदास दर्शन, गुरु रविदास संस्थान, चंडीगढ़, 1943, पृ० 71
11. राजेंद्रसिंह, संत रविदास और गुरु अमरदास का काव्य, पुष्पांजलि प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृ० 113
12. पृथ्वीसिंह आज्ञाद, रविदास दर्शन, गुरु रविदास संस्थान, चंडीगढ़, 1943, पृ० 71
13. वही, पृ० 82
14. धर्मपाल सिंघल, रविदास दर्पण, पृ० 266, साखी-258
15. बी०पी० शर्मा, संत गुरु, रविदास वाणी, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, छठा संस्करण, 1948, पद-117
16. वही, पद-64
17. वही, पद-95
18. वही, पद-119

□ 1627, सेक्टर-5
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

मशीनी अनुवाद : विविध आयाम

अजित सिंह, शोधछात्र

महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

वर्धा (महाराष्ट्र)

मशीनी अनुवाद का सीधा अर्थ है— कंप्यूटर द्वारा अनुवाद। मानव सृजन को एक भाषा से दूसरी भाषा में बदलना एक महत्वपूर्ण कार्य है। यह कार्य मानव मस्तिष्क ही ठीक तरह से कर सकता है। हम लगभग 60 वर्षों से अधिक कंप्यूटर द्वारा अनुवाद करने का प्रयास कर रहे हैं और सफल भी हुए हैं। डॉ० सविता मिश्र भी मशीनी अनुवाद के बारे में कहती हैं—

‘कंप्यूटर के अविष्कार ने अनुवाद कला को और सरल बहु-सुलभ बना दिया है। वह दिन दूर नहीं, जब हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अनुवाद-कला का प्रवेश होगा और ‘इक्कीसवीं शताब्दी को अनुवाद-शताब्दी से अभिहित किया जाएगा।’

सन् 1940 के दशक में (1945 के आसपास) द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मशीनी अनुवाद की शुरुआत हुई। किसी भी वैज्ञानिक कार्यक्रमलाप के लिए 60 वर्ष से अधिक का समय काफी लंबा समय माना जाएगा। युद्ध में विभिन्न राष्ट्रों के सैनिक एक ही मोर्चे पर लड़ते थे। भिन्न-भिन्न भाषाओं को बोलने वाले सैनिकों को जारी की जाने वाली सूचनाओं के लिए मशीन की सहायता ली गई, ताकि संदेश यथाशीघ्र अनूदित होकर सही लोगों तक पहुँच सके। इस प्रकार सर्वप्रथम अनुवादकार्य के लिए मशीन का उपयोग तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुआ। लेकिन इस तरह मशीनी अनुवाद में नए युग का सूत्रपात हुआ। कंप्यूटर और अनुवाद के क्षेत्र में यह एक युगांतकारी घटना सिद्ध हुई। इससे बहुभाषिक अनुवाद तुरंत करने की संभावनाएँ खुलीं और कंप्यूटर-विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान और अनुप्रयोगों का नया सिलसिला शुरू हुआ। जैसे-जैसे कंप्यूटर का क्रमिक विकास होता गया, वैसे-वैसे अनुवाद के क्षेत्र में उसके प्रयोग की संभावनाएँ बढ़ती गईं।

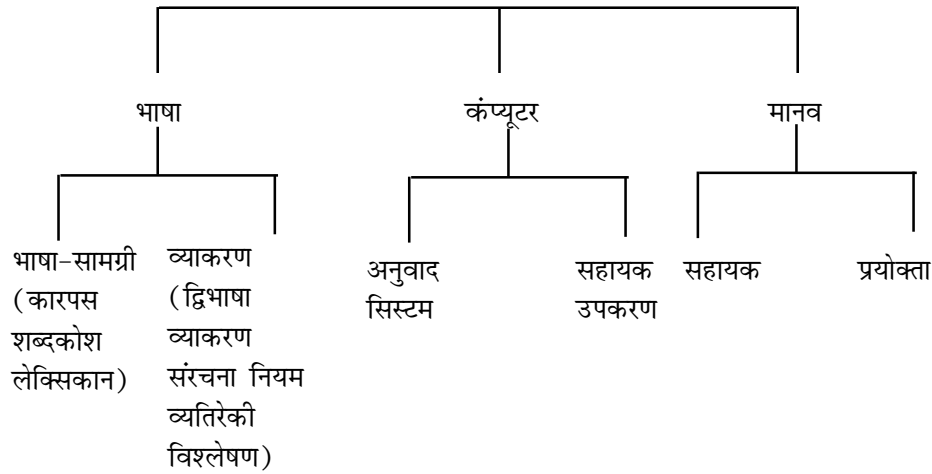
वस्तुतः मशीनी अनुवाद का प्रारंभ वारेन वीवर द्वारा 1947 में लिखे गए लेख ऑन ट्रांसलेशन से माना जाता है। वीवर से पहले ही मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में पूर्व-संपादन तथा पश्च-संपादन की संकल्पना का विकास हो चुका था। जैसा कि स्पष्ट है कि मशीनी अनुवाद एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें कंप्यूटर प्रणाली के जरिए एक भाषा से दूसरी भाषा में अपने-आप अनुवाद होता है, लेकिन अनूदित सामग्री इस बात पर निर्भर करती है कि कंप्यूटर के डाटाबेस में कितनी द्विभाषी शब्दावली, कितने मुहावरे और कितने सूक्ष्म व्याकरणिक नियम डाले गए हैं। वास्तव में यदि देखा जाय तो अनुवाद मूल से एक बौद्धिक प्रक्रिया है, जिसकी

क्षमता केवल मनुष्य के पास है, अतः कोई भी मशीन या कंप्यूटर पूरी तरह मानव-बुद्धि की जगह नहीं ले सकता और इसलिए मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया में भी मानव के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ती है। यही कारण है कि मशीनी अनुवाद को तकनीकी अर्थ में मानव-आश्रित-मशीन-अनुवाद कहा जाता है।

मशीनी अनुवाद के तीन प्रमुख घटक हैं—

कंप्यूटर, मानव और भाषा। भाषा के अंतर्गत दो उपघटक हैं— भाषा-सामग्री (Corpus) और व्याकरण। कंप्यूटर के अंतर्गत दो उपघटक हैं— अनुवाद सिस्टम और सहायक उपकरण। मानव की दो मुख्य भूमिकाएँ हैं— सहायक के रूप में और प्रयोक्ता के रूप में। इस वर्गीकरण को हम इस प्रकार चित्रित कर सकते हैं :

मशीन अनुवाद के घटक



मशीनी अनुवाद वीवर के समय (1947) से अब तक पाँच चरण पार कर चुका है, जिसमें 1966 से 1976 का अंधकार युग (Dark-age) भी शामिल है। प्रारंभ में रूसी-अंग्रेजी अनुवाद के क्षेत्र में SYSTRAN अनुवाद तंत्र पर कार्य शुरू हुआ था, जिसका उद्देश्य अंतरिक्ष कार्यक्रम से संबंधित महत्वपूर्ण रूसी दस्तावेजों का अंग्रेजी-रूसी में अनुवाद उपलब्ध कराना था। वास्तव में मशीनी अनुवाद का आरंभिक प्रयास अंग्रेजी और अन्य यूरोपीय भाषाओं के संदर्भ में ही था।

सन् 1989 से मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में नए युग का सूत्रपात होता है। इस युग में मशीनी अनुवाद की विधियों-प्रविधियों में एक महत्वपूर्ण अंतर आया। जहाँ मशीनी अनुवाद के प्रारंभिक चरण में शाब्दिक-प्रतिस्थापन विधि का ही प्रयोग होता था, वहीं नए युग में कार्पस आधारित मशीनी अनुवाद पर बल दिया जा रहा है। मशीनी अनुवाद में भारतीय भाषाएँ पश्चिमी भाषाओं से आर्थी संबंधों को प्रकट करने की दृष्टि से भिन्न हैं। पश्चिमी भाषाओं में जहाँ बद्ध शब्दक्रम होता है, वहीं भारतीय भाषाओं में अपेक्षाकृत मुक्त शब्दक्रम पाया जाता

है। दूसरा अंतर यह भी है कि भारतीय भाषाओं से विभक्तियों, परसर्गों अथवा दोनों द्वारा आर्थी संबंध व्यक्त होते हैं।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, कानपुर द्वारा संचालित भारतीय भाषाओं के परस्पर अनुवाद परियोजना के अंतर्गत हिंदी-तेलुगु अनुवाद का कार्य लिया गया। उपलब्ध व्याकरणिक मॉडलों के आधार पर हिंदी के पार्सर निर्मित किए गए, लेकिन हिंदीभाषा विश्लेषण में जो समस्याएँ आईं, उनके लिए विशिष्ट विश्लेषण मॉडल की आवश्यकता महसूस की गई। सन् 1992 में आई०आई०टी० कानपुर में संपन्न Computer Processing in Asian Languages विषयक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी में यह मान लिया गया कि कंप्यूटर से पूरा अनुवाद कराना एक दुष्कर एवं असंभव कार्य है, अतः पूर्ण अनुवाद तंत्र विकसित करने की अपेक्षा सहायक अनुवाद तंत्र विकसित करने पर ध्यान दिया जाय, जो वर्तमान में आई०आई०आई०टी० हैदराबाद में किया जा रहा है। वास्तव में भारत में मशीनी अनुवाद के प्रभावी कार्य बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में ही शुरू हुए।

मशीनी अनुवाद एक अंतराविषयी प्रयास है। आरंभ में मशीनी अनुवाद को मूलतः कंप्यूटर इंजीनियरों का कार्य समझा जाता था, लेकिन भाषायी सिद्धांतों के विकास के साथ दृष्टिकोण में भी बदलाव आया और महसूस किया गया कि अनुवाद का क्षेत्र कई विषयों के विशेषज्ञों के एक साथ कार्य करने की अपेक्षा करता है। व्यावहारिक अनुभव बताते हैं कि मशीनी अनुवाद में 70 प्रतिशत कार्य भाषाविज्ञानी, कोशविज्ञानी एवं अनुवाद-विशेषज्ञों का है। शेष 30 प्रतिशत कार्य कंप्यूटर विज्ञानी या कंप्यूटर प्रोग्रामर का है। इस प्रकार कंप्यूटर विज्ञान और भाषाविज्ञान दोनों के समन्वित प्रयास मिलकर इस प्रौद्योगिकी क्षेत्र की नई संभावनाएँ तलाश सकते हैं।

वर्तमान में मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में काफी कार्य हो रहे हैं। प्रारंभ में जहाँ सामान्य एवं पूर्ण भाषा के आधार पर अनुवाद-तंत्र विकसित करने का लक्ष्य था, वहाँ अब भाषा के विशिष्ट प्रयोग-क्षेत्रों के आधार पर सीमित अनुवाद-तंत्र के विकास पर बल दिया जा रहा है। इंटरनेट के विकास ने अनुवाद को एक नयी दिशा दी है। अब अनुवाद की परिशुद्धता पर बल न देकर संप्रेषणीयता पर बल दिया जाने लगा है। वेब आधारित अनुवाद के विकास से मशीनी अनुवाद के उद्देश्यों में प्रगति हुई है। पहले इस प्रकार के अनुवाद को अनुवाद-उपकरण के रूप में माना जाता था, किंतु अब इसे संप्रेषण-उपकरण के रूप में माना जाने लगा है। वर्तमान में विश्व की महत्त्वपूर्ण भाषाओं में वेब अनुवाद की सुविधा प्राप्त है। विभिन्न सर्विस प्रोवाइडर (याहू, गूगल इत्यादि) सर्च इंजन का कार्य तो करते हैं, साथ ही अनुवाद की सुविधा के भी लिंक उपलब्ध कराते हैं। भारत सरकार द्वारा भाषा-प्रौद्योगिकी विज्ञान 2010 में वेब आधारित अनुवाद का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

यदि हम मशीनी अनुवाद की गुणवत्ता की बात करें तो यह माना जाता है कि कंप्यूटर अनुवाद 95 प्रतिशत यथातथ्य होना चाहिए। सन् 1950 के दशक से ही अनुवाद की गुणवत्ता में शाब्दिक धरातल पर अधिक जोर था। माना जाता था कि अन्य धरातल स्वतः रक्षित रहेंगे। लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण अधिक यथार्थपरक है। आज अर्थपरकता पर अधिक जोर दिया जाता है। अर्थपरक मानदंडों से अनुवाद की गुणवत्ता परखी जाती है। गुणवत्ता के

अन्य धरातलों को समुचित अर्थ के प्रेषण की दृष्टि से ही सुरक्षित रखा जाता है, इस प्रकार 95 प्रतिशत यथातथ्यता की अवधारणा अब पुरानी प्रतीत होती है।

प्रश्न यह भी उठता है कि क्या अनुवाद की कंप्यूटर प्रणालियाँ अनूदित पाठ की गलतियों का पता लगा सकती हैं अथवा क्या ऐसी गलतियों का पता लगाने के लिए किसी अनुवादक को स्रोत भाषा पाठ और लक्ष्य भाषा की तुलना करते हुए पुनरीक्षण करना संभव होगा। मौजूद कंप्यूटर प्रणालियाँ खूब गलतियाँ करती हैं। ये छोटी भी होती हैं और गंभीर गलतियाँ भी, लेकिन ये प्रणालियाँ स्वयं गलतियों का पता नहीं लगा सकतीं।

इस प्रकार वर्तमान में जिस बात पर अधिक ध्यान देना अपेक्षित है, वह है— अनुवाद की गुणवत्ता। वास्तव में कोई प्रभावी, सार्वभौमिक रूप से स्वीकार्य और वस्तुनिष्ठ मापदंड न तो मानवीय अनुवाद के क्षेत्र में मौजूद है, न ही मशीनी अनुवाद के क्षेत्र में। इसलिए मशीनी अनुवाद को महत्वाकांक्षी धरातल से उतारकर वास्तविक धरातल पर स्थापित किया जा रहा है। इसमें मशीन की भूमिका तथा उसके कार्यों को स्वीकारा जा रहा है तथा मशीनी अनुवाद को मानव अनुवाद के समकक्ष बनाने के प्रयासों को छोड़कर मानव अनुवाद के सहायक के रूप में मशीनी अनुवाद को ग्रहण किया जा रहा है।

‘द्वितीय तार सप्तक’ के कवियों के काव्य में नारी-चेतना

गरिमा त्यागी, शोध छात्रा

कवि का काव्य-सृजन अपने चहुँओर के परिवेश से ही प्रेरणा प्राप्त करके काव्य में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है वरन् अगर यह कहें कि कवि की अंतस् चेतना उसके बाह्य परिवेश की परिस्थितियों का ही फल है, जिसने काव्य-सृजन को नया आयाम प्रदान किया, यह कहना ग़लत न होगा। यह चेतना कभी सामाजिक रूप में, कभी वैयक्तिक रूप में और कभी नारी-चित्रण के रूप में काव्य में ध्वनित होती आई, जो द्वितीय तार सप्तक के कवियों के काव्य में अपने गुण साम्य के कारण अधिष्ठात्री हो गई। अपनी लघुता में भी महानता, शीतलता में जीवन की ऊष्मा तथा सुंदर व कोमल तन में भी शिवम् छिपाए रहने वाली यह नारी सदैव से ही समाज के साथ-साथ काव्य की भी प्रेरक तत्त्व रही हैं।

युगों-युगों से कवि जीवन की ऊष्मामयी, आनंदमयी, उल्लासमयी, आह्लादमयी एवं अनुरागमयी अरुण किरण को काव्यजल का अर्घ्य चढ़ाते रहे हैं, कभी आसक्ति से तो कभी रागात्मक प्रेम से, कभी प्राकर्षण से तो कभी आदर व सम्मान से। जिस प्रकार लघु की अरुण किरण के संस्पर्श से जल-थल, तल-अतल, जड़-चेतन कोई भी अछूता या पृथक् नहीं रह पाता, इसी प्रकार समाज का प्रत्येक कोना, काव्य की प्रत्येक विधा नारी-चेतना के सृजन से शून्य नहीं है, क्योंकि प्राकर्षण एवं उपेक्षा के दुकूलों से प्रवाहित नारीत्व की अमर चिरंतन धारा ने जीवन के विस्तृत-व्यापक क्षेत्र को अपने स्नेह, ममत्व, करुणा, दया, उदारता आदि उदात्त गुणों के अमृत से जितना अभिसिंचित रागयुक्त किया, उसका संपूर्ण फल नारी कभी प्राप्त नहीं कर पाई। युगों से अपने अनसुलझे से जीवन-प्रश्नों के समाधान खोजती हुई नारी आज भी पुरुष के लिए ही नहीं, स्वयं के लिए भी प्रश्न बनकर रह गई है। सुदीर्घ अतीत की घुमावदार पगडंडियों के उतार-चढ़ाव में अंकित उसका अश्रु-हासमय इतिहास धूमिल होते हुए भी अस्तित्वहीन नहीं हो पाया है, जिसे द्वितीय ‘तार सप्तक’ कवियों के काव्य में उच्च स्वराभिव्यक्ति मिली। ‘वसुधा की यह सजीव कविता और प्रकृति की यह मनोरम पुत्री नारी, अनंतकाल से काव्य का प्रमुख विषय रही है। सावन की प्रथम फुहार-सी शीतल उल्लासदायिनी, जीवन पर स्नेह सलिलधारा बनकर बरसने वाली, चिर आकर्षणमयी नारी कवियों की लेखनी से अनेक आकृतियों में अंकित होती रही है।’¹ टामस मूर के शब्दों में— ‘स्त्री रात का तारा और प्रभात का हीरा है। वह तो ओस का कण है, जिससे काँटों का मुँह भी हीरों से भर जाता है।’²

‘द्वितीय तार सप्तक’ प्रयोगवादी काव्य का द्वितीय चरण है, जिसका प्रकाशन सन् 1951 में हुआ। दूसरा सप्तक के कवियों का काव्य जन-जीवन के अत्यधिक निकट प्रतीत

होता है। साथ ही इन कवियों के काव्य में जहाँ, नारी-चेतना का एक ओर सजीव और उज्ज्वल पक्ष सामने आया, वहीं दूसरी ओर इन कवियों ने नारी को केंद्रबिंदु बनाकर प्रेम और सौंदर्य की जितनी मांसल अभिव्यक्ति की है, उससे नारी केवल उपभोग की वस्तु-मात्र बनकर रह गई है, जिसका निरूपण उसके दैहिक शृंगारिक स्वरूप, चेष्टा और पुरुष से उसके काम-संबंधों के आधार पर किया गया था। अनेक बार ऐसा प्रतीत होता है कि वह पुरुष को रिझाने और उसकी दमित यौन-वासना को तृप्त करने का यंत्र-भर हो। समाज में नारी के प्रति विचित्र मानसिक संकीर्णता आ गयी थी।

नारी के संदर्भ में यह कथन अक्षरशः सत्य-सा प्रतीत होता है कि नारी भी उसी माटी के समान है, जिसकी गंध से समस्त भूमंडल सुवासित होता है। जैसे— ‘माटी का माटीपन तो सभी देखते हैं, परंतु उसी माटी में कितनी-कितनी वनस्पतियाँ उगती हैं? कितने रूप, रंग और गंध वाले पुष्प खिलते हैं, कितनी औषधियाँ अंकुरित होती हैं, कितने-कितने फल समस्त प्राणिजगत को अर्पित होते हैं? माटी की इस विपुल राशिभूत कल्याणी सुषमा से साक्षात्कार होने पर मनुष्य का हृदय किस भूमि पर अवस्थित होगा? यह कौन जानता है?’³

उसी प्रकार नारी भी पृथ्वी पर जन्म लेकर अनेक नए रिशतों को जन्म देती है। कभी बेटी के रूप में, कभी बहन के रूप में और कभी माँ के रूप में, इन्हीं रिशतों की डोर में बँधकर अपना समस्त जीवन दूसरों को अर्पित कर संपूर्ण विश्व में गौरवमय रूप में प्रतिष्ठित होती है। दूसरे सप्तक के कवियों ने नारी के गौरवमय रूप को स्थान दिया, वहीं नारी को केवल शारीरिक आकर्षण का केंद्र माना।

कहीं-कहीं इन कवियों ने नारी के सौंदर्य-पक्ष को उभारने में शब्दों की अश्लीलता को भी पार कर दिया है। इन्होंने नारी के प्रेम-सौंदर्य की जिन वृत्तियों को अश्लील, असामाजिक एवं अस्वस्थ कहकर समाज और साहित्य में दमन किया, उन्हें ही प्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत करने में गौरव का अनुभव किया। इन कवियों ने भोग को ही जीवन का लक्ष्य माना और वासना-तृप्ति एवं दैहिक-सुख को ही प्रधानता दी। इनका काव्य अध्ययन करने के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये समस्त कवि नारी के प्रति हीनभावना रखते हैं, जिससे इनके काव्य में नारी का उज्ज्वल पक्ष उभरकर सामने नहीं आता, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण शमशेर बहादुरसिंह जी के काव्य में मिलता है—

तुम हो
 तुम्हारा सुडौल बदन एक आवशार है
 जिसे मैं एक ही जगह खड़ा देखता हूँ
 ऐसा चिकना और गतिमान
 ऐसा मूर्त सुंदर उज्ज्वल

यह पूरा
 कोमल काँस में ढला
 गोलाइयों का आईना
 मेरे सीने से कसकर भी

आज़ाद है
 जैसे किसी खुले बाग़
 सुबह की सादा
 भीनी-भीनी हवा
 यह तुम्हारा ठोस बदन
 अजब तौर से
 मेरे अंदर बस गया है।⁴

ऐसा प्रतीत होता है कि नारी केवल पुरुष की इच्छा की बंदिनी थी, जिसका चित्रण इच्छानुसार किया गया। नारी के प्रति सदैव उपेक्षित दृष्टिकोण रखा गया। वास्तव में स्त्री के स्वत्व और व्यक्तित्व के प्रति असम्मान और अविश्वास नारी के लिए तरह-तरह के सामाजिक बंधनों और उसके प्रति संदेहों का कारण रहा, जिससे स्त्री-पुरुष की असमान सामाजिक स्थिति भी इन कवियों के काव्य में परिलक्षित होती है। इन कवियों ने यह भी दर्शाया है कि विश्वास की भावना जन-साधारण में कम होती जा रही है, जिसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण सीता की अग्नि-परीक्षा था। कवि नरेश मेहता जी के 'महाप्रस्थान' के 'स्वाहा-पर्व' की ये पंक्तियाँ यही स्थिति वर्णित करती हैं। इस काव्य में द्रौपदी पार्थ से कहती है कि आज तुम भी फिर उसी इतिहास को दोहरा रहे हो जो राम ने किया था, तुम वही मेरे साथ कर रहे हो, हिम-परीक्षा लेकर। वे कहती हैं कि ऐसी परीक्षाएँ देने के बाद नारी के लिए पुरुष अप्राप्य हो जाता है, क्योंकि इससे पत्नी के विश्वास को आघात पहुँचता है, उसके विश्वास का तिरस्कार हो जाता है, पारस्परिक संबंध खोखले रह जाते हैं और नारी विश्वास और अविश्वास के मध्य कटकर रह जाती है, जिसका सबसे गहरा आघात मानवीय संबंधों को पहुँचता है, कवि नरेश मेहता जी कहते हैं कि—

सीता की अग्नि-परीक्षा से
 राम को ही क्या प्राप्त हुआ
 जो तुम
 अपनी कृष्ण की हिम-परीक्षा ले रहे हो?
 पार्थ।
 प्रत्येक ऐसी परीक्षा
 पत्नी के लिए अविश्वास ही है।
 और ऐसी परीक्षा के बाद
 नारी
 पुरुष के लिए अप्राप्य हो जाती है।⁵

अन्यत्र भी इस स्थिति पर तीव्र विरोध किया गया है—

अविश्वास हो! अविश्वास ही नारी के प्रति नर का
 नर के तो सौ दोष क्षमा हैं, स्वामी है वह घर का।
 उपजा किंतु अविश्वासी नर, हाय तुझी से,
 नारी जाया होकर जननी भी है, तू है पाप पिटारी।⁶

इन पंक्तियों में नारी के आत्म-धिक्कार में पुरुष-वर्ग के प्रति धिक्कार छिपा है। अतः पुरुष-वर्ग का संकुचित दृष्टिकोण नारी के उज्ज्वल रूप को, गौरवमयी रूप को स्वीकार नहीं करता। इसलिए प्रयोगवादी युग में भी भाषा, संघर्ष की प्रणाली और अभिव्यक्ति-शिल्प भले ही बदल गया हो, लेकिन चिंता के बीज लगभग वे ही हैं।

अनेक प्रश्न स्वतः उभरते हैं कि जो मनुष्य परंपरावादी होने का दिखावा करते हैं, जिनके वचन और व्यवहार में दोहरापन है, जो एक ओर तो नारी के बारे में यह धारणा रखते हैं कि नारी पूजनीय है और कहते हैं कि जिस घर में स्त्री की पूजा होती है, वहाँ देवताओं का निवास होता है, वहीं दूसरी ओर व्यवहार में स्त्री का अपमान करते हैं। ऐसे लोगों पर धिक्कार है। इन कवियों ने काव्य में नारी के प्रति जो उपेक्षित दृष्टिकोण अपनाया है, वह निंदनीय है तथा नारी के प्रति किए गए परंपरागत अन्यायों पर चोट है।

इन कवियों ने अपने काव्य में नारी के केवल वासनामय रूप को चित्रित किया है। नारी के प्रति ये अपना विकृत दृष्टिकोण दर्शाते हैं। राकेश गुप्त और श्री ऋषिकुमार चतुर्वेदी जी के शब्दों में— 'इस कविता में यौनाकर्षण बौद्धिक जटिलता वाले विशुद्ध मानव का यौनाकर्षण है, जो न तो उसके सहज रूप को किन्हीं आध्यात्मिक शिखरों पर प्रतिष्ठित करने का प्रयासी है और न किसी नैतिकता का आवरण ओढ़ने के लिए तैयार है, न तो नारी को नरक का द्वार मानता है, न स्वर्ग की अप्सरा। नारी उसकी जीवन संगिनी है, जो जिंदगी में उसके साथ-साथ खटती और पिसती है, जिसका साथ होना उसे अच्छा लगता है और जिसका दूर होना उसमें एक उदासी भर देता है, जिसका सहज सुंदर रूप उसे लुभाता है और भोग के लिए आमंत्रित करता है। वह भोग एक सहज प्रवृत्ति है, वह तन और मन दोनों को प्रभावित करता है और विरहकाल में अपनी स्मृतियों को जगाकर मन में एक हल्का सूनापन भर देता है।' ⁷

इतना ही नहीं जब प्रेम का वर्णन होता है तो मध्यकालीन भक्त की राधा धर्मवीर भारती जी की राधा से बिल्कुल मेल नहीं खाती, क्योंकि भक्तिकाव्य की राधा समर्पण जानती है, तो भारती की राधा अपने अहं का विसर्जन नहीं कर पाती। इससे दृष्टिगत होता है कि आज की नारी अपना स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। उसे आत्मसम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करना अच्छा लगता है। फलस्वरूप भारती की राधा का व्यक्तित्व समकालीन संदर्भों से जुड़ा होते हुए भी अपने-आपमें स्वतंत्र है। यही कारण है कि भारती की राधा में सर्वाधिक मात्रा में अस्तित्व का प्रश्न बार-बार गुंजरित होता है—

शब्द, शब्द, शब्द

तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु-संख्यातीत

पर सबका अर्थ मात्र एक है—

मैं

मैं

केवल मैं। ⁸

इस प्रकार यह परिलक्षित होता है कि इन कवियों ने केवल नारी के वासनामय रूप का चित्रण नहीं किया, वरन् उसके व्यक्तित्व पक्ष को भी अपने काव्य में उकेरने का प्रयत्न

किया, जिससे 'कनुप्रिया' के माध्यम से भारती की चिंतनशीलता एक जीवन-दर्शन मुखर हुआ है। यह चिंतन 'कनुप्रिया' के रूप में आधुनिक स्वावलंबी नारी के व्यक्तित्व को मुखरित करता है, जो पुरुष के प्रति समर्पित होते हुए भी उसके अहंग्रस्त स्वार्थी युद्धोन्मादी व्यक्तित्व के प्रति शंकालु है। इससे इन कवियों के काव्य में नारी के अस्तित्व को स्वर मिला है, जिससे उसके आत्मसम्मान की भावना को बल मिलता है।

धर्मवीर भारती जी की 'कनुप्रिया' राधा व जयदेव की शृंगारप्रिय नायिका है, न विद्यापति की कामतृप्त सौंदर्य श्लाका, और न ही मध्यकालीन सूर आदि कवियों की प्रेममूर्ति चित्रित हुई। भारती जी सदैव तन्मयता और सहजता के पक्षधर, साधक रहे हैं और क्षण के प्रति सर्वस्व समर्पण भारती जी के स्वाभावानुकूल ही है। जयदेव एवं विद्यापति ने इस वर्णन में नारी के मांसल शरीर रूप को अधिक महत्त्व दिया तो सूरदास ने राधा के व्यक्तित्व को सामाजिक दायित्वपूर्ण युगानुकूल रूप में ढाला। परंतु भारती जी की प्रेमिका राधा इन कवियों से अलग युग-सापेक्ष रुख अपनाती है।⁹

कवि समाज दृष्टा व सृष्टा होता है, वह समाज में पलता-बढ़ता है, वातावरण और सामाजिक स्थितियाँ उसे प्रभावित करती हैं। इन स्थितियों से प्रभावित होकर वह अपनी कविता का सृजन करता है या यूँ कहें कि काव्य ही कवियों के प्रकटीकरण का माध्यम है। 'दूसरा सप्तक' के कवियों ने नारी की दयनीय स्थिति का भी चित्रण किया है। इन कवियों ने स्त्रियों की स्थिति को यथार्थ रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की है। रघुवीर सहाय जी की ये पंक्तियाँ उनकी दयनीय स्थिति को उजागर करती हैं—

यह इस समाज में औरत की विडंबना
हर बार उसे मरना होता है
टूटा हुआ बचाती हैं,
अपने भीतर टूट-फूट के
बदले नया रचाती हैं।¹⁰
अन्यत्र भी कहा है—
औरतों के चेहरे समाज के दर्पण हैं
... औरतें सिर्फ चुपचाप थाम लेती हैं बेबसी
कोई शरीर नहीं जिसके भीतर उसका दुःख ना हो।¹¹

इससे यह दृष्टिगत होता है कि अनेक प्रयासों के बावजूद समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय बनी हुई है। इससे भी अनेक प्रश्न उभरकर सामने आते हैं कि इस आधुनिक युग में साक्षर होने के बाद भी आज की स्त्रियों की स्थिति डरी, सहमी, विवश और भोग्या की क्यों है? जिसके चेहरे समाज के दर्पण हैं, जो समाज की यथास्थिति को दर्शाती है। इस वर्तमान युग में भी नारी को एक सुरक्षित जीवन नहीं मिल रहा है। पग-पग पर उपेक्षित हो रही है। आखिर इतनी ऊँचाइयाँ छूने के बाद भी उसकी स्थिति इतनी दयनीय क्यों है? यह प्रश्न समाज की विडंबना को दर्शाता है।

इन कवियों ने अपने काव्य में एक ओर नारी के विकृत रूप को चित्रित किया है तो दूसरी ओर उसके आदर्श व गौरवमय रूप को भी चित्रित किया है। 'शबरी' खंडकाव्य के

माध्यम से कवि ने त्रेतायुग की व्यथामयी दीन नारी किस प्रकार आत्मिक और आध्यात्मिक चेतना के द्वारा 'शूद्रा से शक्ति' बन जाती है, स्थिति को चित्रित किया है। दूसरी ओर दोषपूर्ण वर्ण-व्यवस्था का मिथ्या दंभ तोड़ने और सामूहिक जड़ता को मानवीय सदाशयता प्रदान करने में शबरी का असाधारण प्रयास स्तुत्य है। उसकी सात्त्विक कर्म-दृष्टि उसे वर्णमुक्त कर सकी है। इन कवियों ने शबरी के माध्यम से वर्ण-भेद की समस्या को समाप्त करने का प्रयत्न किया और भक्ति को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। इसलिए शबरी 'शबरी' जाति की होते हुए भी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने में सफल हो जाती है, क्योंकि वह प्रभु से एकाग्रचित्त होकर भक्ति, श्रद्धा और प्रेम करती है। अतः 'दूसरा सप्तक' के कवियों ने पौराणिक नारी-पात्रों के माध्यम से नारी-चेतना पर प्रकाश डाला है और नारी को भक्ति के माध्यम से उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कराने का प्रयास किया है। जो समाज उसे नकार देता है, उसी समाज में मतंग ऋषि जैसे श्रेष्ठ ऋषि, विद्वान ज्ञानी उसे स्वीकारते हैं और निम्न जाति पर ध्यान करते हुए उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर उसे आश्रम में स्थान देते हैं। पग-पग पर वह अपमानित होती है, उपेक्षित होती है, लेकिन उसका विश्वास नहीं डगमगाता। यहाँ तक की गुरु को बहिष्कृत करने का निर्णय होता है। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

करना ही होगा वर्जित
दासी शबरी, जो शूद्रा
ऋषि का चरित्र यह कैसा!
क्या मिल सकती है शिक्षा?
स्वीकार न हो यदि उनको
सारे समाज का निर्णय,
तो बहिष्कार करने का
करना ही होगा निश्चय।¹²

यही कारण है कि ऋषि को शबरी पर विश्वास होता है, वह उसे अलग आश्रम में ले जाकर शिक्षा देते हैं, जिससे शबरी भक्ति के माध्यम से प्रभु को अपना बना लेती है, जो श्रद्धा व प्रेम की विजय दर्शाता है। इससे जाति-भेद की समस्या को समाप्त करने में यह पहल सार्थक प्रतीत होती है।

'यह नारी विभिन्न कालों में विभिन्न तूलिकाओं से अनेक रंग-रेखाओं में चित्रित होती रही है और प्रत्येक युग के बदलते परिवेश में उसके व्यक्तित्व के विविध चित्रों में भी अंतर आता रहा है। वैदिक काल की विदुषी, वीरगाथाकाल की वीरांगना, किंतु विलासबेला की कामिनी, भक्तिकाल की सूर की प्रेम-प्रतिमा व वाक्-विदग्धा, तुलसी की त्यागमयी शालिनी, रीतिकाल की विलासबीचियों में झूलने वाली कोमलांगी अभिसारिका, आलोच्यकाल में आकर 'मानवी' रूप में काव्यांकित होने लगी और वह अबला ही नहीं, सबला रूप में भी काव्य-फलक पर अवतरित हुई। जिसका प्रत्यक्ष रूप 'द्वितीय तार सप्तक' कवियों के काव्य में अभिव्यक्त हुआ है।'¹³

संदर्भ

1. आधुनिक हिंदी मुक्तककाव्य में नारी, डॉ० सावित्री डागा, पृ० 75

2. कुललललना (गद्य भाग), रामकुमार वर्मा, पृ० 148
3. नरेश मेहता कविता की ऊर्ध्व यात्रा, रामकमल राय, पृ० 60
4. प्रेयसी (प्रतिनिधि कविताएँ), शमशेरबहादुर सिंह, पृ० 186
5. महाप्रस्थान, नरेश मेहता, पृ० 84-85
6. समकालीन साहित्य समाचार पत्रिका, पृ० 17
7. नया सप्तक, राकेश गुप्त और ऋषिकुमार चतुर्वेदी, पृ० 34
8. कनुप्रिया, धर्मवीर भारती, पृ० 43
9. धर्मवीर भारती : व्यक्ति एवं साहित्यकार, डॉ० पुष्पा वाष्कर, पृ० 33
10. रघुवीरसहाय की कविताओं में राजनीतिक चेतना, शोभा राणे, पृ० 23
11. रघुवीरसहाय की कविताओं में राजनीतिक चेतना, शोभा राणे, पृ० 23
12. नरेश मेहता कविता की ऊर्ध्व यात्रा, रामकमल राय, पृ० 92-93
13. आधुनिक हिन्दी मुक्तक काव्य में नारी, डॉ० सावित्री डागा, पृ० 76

□ सुपुत्री श्री शांतिस्वरूप त्यागी
डी०ए०वी० (पी०जी०) कॉलिज,
बुलंदशहर
मोबा० 9548715270

दुनिया में हिंदी

सारिका त्यागी, शोध छात्र

एक स्वतंत्र राष्ट्र के लिए— राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान के साथ ही राष्ट्रभाषा आवश्यक है, जो राष्ट्र की अस्मिता का प्रतीक है, राष्ट्र का गौरव है। भारत के लिए आवश्यक है कि एक राष्ट्रभाषा पूरे देश में ऐक्य स्थापित कर, विविध भाषी भारतीयों को संगठित कर सके। लंबी अवधि तक हम विदेशी भाषाओं के पाश में बँधे रहे। शासन के कठोर आदेशानुसार हमने पहले उर्दू-फ़ारसी सीखी, फिर अँग्रेज़ी ही पूरे देश में रच-बस गई। गांधी जी ने हिंद स्वराज के बीसवे अध्याय में अँग्रेज़ी को यह कहकर ललकारा था 'कि भारत की भाषा अँग्रेज़ी नहीं, हिंदी है। वह आपको सीखनी पड़ेगी और हम तो आपके साथ अपनी भाषा में व्यवहार करेंगे।' ¹

आज हमें स्वतंत्र भारत के गौरव को राष्ट्रभाषा के माध्यम से पुनः जाग्रत करना है—

जिसको न निज गौरव तथा,
निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है,
और मृतक समान है।

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

गांधी जी का विचार था कि 'कोई भी स्वतंत्र राष्ट्र, राष्ट्रभाषा के बिना गूँगा है।' ²

भारत में हिंदी परिदृश्य

देश के अधिक-से-अधिक समुदायों की एक ही संपर्क भाषा हो, इस तथ्य के अंतर्गत संविधान-निर्माताओं ने संविधान के अनुच्छेद 343 से 351 तक राजभाषा हिंदी का निर्धारण किया। स्वतंत्रता के संकल्प के साथ ही राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी को अपनाने का संकल्प भी लिया गया। सन् 1925 के कानपुर अधिवेशन में राष्ट्रीय काँग्रेस ने इसकी घोषणा भी कर दी। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में मुख्य भूमिका अहिंदी भाषियों की थी, लेकिन देश के स्वाधीन हो जाने के बाद जब अवसरवादिता का युग आया, राजनीतिक, सामाजिक, प्रशासनिक और संस्कृतिक मूल्यों का तेज़ी से विघटन होने लगा, तब उसी राष्ट्रभाषा के विरोध में आंदोलन हुए, यह विरोध दक्षिणी और अहिंदी प्रदेशों में प्रत्यक्ष रूप में और हिंदी-प्रदेशों में भीतरघात की शैली में हुआ। नतीजे में देशवासी राष्ट्रभाषा-विहीन हो गए।

परंतु आज हिंदी को नई दिशा मिल गई है, ग्लोबलाइजेशन और आर्थिक उदारीकरण की जय हो कि इनकी वजह से हिंदी की जय हो गई है, बदलते ज़माने के साथ-साथ हिंदी बदल रही है और बदलनी भी चाहिए, क्योंकि कोई भी भाषा तभी सर्वस्वीकार और जीवित रह सकती है, जब वह सदानेरा प्रवाहमान सरिता होने की क्षमता रखती हो।

सूचना प्रौद्योगिकी व जनसंचार का सशक्त माध्यम : हिंदी

आज हम वैश्वीकरण की ओर बढ़ रहे हैं, प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में बड़ी तेज़ी से परिवर्तन हो रहे हैं। 20 वीं सदी विज्ञान की थी, 21वीं सदी सूचना प्रौद्योगिकी की है। आज बाज़ार ने हिंदीभाषा को नई ज़िदगी प्रदान की है और वह संप्रेषण की भाषा बन गई है। संचार-माध्यमों व मनोरंजन कार्यक्रमों में प्रयुक्त होने के कारण आज हिंदी विश्वबाज़ार की भाषा बन गई है। आज रेडियो-प्रसारण देश के कोने-कोने तक पहुँच रहा है, इससे शिक्षा, सूचना, मनोरंजन के कार्यक्रम हिंदी में प्रसारित हो रहे हैं। इतना ही नहीं, आज वायस आफ अमेरिका, चीन रेडियो, बी०बी०सी०, यू०एन०ओ० रेडियो के अतिरिक्त नेपाल, पाकिस्तान, श्रीलंका, बंगलादेश के प्रतिष्ठित रेडियो से हिंदी-कार्यक्रम प्रसारित हो रहे हैं।

प्रिंट मीडिया अर्थात् समाचारपत्र-पत्रिकाओं के क्षेत्र में भी हिंदी ने अँग्रेज़ी को पीछे छोड़ दिया है। पिछले कई वर्षों में किए गए सर्वेक्षण स्पष्ट करते हैं कि विदेशों में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन व प्रचलन बढ़ा है।

दूरदर्शन के द्वारा भी हिंदी व्यवहार-क्षेत्र विकसित हो रहा है। सुधीश पचौरी-‘मनोरंजन उद्योग के ग्लोबल बाज़ार ने बताया है कि बालवुड की फ़िल्मों और गानों की धुनों को जो लोग भाषा की दृष्टि से नहीं समझते, वे भी उसकी सांस्कृतिक संरचनाओं के प्रभाव में रहते हैं। वे स्पेनिश, फ्रेंच, जापानी या चीनी बोलने वाले हो सकते हैं, मगर हिंदी फ़िल्मों पसंद करते हैं जाहिर है, कुछ हिंदी शब्द इस बहाने उनके पास रह जाते हैं। अरबी-फ़ारसी बोलने वालों की दुनिया में भी हिंदी अनजानी नहीं है, हिंदी मनोरंजन चैनलों ने वहाँ भी हिंदी को फैलाया है।’³

कंप्यूटर और इंटरनेट के असीमित विस्तार के दौर में भी हिंदी के विस्तार व विकास के नए अवसर प्राप्त हो रहे हैं। हाल के वर्षों में यूनिकोड पर आधारित आपरेटिंग सिस्टम और हिंदी साफ़्टवेयर के विकास से हिंदी कंप्यूटरों की चाल बढ़ने लगी है। आज इंटरनेट पर हिंदी के कई पोर्टल और साइट उपलब्ध हैं ‘कंप्यूटर पर उपलब्ध हिंदी सुविधाएँ- हिंदी के टू टाइप फॉन्ट्स की बोर्ड, मल्टीफॉन्ट की-बोर्ड, हिंदी के फॉयर फाक्स ब्राउज़र, ओ०सी०आर०, शब्द-वर्तनी संशोधन, शब्दानुसार टूल, टेक्स टू स्पीच प्रणाली इत्यादि प्रमुख हैं।’⁴

अहिंदी भाषी क्षेत्रों में हिंदी

हिंदी के स्वरूप को विकसित करने में अहिंदी प्रदेशों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। स्वतंत्रता-आंदोलन से पूर्व ही हिंदी की व्यापक परंपरा अहिंदी प्रदेशों में पहुँच चुकी थी और अहिंदी प्रदेशों में किसी-न-किसी रूप में हिंदी का प्रचलन हुआ। जैसे मराठी भाषा का क्षेत्र महाराष्ट्र में भी हिंदी की परंपरा प्राचीनकाल से चली आ रही है। डॉ० विनयमोहन शर्मा ने हिंदी के प्रति महाराष्ट्रीय संतों की आस्था को व्यक्त करने के लिए लिखा है- ‘वहाँ के संत जब हाथ में करताल लेकर कीर्तन भजन करने लगते, तब बीच-बीच में एक-दो पद हिंदी के गाकर श्रोताओं में अभिनव हिलोरें पैदा कर देते थे।’⁵

हिंदी की उत्पत्ति के समय से ही पंजाब में हिंदीभाषा का प्रयोग हो रहा था, हिंदी के आदिकालीन साहित्य का रचना-स्थल पंजाब ही रहा है। पंजाब के कवियों ने अपनी वाणी

में हिंदी को स्थान दिया है। गुरु नानक जी की सुप्रसिद्ध रचना 'आरती' की भाषा का हिंदुत्व द्रष्टव्य है—

गगन में थालु रविचंदु दीपक बने
तारिका मंडल जनक मोती
धूपु मलआनलो पवणु चबरो करे
सगल बनराइ फूलत जोती
कैसी आरती होई भवखंडना तेरी आरती
अनहत सबद बांजत भेरी।⁶

दक्षिण भारत के राज्य मद्रास, केरल, मैसूर, आंध्र प्रदेश इत्यादि की भी हिंदी-प्रदेशों से दूरी होने के बावजूद यहाँ हिंदुस्तानी में रोज़मर्रा की बातचीत व व्यापार होता है। मलयालम के प्रमुख कवि स्वर्गीय कुंचन ने बियार की 'तुलामल' की रचना में हिंदी वाक्य प्राप्त होते हैं तथा यह सुखद आश्चर्य की बात है कि यहाँ के राजवंश हिंदीभाषी विद्वानों को सम्मानित करते थे।

कश्मीर के प्रथम मुसलमान शासक शासुद्दीन शाह ने हिंदी का आश्रय लेकर कश्मीर में हिंदी का वातावरण बनाया। बंगाल के वैष्णव कवियों द्वारा कीर्तन में हिंदी-पदों का गाया जाना, बंगाली जनता के हिंदी-प्रेम को दर्शाता है। बंगाली कवि गोपालदास, कृष्णदास, परमानंद दास इत्यादि ने हिंदी में रचनाएँ कीं।

'16 वीं, 17 वीं व 18 वीं शताब्दी में हिंदी-क्षेत्र को व्यापक बंगाल का योगदान है तथा आधुनिक समय में भी बंगाल राष्ट्रभाषा-आंदोलन को समर्थन प्रदान कर रहा है।'⁷

पंद्रहवीं शताब्दी से लेकर आज तक के गुजरात के अंचल में प्राप्त हिंदी साहित्य के अवलोकन से यह बात स्पष्ट होती है कि गुजरात सदैव ही हिंदी का केंद्र व समर्थक रहा है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इन अहिंदी भाषा-भाषी प्रदेशों में बोलचाल एवं कहीं-कहीं आंशिक रूप से सरकारी कार्यों में भी हिंदी का प्रयोग हो रहा है अर्थात् संपूर्ण भारत में हिंदी को अपनाया जा रहा है।

कुहासे में घिरी राष्ट्रभाषा

यह भारत के लिए दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि उस हिंदी को लेकर राजनीति हो रही है, जिस पर स्वतंत्रता से पूर्व सभी वर्ग एक थे। अँग्रेजों को भारत छोड़कर गए 62 वर्ष बीत चुके हैं, परंतु अब भी चिंतन का विषय यह है कि हिंदी को कैसे बचाया जाए? तथा अँग्रेजी अपनी गहरी जड़ें जमाकर बरगद की तरह फल-फूल रही है, जो न तो हिंदी को पनपने दे रही है और न क्षेत्रीय भाषाओं को। इसके लिए अँग्रेज और अँग्रेजी दोषी नहीं हैं, वरन हमारी ढाई सौ साल की गुलाम मानसिकता है कि आज भी कई राज्यों में अँग्रेजी माध्यम के स्कूलों में हिंदी या भारत प्रांतीय भाषा में कक्षा के बाहर भी बात करने पर प्रतिबंध है।

भारतीयों की संकीर्ण मानसिकता तो देखिए, वोट माँगने के लिए भाषा का प्रयोग व शपथ-ग्रहण अँग्रेजी में। महाराष्ट्र में राजठाकरे की पार्टी के सदस्यों ने अबू आजमी के हिंदी में शपथ के समय जो बवाल किया है व शर्मनाक है—

राजनीति के लक्षण देखो
जनसाधरण अब दर्पण देखो
भाषा पिसती राजनीति में
वक्त आ चुका अब हल देखो।

आज मीडिया द्वारा भी हिंदीभाषा के साथ खिलवाड़ किया जा रहा है, जिन्होंने हिंदी व अँग्रेजी को मिश्रित कर तीसरी भाषा हिंग्लिश को जन्म दिया है। हिंदीभाषा के प्रचार माध्यम भी व्याकरणिक नियमों का उल्लंघन कर भाषा से खिलवाड़ कर रहे हैं। भाषा हमारी शक्ति है और भाषा में अनाचार हिंदी-हित में नहीं है, जोकि चिंता का विषय है।

विदेशों में हिंदी वर्चस्व

भूमंडलीकरण का अर्थ है, देश और राष्ट्र की सीमा पार करके संपूर्ण विश्व को एक छत्र के नीचे लाना। हिंदीभाषा भारत ही नहीं, विदेशों में भी अपना व्यवहार-क्षेत्र बढ़ा रही है। हिंदीभाषा को विश्वव्यापी बनाने का श्रेय उन प्रवासी भारतीयों को जाता है, जिन्होंने धार्मिक ग्रंथ व रचनाओं के माध्यम से अपनी भाषा को सुरक्षित रखा।

भारतीयों के अतिरिक्त अनेक विदेशों विद्वानों ने भी हिंदी में लेखनकार्य कर भाषा के गौरव को बढ़ाया है। सन् 1655 में एडवर्ड टेरी ने अपनी पुस्तक 'बाएज टु द ईस्टडीज' में हिंदुस्तानी को भारतीय भाषा बताया है। मारिशस हिंदीभाषा का समृद्धशाली देश है। मारिशस से हिंदी पत्रिकाएँ-हिंदुस्तानी व आर्य पत्रिका प्रकाशित होने के साथ-साथ दो सौ से अधिक विद्यालयों में हिंदी-शिक्षण भी होता है।

टोक्यो में पिछले दिनों संपन्न हुए हिंदी-उर्दू सम्मलेन में हिंदी-ध्वज, जापान में गर्व से लहराया। सम्मेलन के संयोजक प्रो० सुरेश ऋतुपर्ण ने अपने भाषण में कहा- 'टोक्यो युनिवर्सिटी ऑफ फारेन स्टडीज ने हिंदी के अध्यापन के सौ साल पूर्ण किए हैं, जो कि जापान में हिंदीभाषा के संबंधों की गहराई का अहसास कराता है।' ⁸

'प्रो० ताकेशि फुजिई ने भावपूर्ण शब्दों में कहा- हमारे पौत्र-प्रपौत्र शायद इस विश्वविद्यालय में हिंदी-शिक्षण के दो सौ साल पूरे होने पर आयोजित होने वाले कार्यक्रमों में हिस्सा लेंगे और तब मंच की पृष्ठभूमि में हमारी तस्वीरें लगी होंगी।' ⁹

अमेरिका में हिंदी के प्रति गहन रुचि का विस्तार हो रहा है। अमेरिका के मंदिरों में भी हिंदी की शिक्षा की व्यवस्था अव्यावसायिक रूप में की जाती है। मॉडर्न लैंग्वेज एसोसिएशन की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार इस वर्ष 74 उच्च अध्ययन संस्थानों में हिंदी की दशा-दिशा बहुत कुछ अंशों में वही है, जो भारत में है। वह जनभाषा है, जन के साथ जुड़ी है। वह जन स्वदेश में हो या प्रवासजनित वनवास में। भारत में प्रकाशित होनेवाला हिंदी साहित्य भी अमेरिका की शिक्षण-संस्थाओं द्वारा नियमित रूप से मँगाया जाता रहा है।

दक्षिण अफ्रीका में हिंदी की 100 से अधिक संस्थाएँ हैं। अफ्रीका में हिंदी की जड़ जमाने वाले स्वामी भवानीदयाल सन्यासी जी थे। हिंदी-क्षेत्र में पच्चीस वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करने के बाद हिंदी शिक्षा संघ इस वर्ष रजत जयंती मना चुका है। ब्रिटेन में भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हिंदी-अध्यापन की व्यवस्था है, ब्रिटिश म्यूजियम इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी

में मध्यकालीन हिंदी साहित्य की पांडुलिपियों का संग्रह है। लंदन में हिंदी प्रचार परिषद नामक एक संस्था स्थापित है, जो भारत की राष्ट्रभाषा के प्रचार में संलग्न है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है हिंदी विश्व के 175 देशों में बोली जाती है। विश्व के विविध राष्ट्रों में हिंदी के पठन-पाठन की व्यवस्था है। विश्व के विशालजन समूह की भाषा होने के कारण हिंदी संयुक्त राष्ट्र की भाषा बन सकती है। इसके अतिरिक्त फिजी, चेकोस्वालिया, पश्चिमी जर्मनी, पूर्वी जर्मनी, डेनमार्क इत्यादि में भी हिंदी-प्रयोग द्वारा हिंदी अंतर्राष्ट्रीय मंच पर आरूढ़ हो गई है।

विश्व हिंदी सम्मेलन : एक दृष्टि

हिंदीभाषा एक मात्र ऐसी भाषा है, जिसके लिए विश्व-सम्मेलन का आयोजन किया जाता है, भारत की आजादी के बाद विश्व के अनेक देशों में जब हिंदी अध्ययन-अध्यापन तथा रचनात्मक लेखन में वृद्धि होने लगी है तो हिंदी-प्रेमियों ने हिंदी को विश्व-मंच पर स्थापित करने की दिशा में कार्य करना शुरू कर दिया। आचार्य विनोवा भावे जी की शुभकामना एवं आशीष से 10-12 जनवरी 1975 को नागपुर से प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन की यात्रा शुरू हुई। सम्मेलन का उद्देश्य हिंदी विरासत को सुदृढ़ बनाए रखना था। यह सम्मेलन विश्व में फैले हिंदी-प्रेमियों और विद्वानों को भौगोलिक सीमाओं से मुक्त कर राष्ट्रभाषा हिंदी के विकास की दूरगामी और विश्वव्यापी प्रक्रिया को अनुभव कराने में एक मंच उपलब्ध कराता है। हिंदी सम्मेलनों का उद्देश्य निम्न रहा है—

1. अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में हिंदी की भाषा को उजागर करना।
2. विभिन्न देशों में विदेशी भाषा के रूप में हिंदी में शिक्षण की स्थिति का आकलन करना और सुधार लाने के तौर-तरीकों का सुझाव देना।
3. हिंदीभाषा और साहित्य में विदेशी विद्वानों के योगदान को मान्यता प्रदान करना।
4. प्रवासी भारतीयों के बीच अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में हिंदी का विकास करना।
5. विज्ञान और प्रौद्योगिकियों की आर्थिक विकास और संचार के क्षेत्र में हिंदी के प्रयोगों को बढ़ावा देना।

हिंदी सम्मेलनों की निरंतरता हिंदी की सुखद स्थिति को दर्शाती है। प्रथम पाँच हिंदी-सम्मेलनों का बोधवाक्य—वसुधैव कुटुम्बकम् रहा। हिंदी-सम्मेलनों का एक दूसरा पहलू यह भी है कि यह अन्य देशों के साथ भारत के माधुर्यपूर्ण संबंधों को मजबूती प्रदान करता है। पाँचवे हिंदी-सम्मेलन में मारीशस में विश्व हिंदी सचिवालय की स्थापना व हिंदी को संयुक्त राष्ट्र की भाषा बनाने में समर्थन दिया। अभी तक जितने भी हिंदी-सम्मेलन आयोजित हुए, सभी के द्वारा हिंदीभाषा वैश्विक मंच पर और ज्यादा सुदृढ़ स्थिति में आ गई।

हिंदी की उपलब्धियाँ

1. विश्व-मंच पर हिंदी की बेवसाइट बन चुकी है।
2. विदेशों में हिंदी को अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है।
3. आज हमारे मनोरंजन के साधन रेडियो-टेलीविज़न इत्यादि पर 80 प्रतिशत से

अधिक कार्यक्रमों का प्रसारण हिंदी में होता है।

4. हिंदी में आईटी को लोकप्रिय बनाने के लिए यूनिकोड विकसित किया गया है।
5. भारत सरकार व भारतीय सांस्कृतिक परिषद द्वारा विश्व के कुछ विश्वविद्यालयों में हिंदी-अध्ययन अनुसंधान के लिए हिंदी पीठ स्थापित की जा चुकी है।¹⁰
6. केरेबियन में हिंदी परिषद की स्थापना व विदेशों में हिंदी पीठ की स्थापना विश्व में हिंदी-क्षेत्र की व्यापकता प्रदर्शित करती है।
7. हिंदी को साहित्य के साथ ज्ञान-विज्ञान व वाणिज्य की भाषा भी घोषित किया गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि संसार-भर में यह अनुभव किया जाने लगा है कि विश्व हिंदी परिवार है, इसी कारण संयुक्त राष्ट्र में हिंदी को आधिकारिक भाषा बनाने की माँग जोर पकड़ रही है। आज हिंदी को विश्व-भर में तेज़ी से फैलाने में सूचना प्रौद्योगिकी ने भूमिका निभाई है। 'विश्व हिंदी सम्मेलन ने बत्तीस साल का सफर पूरा कर लिया है। आज 110 करोड़ भारतीयों की आवाज़ दुनिया सम्मान के साथ सुन रही है अब वह दिन दूर नहीं है जो हिंदी यू॰एन॰ओ॰ की भाषा सूची में अपनी गरिमामय उपस्थिति दर्ज कराएगी (विदेश राज्यमंत्री, आनंद शर्मा)।'¹¹

जहाँ एक ओर हिंदीभाषा दिन प्रतिदिन समृद्धशाली हो रही है, वहीं दूसरी ओर वैश्वीकरण के चलते हिंदीभाषा के नियमों का उल्लंघन हो रहा है। देश की भाषा को ग्लोबल विलेज से जोड़ने के लिए 'सबसे अच्छा सबसे सस्ता ' SUBASEACHCHHA SABASE SASTA लिखा जा रहा है— 'भुलावे में डाला जा रहा है कि हिंदी का वैश्वीकरण हो रहा है, पर आप विचार कर देखें यह तो हमें अपनी जड़ों से अलग करने का बड़ा लुभावना रूप है। हम अपनी लिपि खोएँगे, उसके बाद भाव खोएँगे, उसके बाद विचार खोएँगे और उसके बाद चिंतन भी खो देंगे। किसी पक्षी के पंख काटकर उसे आकाश में उड़ान भरने लिए छोड़ देने जैसी हमारी स्थिति कुछ ही वर्षों में हो जाएगी, अतः अभी सचेत होने की ज़रूरत है।'¹²

आज उच्चतर हिंदी-शिक्षण के समक्ष यह भी चुनौती है कि हिंदी केवल शिक्षण की भाषा बनकर न रह जाएँ, अपितु उसे संचार-संप्रेषण, कंप्यूटर ई-मेल, एस॰एम॰एस॰ और संवाद की भाषा बनाने के लिए हमें आगे आना होगा। मुक्तिबोध के शब्दों के कहें तो—

उठाने ही होंगे अभिव्यक्ति के खतरे

तोड़ने ही होंगे गढ़ और मट।

अगर हिंदी का साम्राज्य बढ़ाना है तो हमें उन क्षेत्रों को समाहित करना है, जिनकी तरफ अभी रास्ते नहीं बनाए गए हैं। एक चढ़ते हुए दरिया की तरह हिंदी को तटबंधों, किनारों को तोड़ते हुए नई ज़मीनों को अपने आगोश में ले लेना है। विश्व में हिंदी की स्थिति अच्छी है, किंतु भारतीय इससे विमुख हो रहे हैं और आत्मविश्वास खो रहे ऐसे व्यक्तियों से मैं यही कहना चाहूँगी—

जननी का आँचल छोड़,
किसी आया का बाँह पकड़,
चलने वाले बोलो कब तक,

अपना देश छले जाओगे।¹³

हिंदी के व्यापक क्षेत्र में उसके प्रसार और समृद्धि के लिए अपना सक्रिय योगदान का संकल्प समय की शिला पर नया इतिहास रचेगा।

संदर्भ

1. डॉ. गिरिराजकिशोर, दैनिक जागरण संपादकीय, सितंबर 200
2. शकुंतला बहादुर (अमेरिका), हिंदी जगत, जनवरी-मार्च 09, पृ० 23
3. डॉ. शैलेंद्रकुमार शर्मा (उज्जैन), विकल्प जनसंचार विशेषांक, अप्रैल-जून 2008, पृ० 19
4. नागरी संगम वर्ष 22 अंक 1987 में प्रकाशित डॉ. शैलेंद्रकुमार शर्मा का लेख, कंप्यूटर और इटरनेट के क्षेत्र में देवनागरी की प्रासंगिकता और संभावनाएँ
5. डॉ. विनयमोहन शर्मा, हिंदी को मराठी संतों की देन, पृ० 49
6. डॉ. मलिक मुहम्मद, राजभाषा हिंदी विकास के विविध आयाम, पृ० 54
7. डॉ. विनोद गोदरे, प्रयोजनमूलक हिंदी, पृ० 27
8. डॉ. बालेंदु दाधीच, हिंदी जगत जनवरी मार्च 09, पृ० 34
9. डॉ. बालेंदु दाधीच, हिंदी जगत, जनवरी मार्च 09, पृ० 34
10. विश्व हिंदी-सम्मेलन की यात्रा, प्रतियोगिता दर्पण, नवंबर 2007
11. डॉ. सुरेंद्र विक्रम, वर्तमान साहित्य साहित्य कला और सोच की पत्रिका, सितंबर 2008, पृ० 18
12. डॉ. विद्याकेशव चिटको, हिंदी जगत, अप्रैल-जून 2009, पृ० 48
13. नयायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्त, हिंदी जगत, जनवरी-मार्च 2009, पृ० 38

□ सुपुत्री श्री सुधाकर त्यागी
डी०ए०वी० (पी०जी०) कालिज, बुलंदशहर
मो० 9837408061

हिंदी और उर्दू ग़ज़ल के भाषाई सेतु : कृष्णबिहारी 'नूर'

कृष्णकुमार वर्मा 'नाज़', शोध-छात्र

एम.ए. (समाजशास्त्र, उर्दू व हिंदी), बी०एड०

साहित्यवारिधि डॉ० रामानंद शर्मा, शोध-निर्देशक

एसोसिएट प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, हिंदू कालेज मुरादाबाद

गेहुँआ रंग, उभरा हुआ माथा, काले रंगे हुए बाल, क्लीनशेव चेहरा, होंठों पर निरंतर तैरती मुस्कान, हर समय कुछ न कुछ खोजती रहनेवाली चमकदार आँखें— ये सब बातें यदि किसी अच्छे चित्रकार को बता दी जाएँ तो वह अपनी तूलिका से जो चित्र तैयार करेगा, वह निस्संदेह श्री कृष्णबिहारी 'नूर' का होगा। चूड़ीदार पाजामा, ढीला कुर्ता और उस पर जैकेट पहने नूरसाहब जब मुशायरों और कविसम्मेलनों के मंचों पर जाते, तो पहली नज़र में ही ऐसा लगने लगता था कि जैसे लखनवी नज़ाक़त और नफ़ासत सिमटकर उनकी आगोश में आ गई हो। कपड़ों पर यदि तनिक भी दाग़-धब्बा लग गया, तो तुरंत ही पोशाक बदलते थे। रहन-सहन, खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने के मामले में उन्होंने कभी समझौता नहीं किया। उनके व्यक्तित्व, बोलचाल और रहन-सहन में लखनऊ की वह तहज़ीब बसती थी, जो आज उँगलियों पर गिने जानेवाले लोगों को ही मयस्सर है। नूरसाहब के व्यक्तित्व और सबको साथ लेकर चलनेवाली उनकी जीवनशैली से प्रभावित लोगों का एक बड़ा समूह है। हालाँकि आज शायद ही कोई ऐसा आदमी होगा, जिसका कोई विरोधी न हो, लेकिन मैं यह देखता था कि उनके विरोधी उनके सामने आते ही इस प्रकार हो जाते थे, जैसे मैगज़ीन के पन्ने ट्रेन की खिड़की से आती हवा में फड़फड़ाकर अपनी खीझ प्रकट करते हैं।

लखनऊ का साहित्यिक और सांस्कृतिक वातावरण देश-भर में अपनी अलग पहचान रखता है। उसी लखनऊ शहर के गौसनगर मुहल्ले में अधिकतर पुराने कायस्थ ख़ानदान आबाद हैं, उसी गौसनगर मुहल्ले में बाबू कुंजबिहारीलाल श्रीवास्तव के यहाँ 8 नवंबर, 1926 को श्री कृष्णबिहारी श्रीवास्तव का जन्म हुआ। उस समय किसी ने यह न सोचा था कि यही बच्चा ख़ानदान का नाम और अधिक रोशन करेगा और जब तक शायरी और ग़ज़ल विधा जीवित हैं, तब तक अपने नूर की बारिश करता रहेगा।

धर्मपत्नी के निधन ने नूरसाहब में टूटन तो पैदा की, लेकिन उनके भीतर तेज़तर होते जा रहे शायरी के दरिया को और प्रवाहमान बनाया। 30 मई 2003 को प्रातः 10 बजे ग़ाज़ियाबाद के यशोदा हास्पिटल में आँत के आपरेशन के दौरान नूरसाहब का निधन हो गया।

नूरसाहब ऐसे सौभाग्यशाली कवि हैं, जिन्हें उर्दूवाले अपनी ओर खींचते हैं और

हिंदीवाले अपनी ओर। कारण यह है कि नूरसाहब ने अपने लेखन की शुरुआत उर्दू में की। चूँकि वह उस ज़माने में पैदा हुए, जब अँग्रेज़ी और उर्दू का ही बोलबाला था। सैकड़ों वर्ष भारत में मुस्लिमों का शासन रहा, जिसमें सभी सरकारी कामकाज उर्दू-फ़ारसी में होते थे। इसलिए आम बोलचाल की भाषा भी उर्दू ही थी। उसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना हुई और भारत पर अँग्रेज़ों ने क़ब्ज़ा कर शासन किया। अँग्रेज़ों के शासनकाल में अँग्रेज़ी तो आ गई, लेकिन उर्दू मद्धम नहीं पड़ी। बीसवीं सदी के प्रारंभिक काल में जो लोग पैदा हुए, उनकी मुख्य रूप से दो ही भाषाएँ थीं— उर्दू और अँग्रेज़ी। अधिकतर हिंदू-परिवारों में भी उर्दू ही बोली जाती थी। फिर कायस्थ परिवारों में तो विशेषकर उर्दू का वातावरण था। यही सब कारण रहे कि नूरसाहब के काव्य-लेखन की शुरुआत ग़ज़ल से ही हुई और वह भी उर्दू में। लेकिन नूरसाहब का रुझान अध्यात्म और भारतीय दर्शन में था, इसलिए भारतीय दर्शन की अभिव्यक्ति के लिए उनका झुकाव धीरे-धीरे हिंदी की ओर होता गया। उनकी रचनाओं में हिंदी और संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य होता गया।

यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि हिंदी-ग़ज़ल की मानक स्तर पर सेवा वही ग़ज़लकार कर सकता है, जो परंपरागत ग़ज़ल की बनावट और बुनावट से भली प्रकार परिचित हो, क्योंकि ग़ज़ल बड़ी कोमल विधा है, ज़रा-सी असावधानी भी उसके भावात्मक और शिल्पात्मक सौंदर्य को बिगाड़ देती है। नूरसाहब चूँकि उर्दू से भी भली प्रकार परिचित थे और परंपरागत ग़ज़ल के मिजाज़ से भी, इसलिए उनकी हिंदी-ग़ज़लें प्रत्येक स्तर पर उत्कृष्टता की परिचायक हैं। यही कारण रहा कि नूरसाहब को उर्दू और हिंदी दोनों ही भाषा-भाषियों ने अपनी-अपनी ओर खींचा।

प्रकाशित कृतियाँ :

श्री कृष्णबिहारी 'नूर' द्वारा स्वयं प्रकाशित कराई गई तथा नूरसाहब पर अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रकाशित कराई गई कृतियों का उल्लेख कर रहे हैं, जो निम्नानुसार है—

1. **दुख-सुख** : यह नूरसाहब की पहली पुस्तक है, जो वर्ष 1977 में पर्सियन लिपि में प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में 44 रचनाएँ हैं। इनमें 6 नज़्मों और 39 ग़ज़लों समेत 16 कृतआत और 19 फुटकर शेर हैं।
2. **तपस्या** : यह उनकी दूसरी पुस्तक है जो वर्ष 1983 में प्रकाशित हुई है। यह भी पर्सियन लिपि में है। इस पुस्तक में कुल 32 रचनाएँ हैं। इनमें 5 नज़्मों और 27 ग़ज़लों समेत 31 फुटकर शेर हैं। 'दुख-सुख' की कुछ प्रमुख रचनाएँ भी इसमें शामिल हैं।
3. **समंदर मेरी तलाश में है** : वर्ष 1997 में प्रकाशित यह पुस्तक यह देवनागरी लिपि में है। इसमें कुल 61 रचनाएँ हैं, जिनमें 49 ग़ज़लें, 12 नज़्मों, 15 कृतआत और 39 फुटकर शेर संकलित हैं। 'दुख-सुख' और 'तपस्या' में प्रकाशित कुछ रचनाएँ भी इसमें सम्मिलित हैं।
4. **हुसैनियत की छाँव में** : यह वर्ष 1980 में प्रकाशित हुई है। यद्यपि यह पुस्तक देखने को नहीं मिली, लेकिन वर्ष 2004 में प्रकाशित 'तजल्ली-ए-नूर' में इसके प्रकाशन की जानकारी दी गई है। इसके नाम से पता चलता है कि यह पुस्तक नात, मनक़बत आदि से संबंधित है।
5. **तजल्ली-ए-नूर** : यह पुस्तक नूरसाहब के स्वर्गवास के पश्चात उनके पुत्र कुँवर

अरुणकुमार श्रीवास्तव द्वारा वर्ष 2004 में प्रकाशित कराई गई है। इसमें एक हम्द, 11 नातों, 3 मनकबत और 4 सलाम— यानी कुल 19 रचनाएँ हैं। इसका सम्पादन शफीक हुसैन शफीक द्वारा किया गया है।

6. आज के प्रसिद्ध शायर कृष्ण बिहारी 'नूर' :

यह पुस्तक वर्ष 2002 में प्रकाशित हुई है। इसका संपादन प्रख्यात कवि, समालोचक एवं पत्रकार श्री कन्हैयालाल नंदन द्वारा किया गया है। इस पुस्तक में नूरसाहब की चुनी हुई 62 गज़लें, 14 नज़्में, 10 कृतआत, 29 फुटकर शेर, 6 दोहे और जीवन परिचय है। इस पुस्तक में श्री नंदन द्वारा नूरसाहब के व्यक्तित्व और कृतित्व पर तो प्रकाश डाला ही गया है, उनसे संबंधित संस्मरणों का भी समावेश है। साथ ही अन्य महत्वपूर्ण रचनाकारों की नूरसाहब से संबंधित टिप्पणियों का भी उल्लेख है।

काव्यविषयक दृष्टिकोण

श्री कृष्णबिहारी 'नूर' ने लेखन में कभी समझौता नहीं किया। कविसम्मेलनों और मुशायरों के मंचों पर की जा रही धार्मिक नारेबाजी से वह बहुत आहत थे। उनका मानना था कि समकालीन घटनाओं पर लिखी गयी कविताएँ कविसम्मेलन में तालियाँ तो जरूर बजवा सकती हैं, लेकिन स्थायी नहीं हो सकतीं। वे रचना की आयु रचनाकार से अधिक बताते हैं। उनका मानना था— 'साहित्य की जिंदगी साहित्यकार की जिंदगी से हमेशा बड़ी होती है। साहित्य उस वक्त तक जिंदा रहेगा, जब तक भाषा और अभिव्यक्ति जिंदा है। अतः यदि हमारी इच्छा है कि मरने के बाद भी जिंदा रहें, तो साहित्य को कुछ न कुछ देकर जाना होगा। जबसे दुनिया बनी, कितने ही राजे-महाराजे और रियासतें हुईं, सब धराशायी हो गए, लेकिन रचनाकार भुलाए नहीं जा सकते, क्योंकि उनकी रचनाएँ अमर हैं। इसलिए रचना की जिंदगी बड़ी व महत्वपूर्ण होती है, क्योंकि उसी से मरने के बाद भी रचनाकार जिंदा रहता है। मेरी इच्छा यही है कि कोई ऐसी रचना करूँ जिसके साथ मरने के बाद भी लोग मेरा नाम याद रखें।' ¹

(क) भावविधान :

श्री कृष्णबिहारी 'नूर' की गज़लों का वर्ण्यविषय मुख्य रूप से अध्यात्म और शृंगार है। इसमें भी उन्होंने अध्यात्म को प्रमुखता दी है। उनके शेरों की यह विशेषता है कि अध्यात्म में शृंगार और शृंगार में अध्यात्म के दर्शन होते हैं। संभवतः इसीलिए नूरसाहब के विषय में शायर मंसूर उस्मानी लिखते हैं— 'नूरसाहब ने अपने रचनात्मक चिंतन के उद्घान में ग़म का बिस्तर बिछाया है, इश्क़ की चादर ओढ़ी है और ख़्वाबों का वो तकिया लगाया है, जिसने उन्हें न तो खुद से दूर किया, न खुदा से। अपने इस शिकनों-भरे बिस्तर पर नूरसाहब को अपने व्यक्तित्व की उस सच्चाई का अहसास हो गया है, जहाँ खुदी और खुदा में फ़र्क़ भी स्पष्ट हो जाता है।' ²

शायर बशीर फ़ारूकी नूरसाहब की शायरी को शायरी नहीं, बल्कि इबादत का नाम देते हैं। उनका मानना है कि संभवतः इसीलिए नूरसाहब ने अपने गज़ल-संग्रह का नाम 'तपस्या' रखा है।

नूरसाहब स्वयं स्वीकारते हैं कि उनकी कविता का अधिकांश आध्यात्मिक है। उनका

कहना है— ‘अध्यात्म की ओर मैं कब मुड़ गया, पता ही नहीं चला। सोचते-सोचते शायरी अध्यात्म से जुड़ गई, परंतु मेरी शायरी केवल आध्यात्मिक नहीं है, वह सांसारिक भी है। देखनेवाले दोनों पक्ष देख लेते हैं और कुछ लोग एक पक्ष ही देख पाते हैं। ईश्वर कहिए या खुदा सर्वशक्तिमान एक ही है, जिसे किसी ने नहीं देखा। केवल उसके बारे में सोचा है, विचार किया है। विचारों के आधार पर हमारे ऋषि-मुनि व पीर-पैगंबर जहाँ तक पहुँच सके, वहाँ बता दिया कि यह धर्म है, यह मज़हब है। सब अलग-अलग रास्तों के पड़ाव हैं, मंजिल पर एक ही हैं। मेरे शेर अक्सर अध्यात्म से जाकर जुड़ जाते हैं। लोग कहते हैं कि मेरी शायरी 80 प्रतिशत अध्यात्म से जुड़ती है, पर 20 प्रतिशत की कमी है। मैं कहता हूँ जिस दिन यह कमी दूर हो जाएगी, मैं आपके बीच नहीं रहूँगा।’³

(1) अध्यात्म :

ईश्वर की प्राप्ति के अनेक साधन हैं, कुछ बाहरी हैं और कुछ आंतरिक। बाहरी मार्ग भक्ति को माना गया है, जबकि ध्यान के जरिये परमात्मा तक पहुँचने का भीतरी मार्ग अध्यात्म है। आज विज्ञान ने बहुत उन्नति कर ली है, लेकिन वह आज भी आत्मा-परमात्मा और जन्म-मृत्यु जैसे गूढ़ रहस्यों को नहीं जान पाया है। ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम ही अध्यात्म है। ठीक उसी प्रकार जैसे हजारों साल पुराने अँधेरों को मिट्टी का एक छोटा-सा दिया भगा देता है। भक्ति और ध्यान, मार्ग की दृष्टि से तो भिन्न हैं, परंतु दोनों का गंतव्य एक ही है। प्रस्थान के बिंदु पर अंतर है, लेकिन पहुँचने का स्थान एक है। भक्ति का स्रोत और प्रारंभ व प्रस्थानबिंदु हृदय है, इसलिए वह प्रेम से शुरू होती है। जबकि, ध्यान की यात्रा मन और मस्तिष्क को निर्विचार करने की यात्रा है। इसका केंद्र मन-मस्तिष्क है। साधारण मन की अवस्था है विचारों के ऊहापोह से भरे रहना। मन में विचारों की भीड़ रहती है। इस भीड़ को समाप्त कर देने का नाम ही ध्यान है। जब रास्ता ख़ाली हो जाता है, विचारों के यात्री जा चुके होते हैं, चित्त की ऐसी निर्विचार अवस्था का नाम ध्यान है। और, यहीं से आरंभ होती है अध्यात्म की यात्रा।

नूरसाहब के शेरों की यह विशेषता है कि उनमें अध्यात्म में शृंगार और शृंगार में अध्यात्म नज़र आता है। यहाँ हम उनके कुछ अध्यात्मविषयक शेरों पर दृष्टिपात करेंगे।

कहा जाता है कि प्रत्येक स्थिति-परिस्थिति का निर्माता ईश्वर है। वही हर व्यक्ति को दुख और सुख, जन्म और मृत्यु, हानि और लाभ देता है। लेकिन इसके बावजूद अदालतों की भीड़ है, जहाँ गुनाहगारों को सज़ा सुनाई जाती है। यदि प्रत्येक कार्य ईश्वर के ही आदेश से होता है तो आदमी को गुनाहगार क्यों ठहराया जाता है। इसी विचार के दृष्टिगत नूरसाहब कहते हैं—

हर एक काम तेरे हुक्म ही से होता है,
गुनाहगार है क्यों आदमी नहीं मालूम।⁴

सूफ़ी साहित्य में ईश्वर को दोस्त, यार, मित्र आदि शब्दों से संबोधित करते हुए उससे अपने हृदय की बात कही गई है। पूजा को ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना गया है। लेकिन दोस्त के बग़ैर पूजा में भी मन नहीं लगता। दोस्त की प्रतीक्षा रहती है—

तेरे बग़ैर इबादत में जी नहीं लगता
मेरी जबीं को तेरा इंतज़ार है ऐ दोस्त।⁵

कैसी विडंबना है कि व्यक्ति अपने हाथों से देवताओं की मूर्तियाँ बनाता है, मंदिर में उनकी प्रतिष्ठापना करता है और उन्हीं से सुख-समृद्धि की कामना करते हुए उनके सामने रोता है, गिड़गिड़ाता है। ज़माने-भर की ठोकरें खानेवाला पत्थर जब मंदिर में प्रतिष्ठा पा लेता है, तो वह अपने अतीत को भूलकर अहंकारी हो जाता है। लोगों के आँसुओं और प्रार्थनाओं का भी उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता—

जिसे मेरे ही सजदों ने उभारा
मैं क्या माँगूँ भला उस आस्ताँ से।⁶

जन्म और मृत्यु एक ही घटना के दो छोर हैं। जन्म के बाद मृत्यु है और मृत्यु के बाद जन्म। हिंदू-दर्शन तो पुनर्जन्म में आस्था रखता है। उसका मानना है कि मृत्यु, मृत्यु नहीं है, बल्कि एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर में जन्म लेने की घटना का नाम है। पिछले जनम के ऋण इस जनम में उतारे जाएँगे और इस जनम के कर्ज अगले जनम में उतारे जाने हैं। इस कर्ज की अदायगी के बाद भी यदि जीवन अच्छा और सुखमय कटता है तो इससे अच्छी और क्या बात हो सकती है—

इस जनम में उस जनम का कर्ज उतारा ही किया
ज़िंदगी का ये सफ़र फिर भी बहुत अच्छा रहा।⁷

धर्म और संप्रदाय ईश्वर की नहीं, मानव की देन हैं। सभी ने अपने-अपने तरीके से अपनी-अपनी पूजा-पद्धतियाँ निर्धारित कर ली हैं। ये सभी रास्ते हैं तो अलग-अलग, लेकिन इनकी मंज़िल एक ही है। एक ही स्थान पर पहुँचकर सारे रास्ते इकट्ठा हो जाते हैं और उसके बाद वह आखिरी रास्ता भी बंद हो जाता है—

जैसे अनदेखे उजाले की कोई दीवार हो
बंद हो जाता है कुछ दूरी पे हर इक रास्ता।⁸

लगते हैं सच्चाई के पास
सारे मज़हब एक क्यास।⁹

ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में चारों ओर अद्भुत सुगंध है। हर तरफ़ विस्मयकारी प्रकाश है। और ईश्वर-प्राप्ति, यानी यँ लगता है जैसे हृदय के घटाटोप अँधेरों में सैकड़ों दीपक जल उठे हों, जैसे हिरन ने अपनी कस्तूरी खोज ली हो, जैसे रेगिस्तान को समुद्र मिल गया हो, जैसे पतझड़ के मौसम में वसंत आ गया हो, जैसे सूखे-पपड़ाये होंठों को अमृत मिल गया हो—

कोई आया है ज़रूर और यहाँ ठहरा भी है
घर की दहलीज़ पे ऐ 'नूर' उजाला है बहुत।¹⁰

जब तुम्हारे ध्यान में होता हूँ गुम
रहता हूँ दुनिया में और दुनिया बगैर।¹¹

साधना कह लीजिए, चाहे तपस्या अंत तक
एक उजाला पा गए जिसको गहन करते रहे।¹²

मैं तो अपने कमरे में तेरे ध्यान में गुम था

घर के लोग कहते हैं, सारा घर महकता था।¹³

परमात्मा की खोज प्रेम के अभाव से पैदा होती है, जबकि प्रेम के बिना परमात्मा की प्राप्ति असंभव है। परमात्मा को खोजने वाला परमात्मा को भी नहीं पाता और प्रेम से भी वंचित हो जाता है। किंतु जो प्रेम को खोजता है, वह प्रेम को भी पा लेता है और परमात्मा को भी, क्योंकि प्रेम परमात्मा की प्राप्ति का द्वार भी है और मार्ग भी। यह कहना अधिक उचित होगा कि प्रेम ही परमात्मा है—

बस जान लीजिए वो कहीं आसपास है
तन झूमने लगे जहाँ मन डोलने लगे।¹⁴

कोई करता है दुआएँ तो ये जल उठता है
मेरा जीवन किसी मंदिर का दिया है यारो।¹⁵

हर घड़ी तेरे ख़यालों में घिरा रहता हूँ
मिलना चाहूँ तो मिलूँ खुद से मैं तनहा कैसे।¹⁶

दिन को आँखें खोलकर, संध्या को आँखें मूँदकर
तेरे हर इक रूप की पूजा नयन करते रहे।¹⁷

रहता है तेरा ध्यान किसी सिम्त जाऊँ मैं
सूरजमुखी का फूल है या ज़िंदगी मेरी।¹⁸

अहंकार अद्वितीयता चाहता है। उसके लिए मनुष्य अपनी आत्मा भी खो देता है। 'अहं' जो है ही नहीं, सर्वप्रथम होकर ही तो स्वयं के होने का अनुभव कर पाता है। अहंकार जहाँ नहीं है, वहाँ आत्मा है। आत्मा आकाश जैसी अनंत और असीम है। और, जो असीम है, जो अनंत है, वही अमृत है। परमात्मा में विलीन होने के लिए अहंकार का त्याग आवश्यक है—

हम मगर डूबेंगे तो डूबेंगे यूँ
सह को ले जाएँगी गहराइयाँ
मैं उजाले में तो आ जाता हूँ 'नूर'
घेर लेती हैं मुझे परछाइयाँ।¹⁹

सूफ़ी-संतों ने भी प्रेम को ईश्वर-प्राप्ति का माध्यम बताया है। प्रेम-दीवानी मीरा भी 'मैं तो प्रेम-दिवानी मेरा दरद न जाने कोय' गाते-गाते परमात्मा में विलीन हो गईं। फक्कड़-मस्त कबीर ने जीवनभर प्रेम के गीत गाए। जो प्रेम में ही परमात्मा का निवास नहीं खोज पाया, वह किसी भी मंदिर-मस्जिद अथवा देवालय में परमात्मा को नहीं खोज सकता—

फिर उसके बाद झुके तो झुके खुदा की तरफ़
तुम्हारी सिम्त हमारा झुकाव ऐसा था।²⁰

हो वापसी अगर तो इन्हीं रास्तों से हो
जिन रास्तों से प्यार तेरा ले गया मुझे।²¹

सांसारिक राग-द्वेष इंसान को चैन से नहीं बैठने देते। इन्हीं राग-द्वेष और आकर्षण के कारण ही संसार में उसका आना-जाना लगा रहता है। जन्म, फिर मृत्यु, फिर जन्म, फिर

मृत्यु, फिर जन्म; यानी एक न टूटने वाली शृंखला। परमात्मा की प्राप्ति मोक्ष दिलाकर इस आवागमन से छुटकारा दिलाती है। आत्मा का परमात्मा में विलय ही मोक्ष है—

आवागमन की कैद से क्या छूटता कभी
वो तेरा प्यार था जो छुड़ा ले गया मुझे।
धरती का ये सफ़र मेरा जिस दिन हुआ तमाम
झोंका हवा का आया, उड़ा ले गया मुझे।²²

लेकिन फिर वही बाधा। साधन ही बाधक बन जाते हैं। आदमी जिन सीढ़ियों से चढ़ता है, उन्हीं में उलझकर रह जाता है। जो रास्ता मंजिल तक ले जाता है, अगर उसी में उलझ गए तो वही बाधक बन जाएगा। इसलिए मंजिल तक पहुँचने के बाद उस रास्ते को छोड़ना भी आवश्यक है। किसी भी साधन से राग उचित नहीं, क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ मन है; जहाँ मन है, वहाँ संसार है; और मन का अतिक्रमण ही मोक्ष है। लेकिन सामान्यतः मन का अतिक्रमण दुष्कर हो जाता है—

तुझसे अगर बिछुड़ भी गया मैं तो याद रख
चेहरे पे तेरे अपनी नज़र छोड़ जाऊँगा।
संसार में अकेला तुझे अगले जन्म तक
है छोड़ना मुहाल मगर छोड़ जाऊँगा।
उस पार जा सकेंगी तो यादें ही जाएँगी
जो कुछ इधर मिला है, इधर छोड़ जाऊँगा।²³

जहाँ मैं कैद से छूटूँ वहीं पे मिल जाना
अभी न मिलना, अभी ज़िंदगी की कैद में हूँ।²⁴

वो एक साया है, अपना हो या पराया हो
जनम-जनम से बराबर मेरी तलाश में है।²⁵

आत्मा जब परमात्मा से जा मिलती है तो वह सागर और नदी का मिलन बन जाता है। वहाँ पता ही नहीं चल पाता कि सागर की लहरों में नदी समाई हुई है या नदी की लहरों में सागर। दोनों में एकरूपता हो जाती है। भक्त और भगवान का मिलन भी तो इसी तरह की घटना है। दोनों में कोई अंतर महसूस नहीं होता कि भगवान भक्त है या भक्त भगवान—

दरिया में यूँ तो होते हैं क़तरे-ही-क़तरे सब
क़तरा वही है जिसमें कि दरिया दिखाई दे।²⁶

सामान्यतः वस्तु को देखने के लिए आँखों को खुला रखना आवश्यक है, लेकिन भक्त भगवान के दर्शन करता है तो आँखें मूँदकर—

कैसी अजीब शर्त है दीदार के लिए
आँखें जो बंद हों तो वो जलवा दिखाई दे।²⁷

परमात्मा को प्राप्त करने के सबके अपने अलग-अलग तरीके हैं, अलग-अलग रास्ते हैं। साधू वन में जाकर तपस्या करता है, तो शायर संसार में रहकर ही अपनी शायरी के माध्यम से 'उसकी' पूजा करता है—

शायरी तेरी इबादत के सिवा कुछ भी नहीं
कर रहा हूँ मैं तपस्या किसी साधू की तरह।²⁸

ज़िंदगी उसे पा ले सोचना है बेमानी
मैं हदों के अंदर हूँ, वो हदों से बाहर है।²⁹

इंसान के जीवन का उद्देश्य क्या है? जीवनरूपी कारागार में उसे क्यों बंधक बनाकर
रखा गया है और कब तक रखा जाएगा? जन्म लेना, कमाना-खाना, भोग-विलास; यही तो
जीवन का उद्देश्य नहीं है। यदि जीवन का उद्देश्य ये सब वस्तुएँ नहीं हैं, तो अंततः उद्देश्य है
क्या? नूरसाहब भी प्रभु से यही पूछते हैं—

या ये बता कि क्या है मेरा मक़सदे-हयात
या ज़िंदगी की कैद से मुझको रिहाई दे।³⁰

जहाँ राग शुरू होता है, वहाँ विचारों के स्रोत फूट पड़ते हैं। जब कोई विचार नहीं
होता, जब कोई राग नहीं होता, तब परमात्मा से मिलन की दशा बनती है। वहाँ दिशाओं की
तलाश भी समाप्त हो जाती है। किसी भी दिशा का चुनाव नहीं रह जाता। व्यक्ति अनंत की
ओर बहता है। वहाँ एक ऐसा प्रकाश मिलता है, जिसमें कोई परछाई नहीं होती—

एक ऐसी रोशनी की है तलाश
जिस्म हो जाए जहाँ साया बगैर।³¹

लब क्या बताएँ कितनी अजीम उसकी ज्ञात है
सागर को सीपियों से उलचने की बात है।
सूरज का, चाँद का तो गुज़र ही नहीं वहाँ
वो है जहाँ, वहाँ पे न दिन है, न रात है।
धरती की क्या बिसात फ़क़त नोक सूई की
इतनी विशाल, इतनी बड़ी कायनात है।³²

ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में अहंकार सबसे बड़ी बाधा है। अहंकार कुछ न होने में कुछ
दिखने का प्रयास करने की स्थिति है। ऐसी स्थिति जहाँ सिर्फ कल्पना है, वास्तविकता से
दूर-दूर तक जिसका कोई संबंध नहीं। अहंकार किसी पर ध्यान नहीं देता, बल्कि सबका ध्यान
अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है। साधक के लिए यह कठिनता की दशा है। अहंकार
का विनाश निश्चित है—

क़द से बढ़ जाए जो साया तो बुरा लगता है
अपना सूरज वो उठा लेता है हर शाम के बाद।³³

(2) शृंगार :

शृंगार में वियोग का विशेष महत्त्व है। प्रिय का विरह किसी के लिए भी कष्टकारी
होता है। वह दर्पण जिसमें व्यक्ति को अपना प्रतिबिंब दिखाई देना चाहिए, उसमें प्रिय का
अक्स दिखायी देता है। लेकिन विरह के क्षणों में दर्पण भी ऐसा लगता है जैसे पत्थर हो गया
हो, उसमें न अपना प्रतिबिंब दिखाई देता है, न प्रिय का। और नींद, वह तो आँखों से कोसों

दूर हो जाती है। लगता है जैसे उसकी आँखों से अनबन हो गई हो। लेकिन शरीर तो शरीर है। दिनभर की थकन और उसके बाद आँखों के दरवाजे पर सपनों की दस्तक हो, तो नींद व्यक्ति को अपनी आगोश में समेट ही लेती है। नूरसाहब ने इसी तथ्य को अपने इन शेरों में बड़ी खूबसूरती के साथ कहा है—

आइने में यूँ तो अपने-आपको अक्सर छुआ
बाद तेरे यूँ लगा जैसे कोई पत्थर छुआ।
नींद की आँखों से खटपट थी मगर क्या कीजिए
ख़ाब ने जब दस्तकें दीं, जिस्म ने बिस्तर छुआ।³⁴

जिंदगी के सफ़र में हर क़दम पर कोई-न-कोई घटना होती रहती है। कुछ घटनाएँ इतनी सुंदर होती हैं कि जीवन धन्य हो उठता है, जबकि कुछ घटनाएँ जीवन को अव्यवस्थित कर देती हैं। प्रिय का मिलना सुंदर घटना है, जबकि उसका बिछुड़ना भयावह है। नूरसाहब इस बात को इस तरह बयान करते हैं—

उससे मिलना भी हुआ, मिलकर बिछुड़ना भी हुआ
वो भी था इक हादसा और ये भी है इक हादसा।³⁵

यद्यपि प्यार को क्रमबद्धता की जंजीरों में जकड़ना उचित नहीं है, क्योंकि प्यार या तो होता है या नहीं होता। अच्छा प्यार, बुरा प्यार, सच्चा प्यार, झूठा प्यार; ये प्यार की सीढ़ियाँ नहीं हैं। जिसमें बुराई हो, झूठ हो, वह प्यार ही कहाँ रहा। प्यार सिर्फ़ प्यार है। और, जब प्यार होता है तो वह सभी बंधनों को तोड़ता हुआ, अनुशासनों को छिन्न-भिन्न करता हुआ अपने गंतव्य की ओर अग्रसर रहता है, उस मदमाती नदी की तरह जो उच्छृंखल होकर अपने प्रिय सागर से मिलने के लिए तटबंधों को तोड़ती चली जाती है और समा जाती है सागर की बाँहों में। सागर की आगोश में जाते ही नदी, नदी नहीं रह जाती, समुद्र हो जाती है। और फिर प्रिय से मिलने की अगर हृदय में ठानी है, तो एक जनम तो क्या, कई जनम लेना उसे स्वीकार है। तभी तो नूरसाहब कह उठते हैं—

लाख ग़म सीने से लिपटे रहे नागन की तरह
प्यार सच्चा था, महकता रहा चंदन की तरह।
तुझको पहचान लिया है, तुझे पा भी लूँगा
इक जनम और मिले गर इसी जीवन की तरह।³⁶

पुनर्जन्म हिंदू-दर्शन का विशेष अंग है। यह पुनर्जन्म ही है, जो सात नहीं, शत-शत जन्मों तक प्रिय की बाट जोहने में सहायक सिद्ध होता है। सौगंध भी एक वचन है, एक संकल्प है, इस जनम के अधूरे कार्यों को अगले जनम में पूर्ण करने का। सच्चे प्रेमी का प्रथम झुकाव तो अपने प्रिय की तरफ़ होता है। उसके बाद तो वह ईश्वर की तरफ़ झुकता है। सच्चा प्रेमी अपने प्रिय को आवागमन के बंधनों से भी मुक्त करा लेता है। नूरसाहब ने अगले जनम के लिए अपने प्रिय का चुनाव किया भी, तो किस तरह— इस जनम में उसकी माँग में सिंदूर भरकर—

बस उसकी माँग में सिंदूर भर के लौट आए
हमारा अगले जनम का चुनाव ऐसा था।
फिर उसके बाद झुके तो झुके खुदा की तरफ़

तुम्हारी सिम्त हमारा झुकाव ऐसा था।³⁷

इस नश्वर संसार में जो आया है, उसे निश्चित रूप से जाना है। मृत्यु ऐसी सच्ची घटना है, जो घटेगी अवश्य। फिर, श्मशान को तो विश्वगुरु की संज्ञा दी जाती है। वहाँ किसी की अगर-मगर नहीं चलती। लेकिन सच्चा प्रेमी मृत्यु के बाद भी अपने प्रिय को सुखी और संतुष्ट देखना चाहता है। वह 'उस पार' भी प्रिय की सुखद अनुभूतियों को अपने साथ ले जाना चाहता है। जीवनयात्रा में दिशाहीनता की गर्द व्यक्ति के चारों ओर फैली रहती है, जिसे वह यहीं छोड़ जाता है, उसके साथ जाती हैं तो उसकी नेकनामियाँ। नूरसाहब भी इसी बात को कहते हैं—

अपना पता न अपनी ख़बर छोड़ जाऊँगा
बेसिम्तियों की गर्द-सफ़र छोड़ जाऊँगा।
तुझसे अगर बिछुड़ भी गया मैं तो याद रख
चेहरे पे तेरे अपनी नज़र छोड़ जाऊँगा।
संसार में अकेला तुझे अगले जन्म तक
है छोड़ना मुहाल, मगर छोड़ जाऊँगा।
उस पार जा सकेंगी तो यादें ही जाएँगी
जो कुछ इधर मिला है, इधर छोड़ जाऊँगा।³⁸

प्रिय की सुंदरता को निहारने की ललक प्रेमी को दीवाना बना देती है। उसे लगता है कि उसने वह सब-कुछ पा लिया है, जिसकी उसे तलाश थी। नूरसाहब इस स्थिति को कुछ यूँ बयान करते हैं—

किसी के रुख़ से जो परदा उठा दिया मैंने
सज़ा ये पाई कि दीवानगी की कैद में हूँ।³⁹

प्रेम में रूठने-मनाने की प्रक्रिया का बड़ा महत्त्व है। कई बार प्रेमी इसलिए जानबूझकर रूठ जाता है कि उसका प्रिय आकर उसे मनाएगा, उसकी कोमल उँगलियों का स्पर्श पाने का अवसर मिलेगा। उसकी मधुर वाणी सुनने का मौक़ा मिलेगा। और जब प्रिय आकर मनाता है तो शरीर तो क्या, आत्मा तक संतुष्ट हो जाती है उसका स्पर्श पाकर, उसकी मधुर वाणी सुनकर। फिर उसका जी नहीं चाहता कि वह प्रिय की महफ़िल से उठकर जाए; और यदि चला भी गया तो जीवनभर दिशाहीनता के अँधेरों में भटकता रहता है। प्रिय जब छोड़कर जाता है तो उससे बहुत सारी शिकायतें होती हैं। प्रेमी उसे बेवफ़ा तक कह डालता है, लेकिन जब वह पुनः आकर मिलता है तो सारे शिकवे-गिले स्वतः समाप्त हो जाते हैं। लेकिन यह मिलन क्षणिक है। उसके बाद तो बिछोह का ताप प्रेमी को क्षण-क्षण झुलसाता रहता है। नूरसाहब भी इन्हीं स्थितियों से गुज़रे हैं, तभी तो वह कहते हैं—

मैं जानता हूँ वो क्यों मुझसे रूठ जाते हैं
वो इस तरह से भी मेरे क़रीब आते हैं।
मिलन के गीत अधूरे रहेंगे दुनिया में
जनम-जनम के यहाँ साथ छूट जाते हैं।⁴⁰

'सुंदरता' ऐसा शब्द है, जिसकी कोई निश्चित परिभाषा नहीं। प्रत्येक व्यक्ति ने इस

शब्द को अपने ढंग से परिभाषित किया। प्रकृति में जो कुछ भी है, सब सुंदर है। इस सुंदरता को देखने के लिए आवश्यकता पड़ती है स्वस्थ मन और सकारात्मक दृष्टिकोण की। सुनते हैं लैला काली थी, लेकिन कैस के लिए वह दुनिया की सुंदरतम स्त्री थी। प्रिय की सुंदरता उसे भीड़ में भी सबसे अलग रखती है। फिर वह प्रिय, जो पिछले जनम में छूट गया, आज भी उसी की चिंता रहती है, लेकिन उसके दर्शन खुली आँखों से नहीं होते। प्रेम की यही शर्त है कि प्रिय के दर्शन बंद आँखों से किए जाते हैं। इस तथ्य को नूरसाहब यूँ व्यक्त करते हैं—

क्या हुस्न है, जमाल है, क्या रंग-रूप है
 वो भीड़ में भी जाए तो तनहा दिखाई दे।
 कैसी अजीब शर्त है दीदार के लिए
 आँखें जो बंद हों तो वो जलवा दिखाई दे।⁴¹

प्रेम पूजा भी है, प्रेम तपस्या भी है, प्रेम आनंद भी है और प्रेम जीवन जीने की कला भी है। प्रेमी कभी अकेला नहीं रहता। वह सदा प्रिय की यादों में घिरा रहता है। प्रिय सम्मुख हो या न हो, लेकिन उसकी यादें हमेशा प्रेमी के साथ रहती हैं। विरह के क्षणों में जब प्रेमी की आँखों से आँसुओं की बरसात होती है, ऐसे में प्रिय की निश्छल और सलोनी मुस्कराहट प्रेमी के हृदय को गुदगुदा देती है और अनायास उसकी आँखों से आँसू झरना बंद हो जाते हैं। प्रेमी चाहता है कि प्रिय के अंग-अंग का सुंदरता के साथ वर्णन करे, लेकिन यह क्या? उसके जिस अंग पर भी आँख जाती है, ठहर जाती है। नूरसाहब ने इस तथ्य को बड़े सुंदर ढंग से अभिव्यक्ति दी है—

रुक गया आँख से बहता हुआ दरिया कैसे
 गम का तूफ़ान तो बहुत तेज था ठहरा कैसे।
 जुल्फें चेहरे से हटा लो कि हटा दूँ मैं खुद
 'नूर' के होते हुए इतना अँधेरा कैसे।⁴²

प्रेम वह अनुभूति है, जो व्यक्ति के अंदर छिपी तो होती है, लेकिन दिखाई नहीं देती और उसे पाने के लिए वह दुनियाभर में भटकता रहता है। कभी वह प्रिय की गलियों से साधू की तरह गुजरता है, तो कभी जोगी की तरह। प्रिय के आगमन की सूचना भी एक प्रकार की मस्ती से प्रेमी को आह्लादित कर देती है, और अगर वह आ जाए तो? तो शायद प्रेमी अपनी सुध-बुध खो बैठे। प्रेमी अपने प्रिय को बताना चाहता है कि मैं साधू हूँ और तुम मेरी तपस्या। अगर मैं तुमसे बिछुड़ गया, तो मेरी स्थिति पाजेब से टूटे हुए घुँघरू जैसी हो जाएगी, जिसका कोई ठिकाना नहीं होता और दिशाहीनता उसके कदमों से बँध जाती है। नूरसाहब कहते हैं—

हो के बेचैन मैं भागा किया आहू की तरह
 बस गया था मेरे अंदर कोई खुशबू की तरह।
 मेरी आवाज़ तुझे छू ले, बस इतनी मुहलत
 तेरे कूचे से गुजर जाऊँगा साधू की तरह।
 ज़िंदगी ठोकें खाती है बिछुड़कर तुझसे
 तेरी पाजेब के टूटे हुए घुँघरू की तरह।⁴³

कहा जाता है कि इच्छाएँ असीमित हैं और व्यक्ति का जीवनभर पीछा नहीं छोड़तीं।

मरणासन्न अवस्था तक व्यक्ति की इच्छाएँ बलवती होती रहती हैं। प्रेमी के साथ भी यही होता है। प्रिय से मिलने की इच्छा उसे जीवंत बनाए रखती है—

तुझसे मिलने की ख्वाहिश मरने भी नहीं देती
आरजू कोई भी हो, रास्ते का पत्थर है।⁴⁴

प्रेम में शिकवे-शिकायतों का बड़ा महत्त्व है। ये शिकवे-शिकायतें प्रेम की परिधि को और व्यापक बना देते हैं। और फिर प्रेम, प्रेम है। उसमें परीक्षा देना या लेना आवश्यक नहीं। हाँ, संदेह अवश्य प्रेम में बिखराव उत्पन्न कर देता है। कई बार प्रिय से प्रथम मिलन अंतिम मिलन होकर रह जाता है। प्रिय की महफ़िल में दिल की बात कहते हुए प्रेमी चारों ओर दृष्टि दौड़ाता है कि कहीं कोई और तो नहीं सुन रहा। नूरसाहब ने इन्हीं स्थितियों को कुछ यूँ बयान किया है—

जबीं को दर पे झुकाना ही बंदगी तो नहीं
ये देख मेरी मुहब्बत में कुछ कमी तो नहीं।
मिटे ये शुबहा तो ऐ दोस्त तुझसे बात करें
हमारी पहली मुलाक़ात आख़िरी तो नहीं।
तुम्हारी बज़्म में अफ़साना कहते डरता हूँ
ये सोचता हूँ यहाँ कोई अजनबी तो नहीं।⁴⁵

प्रेमी को प्रिय के अंग-अंग में इठलाती-इतराती प्रकृति की छवि दिखाई देती है। नायिका की मदहोश आँखों की तुलना किसी ने शराब से की है, तो किसी ने शराबख़ाने से। नूरसाहब ने प्रिय की आँखों की तुलना कँवल से की है—

डूबी हुई मस्ती में आँखें
पानी में दो फूल कँवल के।⁴⁶

वासना सागर की ओर बहती हुई नदियों की तरह है और प्रेम सागर की भाँति है। वह किसी के प्रति ठहराव नहीं है। वह तो स्वयं है। वासना बहाव है। प्रेम में इच्छाओं के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रेम तो वह सौंदर्य है, वह प्रसन्नता है जो प्रेमी को आह्लादित करती है। अहसास की कमी प्यार की अपूर्णता है। तभी तो नूरसाहब कह उठते हैं—

कहीं कुछ ख़ामी-ए-अहसास होगी
मुहब्बत में तो कोई ग़म नहीं है।⁴⁷

एक और शेर—

इस इंतज़ार में सदियाँ गुज़रती जाती हैं
हवस समेट ले दामन तो आरजू फैले।⁴⁸

भावुक प्रेमी के लिए प्रिय के सौंदर्य का वर्णन बड़ा कठिन हो जाता है। जब वह प्रिय को निहारता है तो जुबान बंद हो जाती है और जब वर्णन शुरू करता है, तो आँखों को निहारने में कठिनता प्रस्तुत होती है। न तो जुबान का काम नज़र कर सकती है और न ही नज़र का काम जुबान कर सकती है। नूरसाहब कहते हैं—

हो किस तरह से बयाँ तेरे हुस्न का आलम
जुबाँ नज़र तो नहीं है, नज़र जुबाँ तो नहीं।⁴⁹

प्रेमी के लिए उसका प्रिय ही मार्गदर्शक भी है और सहयात्री भी। सहयात्री के अलग होने की कल्पना से ही प्रेमी सिहर उठता है, और अगर साथ छूट जाए तो जीवन वहीं पर ठहर जाता है। नूरसाहब के अनुसार—

वहीं तक ज़िंदगी ने रहबरी की
तुम्हारा साथ छूटा था जहाँ से।⁵⁰

प्रेमी जब प्रिय की यादों में और उसके चिंतन में खो जाता है, तो उसे स्वयं ख़बर नहीं रहती कि वह किस स्थिति में है। और, इस खुमारी की अवस्था में अभिवादन का होश किसे?—

तेरा ख़याल, तेरी याद, तेरी धुन ऐ दोस्त
मुझे ये होश कहाँ है कि बंदगी क्या है।⁵¹

प्रकृति-चित्रण :

प्रकृति ईश्वर-प्रदत्त वह व्यवस्था है, जिसमें हम उस सर्वशक्तिमान परमात्मा के दर्शन करते हैं। चाँद, तारे, आसमान, पेड़, पौधे, फूल, पशु, पक्षी, पर्वत, नदियाँ, सागर; सब मानव के उपयोग के लिए हैं। वैज्ञानिकता के युग में इंसान चाँद और मंगलग्रह पर तो पहुँच गया है, लेकिन वह प्रकृति के रहस्य नहीं जान पाया। आकाश सबके लिए है, हवा सभी प्राणियों के लिए बहती है। मनुष्य इन सभी प्राकृतिक उपादानों का उपयोग और उपभोग तो कर सकता है, लेकिन इनमें परिवर्तन नहीं कर सकता। न तो हवा की दिशा मोड़ी जा सकती है, न सूरज को पूर्व की बजाय पश्चिम दिशा से उगाया जा सकता है, न रात में सूर्य निकाला जा सकता है, न आसमान का रंग बदला जा सकता है; अर्थात् परिवर्तन असंभव है। 'रिमोट' उसके हाथ में है, जिससे वह इन सबको संचालित और नियंत्रित करता है। नूरसाहब का इशारा भी इसी ओर है—

वो क्या हवा जो चले देखकर ग़रीब-अमीर
वो क्या बहार जो सोचे ये शाह है, ये फ़कीर।
वो क्या घटा जिसे पहना सके कोई जंजीर
वो क्या सबा कि जिसे रोक ले कोई रहगीर।

हवा महल के लिए है न झोंपड़ी के लिए
सबा हमारे लिए है न आप ही के लिए।
बहार आती नहीं एक आदमी के लिए
घटा ठहर के बरसती नहीं किसी के लिए।⁵²

भारतीय सभ्यता और संस्कृति ने सदैव विश्व का मार्गदर्शन किया है। यही कारण है कि भारतवर्ष विश्वगुरु के पद पर आसीन रहा है। यह भारतीय संस्कृति की महानता ही है कि सभी प्राकृतिक उपादानों के संरक्षण के लिए वह आदिकाल से प्रयासरत है। जहाँ पत्थर को भगवान की तरह पूजा जाता है, नदियों को माता की संज्ञा दी गई है, बरगद और पीपल को देवता मानकर उनकी उपासना की जाती है। नूरसाहब ने भी इन सबका उपयोग संपूर्ण प्राणिजगत् के लिए किए जाने की कल्पना की है—

बहार देवी है अपनी तो देवता बादल
हमारी आँख के आँसू ही हमको गंगाजल।

हमारे मंदिरो-मस्जिद, अजंता-ताजमहल

हमारे काबा-ओ-काशी हैं ट्रामबे-नंगला।⁵³

प्रकृति की अद्भुत छटा के दर्शन गाँवों में होते हैं, जहाँ सरसों के लहलहाते खेत, फूलों की सुगंध से महकता वातावरण और चारों ओर फैली हरियाली मनोहारी प्रतीत होती है। गाँवों में जो भी है, सब 'ओरिजनल' है, बनावट के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं। कृत्रिमता और शोर-शराबे से दूर गाँव की शांत दुनिया किसका मन नहीं मोह लेती। नूरसाहब ने अपनी 'गाँव में क्या है' शीर्षक नज़्म में इन्हीं स्थितियों का सुंदर चित्रण किया है—

गाँव में क्या है शहर से बढ़कर, चलिए चलकर गाँव में देखें
पनघट और चौपाल का मंज़र, चलिए चलकर गाँव में देखें।
गोरी, घटाएँ, घूँघट, गागर, चलिए चलकर गाँव में देखें
शर्त है लेकिन ख़ूब सँभलकर, चलिए चलकर गाँव में देखें।
सादा जीवन, सच्चे दुख-सुख, गर्म आँसू, ठंडी मुस्कानें
उमड़ा हुआ इक प्यार का सागर, चलिए चलकर गाँव में देखें।
शहरों में तो चढ़ जाता है पीतल पर सोने का पानी
कंगन, झुमके, पायल, झूमर, चलिए चलकर गाँव में देखें।⁵⁴

वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि चाँद और तारे सूरज से प्रकाश लेते हैं, यही उनके चमकने का आधार है। सूरज द्वारा रोज़ सुबह चंद्रमा की चूनर तैयार किए जाने की बात नूरसाहब भी कहते हैं—

सूरज रोज़ सवेरे उठकर करता है तैयार जिसे खुद
तारों-जड़ी वो चाँद की चूनर, चलिए चलकर गाँव में देखें।⁵⁵

गाँव के निश्छल वातावरण में धार्मिक या जातीय भेदभाव के लिए स्थान कहाँ? वहाँ तो किसी भी धर्म का कोई भी त्योहार हो, सभी धर्मों के लोग मिलजुलकर मनाते हैं—

हिंदू-मुस्लिम मिलके मनाएँ होली हो या ईदमिलन हो
त्योहारों के रूप उजागर, चलिए चलकर गाँव में देखें।
भेदभाव से नाता तोड़ें, लेकिन पक्के शेखों-बिरहमन
दोनों मिलेंगे एक डगर पर, चलिए चलकर गाँव में देखें।
दुनियाभर की सारी झीलें 'नूर' निछावर होतीं जिस पर
ममता का वह मानसरोवर, चलिए चलकर गाँव में देखें।⁵⁶

सूर्यास्त के समय आकाश लाल हो जाता है। इस विषय में भी लोगों की अलग-अलग धारणाएँ हैं। मुस्लिम विचारकों का मानना है कि यह शहीदों का रक्त है, जो हर शाम आकाश में फैल जाता है। कुछ कहते हैं कि दोपहर तक तमतमाया क्रोधित सूर्य शाम को आत्मग्लानि से आत्महत्या कर लेता है, इसलिए आसमान रक्तिम हो जाता है। नूरसाहब की मान्यता सबसे अलग है। वे कहते हैं कि रात की गोद में जाने से पहले शाम सुहागिन का रूप धारण करती है, यह आकाश की लाली और कुछ नहीं, उसी सुहागिन की माँग का सिंदूर है—

शाम जब रात की महफ़िल में क़दम रखती है
भरती है माँग में सिंदूर सुहागन की तरह।⁵⁷

(4) समाज :

साहित्य जीवन की व्याख्या है और जीवन का निर्माण समाज से होता है। समाज में सभी लोग किसी-न-किसी से छोटे और किसी-न-किसी से बड़े होते हैं, लेकिन परेशानी तब आती है, जब छोटे स्वयं को बड़ों से भी बड़ा बताने और सिद्ध करने लग जाएँ। यह बात बुद्धिजीवियों में अधिक पाई जाती है, क्योंकि अलग दिखने की कोशिश में वे दूसरों की उपेक्षा करते नज़र आते हैं। जबकि समाज में समरसता तभी आती है जब व्यक्ति स्वयं को औरों से छोटा कहने और महसूस करने लगे। नूरसाहब कहते हैं—

मैं तो छोटा हूँ झुका दूँगा कभी भी अपना सर
सब बड़े ये तय तो कर लें कौन है सबसे बड़ा।⁵⁸

कर्मयोगी कभी भाग्य को नहीं कोसते, वे अपने परिश्रम पर विश्वास रखते हैं, और जो लोग कर्म करने से कतराते हैं, वे सदैव भाग्य का रोना रोते रहते हैं। ज्योतिष हाथों की लकीरें देखकर भविष्य बताता है, जबकि कर्मठ लोगों का विश्वास है कि हाथों की लकीरों को मेहनत से बढ़ाया जा सकता है—

मेरे हाथों की लकीरों के इज़ाफ़े हैं गवाह
मैंने पत्थर की तरह खुद को तराशा है बहुत।
जो भी मिलता है मुक़द्दर का गिला करता है
और मुझे अपने मुक़द्दर पे भरोसा है बहुत।⁵⁹

अँधेरा शाश्वत है और प्रकाश क्षणिक, यानी अँधेरे को भगाने की (मिटाने की नहीं) कृत्रिम व्यवस्था। सूर्य निकलता है तो अँधेरा कुछ देर के लिए अपना स्थान छोड़ देता है, सूर्य अस्त होता है तो अँधेरा फिर अपने स्थान पर आ जाता है। यह अलग बात है कि मिट्टी का छोटा-सा दीया सदियों से एक ही स्थान पर जमे अँधेरों को हटा देता है, लेकिन कब तक? तेल समाप्त हो जाता है, बाती जल जाती है, दीपक बुझ जाता है और अँधेरा फिर अपने स्थान पर आ धमकता है—

हैं उजाले तीरगी की कैद में
झूठ की मुट्ठी में हैं सच्चाइयाँ।⁶⁰

‘गुनाह’ ऐसी घटना है, जो व्यक्तित्व तो क्या, आत्मा को भी विकृत कर देती है। गुनाहगार को मालूम रहता है कि उसने ग़लत कार्य किया है, लेकिन उसका अहं उसे स्वीकारने से कतराता है। गुनाह में अगर हवस भी सम्मिलित हो जाए तो वह बड़ी-से-बड़ी साधना और तपस्या को भी भंग कर देती है—

नज़र मिला न सके उससे उस निगाह के बाद
वही है हाल हमारा जो हो गुनाह के बाद।
ज़मीर काँप तो जाता है आप कुछ भी कहें
वो हो गुनाह से पहले कि हो गुनाह के बाद।
हवस ने तोड़ दी बरसों की साधना मेरी
गुनाह क्या है, ये जाना, मगर गुनाह के बाद।⁶¹

जीवन जीना एक कला है, यह कला सबको नहीं आती। यह तो सच है कि जीवन

में जहाँ सुख थोड़े से हैं तो दुखों के अंबार हैं। आम आदमी दुखों को रो-धोकर गुज़ार देता है, जबकि साधक आँसुओं के समंदर पलकों में छिपाए, होंठों को मुस्कराहटों से सजाकर शान के साथ जीते हैं। इन दुखों का रखरखाव ही जीवन की कला है—

तमाम जिस्म ही घायल था, घाव ऐसा था
कोई न जान सका रखरखाव ऐसा था।
कुछ ऐसी साँसें भी लेना पड़ीं जो बोझल थीं
हवा का चारों तरफ़ से दबाव ऐसा था।⁶²

रचनात्मकता वहीं है, जहाँ विसंगतियाँ हैं। यदि विसंगतियाँ न हों तो एकरूपता के साथ ज़िंदगी को नहीं जिया जा सकता। और फिर, रचनाकार तो हमेशा ही विसंगतियों में साँसें लेते रहे हैं। ये विसंगतियाँ ही रचनाधर्मिता का आधार बनती हैं। रचनाकार के भाग्य में तालियाँ हैं, शाल-दुशाले हैं, सम्मानपत्र हैं, लेकिन उसकी वास्तविकता को जानने-समझने का प्रयास कोई नहीं करता—

काँटे चुभे हैं जिस्म में कितने किसे ख़बर
शायर को लोग फूलों में बस तोलने लगे।
फ़न को सँवार दें जो कहीं दिल की धड़कनें
पत्थर भी आइने की तरह बोलने लगे।⁶³

(5) राष्ट्रप्रेम :

साहित्यकार भी समाज का ही अंग है। वह जिस वातावरण में साँसें लेता है, उसमें होनेवाली प्रत्येक घटना-दुर्घटना पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि पड़ना स्वाभाविक है। साहित्यकार में राष्ट्रप्रेम की भावना कूट-कूटकर भरी होती है। नूरसाहब ने अपनी नज़्म 'हमारा धर्म' में मुहब्बत को ही धर्म बताया है—

हमारे धर्म के फैलाव पर नज़र डालो
हमारा धर्म मुहब्बत है ऐ वतन वालो।

ज़माना कहता है ऐ दोस्त जिसको जश्ने-बहार
हमारा धर्म मनाता है साल में दो बार।
बहुत बुलंद है छब्बीस जनवरी का विकार
बड़ा हसीन है पंद्रह अगस्त का त्योहार।⁶⁴

साहित्यिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब देश पर कोई मुसीबत आई है, साहित्यकारों ने अपनी कविताओं के द्वारा अलसाए हुए देशवासियों में चेतना जाग्रत की है। बकिमचंद्र चट्टोपाध्याय के गीत 'वंदे मातरम्' को गाते-गाते हमारे क्रांतिकारी फाँसी के फंदे पर झूल गये हैं। डॉ० इक़बाल का तराना 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा' देशप्रेम की अद्भुत मिसाल है। नूरसाहब ने भी ऐसे ही कठिन समय में देशवासियों से भारतमाता के मंदिर में आने का आह्वान अपनी नज़्म 'कह दो मंदिर में चलें आए पुजारी सारे' में किया है।

(घ) काव्य-शिल्प

अपने हृदयगत भावों को मूर्तरूप में अभिव्यक्त करने के लिए कवि जिन साधनों का

आश्रय लेता है, वे समस्त साधन काव्यशिल्प के अंतर्गत समाहित किए जाते हैं, किंतु इन साधनों में भी भाषा ही वह मुख्य अंग है, जिसके चारों ओर साधन घूमते हैं। अभिव्यक्ति की सफलता एवं विफलता मुख्य रूप से भाषा की सबलता एवं हीनता पर ही निर्भर करती है। सफल कवियों के काव्य में भावपक्ष के साथ ही कलापक्ष की पुष्टता के भी दर्शन होते हैं, किंतु इसके अतिरिक्त काव्य के अन्य रूप भी दिखाई देते हैं। कुछ कवियों के काव्य में भावपक्ष की प्रबलता एवं कलापक्ष की गौणता रहती है, तो कुछ कलाप्रिय कवियों में भावपक्ष गौण ही रह जाता है, किंतु कलापक्ष निखर उठता है।

(अ) भाषा :

भाषा-शैली काव्य-साहित्य का मूल अनिवार्य तत्त्व है। भाव आत्मतत्त्व है तो भाषा-शैली शरीर-धर्मा। भावानुभूति के शब्दार्थ-रूप ग्रहण करने से ही साहित्य अस्तित्व में आता है। श्री कृष्णबिहारी 'नूर' की काव्यभाषा को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— 1. उर्दू-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य, 2. हिंदुस्तानी भाषा। इसका विवेचन हम निम्न प्रकार कर सकते हैं—

1. उर्दू-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य :

चूँकि लंबे समय तक मुसलमानों का भारत पर शासन रहा, इसलिए जहाँ शासन की भाषा उर्दू-फ़ारसी थी, वहीं जनसामान्य में भी उर्दू ही बोली जाती थी। तत्कालीन उर्दू में अरबी-फ़ारसी के शब्दों की अधिकता थी। उसके बाद अँग्रेजों ने शासन किया तो शासन की भाषा अँग्रेज़ी हो गई। यही कारण है कि 20वीं शताब्दी के प्रथम चरण में पैदा होनेवाले लोगों की भाषा उर्दू अथवा अँग्रेज़ी थी। नूरसाहब भी चूँकि सन् 1925 में पैदा हुए, इसलिए परिवार में बोली जानेवाली भाषा का उन पर प्रभाव पड़ा। फिर, कायस्थ परिवारों में तो उर्दू को बड़े सलीके के साथ सजाया-सँवारा जाता था, इसलिए नूरसाहब की प्रारंभिक रचनाओं में उर्दू-फ़ारसी के शब्दों की अधिकता मिलती है। उनके यहाँ राज़े-मुहब्बत, आशकार, नज़र, इंतज़ार, अहले-चमन, जुनून, अंदाज़ा-ए-बहार, तक्ज़ह, फ़साने, नब्ज़, इख़्तिसार, सागर, ख़्वाहिश, मय, तमन्ना, ज़िदगी, तिशनगी, हद, तबाही, फ़साना, नामुकम्मल, दिल, बाक़ी, आरज़ू, नज़रें, तलाश, मंज़िल, आस्ताँ, क़दम, निशाँ, बज़्म, पाबंदी-ए-जुबाँ, ख़याल, मजबूर, आख़िर, आलम, बग़ैर, गोक़ि, ईमाँ, मुश्क़ल, इश्क़, ज़िदगी, मालूम, ग़म, खुशी, जामे-शराब, गुनाह, हक़दार, अहले-गुलिस्ताँ, आराइशे-दामाँ, गुंजाइशे-दामाँ, सिलसिला-ए-शब, हस्ती, दुनिया, गेसू-ए-परेशाँ, मौज़, जुम्बिश, हस्ती, सफ़ीने, साहिल, तलातुम, तूफ़ाँ, माज़ी, शम्प-अदब, तहज़ीबे-बशर, अफ़साना, दिले-नादाँ, मंज़िल, उम्रे-गुरेज़ाँ, असीर, रोशन, ज़मीर, रहमत, गुनाह, तसवीर, दैर, हरम, ख़याल, तामीर, ख़्वाब, बेहतर, ताबीर, जन्नत, अहसास, शिकस्ते-होशो-हवास, गर, अरमान, इत्मीनान, नफ़स, अहसान, दौर, जीस्त, ख़त, ग़ालिबन, हालो-माज़ी, रब्त, आशना, वक़्त, याददाश्त, गर्द आलूद, आइना, वाक़िया, अफ़साना, जुनूँ, आग़ही, क़ैद, ज़हन, आवारगी, लब, रिंद, तिशनगी, सिम्त, जादा, मंज़िले-मक़सूद, बेरुख़ी, नक़ाब, बे-चेहरगी, लमहात, गुज़रते, जहाँ, ख़ता, अदा, हया, जफ़ा, शरमा, ख़फ़ा, बे-वक़्त, महरूमे-असर, बादे-सबा, गर्दे-सफ़र, ख़ूबी, ख़ामी, नफ़रत, खुशबू, तसवीर, हयात, लमहा,

वजूद, निशाँ, फ़ज़ा, तहलील, लकीर, यकीन, दैरो-हरम, जंजीर, तर्के-तलब, दामनगीर, वरक, तहरीर, हसरते-तबस्सुम, ख़याल, खुदकुशी, अब्वलो-आख़िर, औराक, बे-इब्तिदा, बे-इन्तिहा, हुस्नो-उल्फ़त, अहसासे-वजूद, आख़िरी, लमहा, शायद, तर्के-मुहब्बत, सफ़र, ख़त्म, तनहा, तमाम, रिशतों, रस्मो-राह, ख़तूत, रहम, निगाह, दुनिया, आख़िर, तसादुम, ख़ामोशी आदि प्रयोग किए गए शब्दों में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो आम आदमी की समझ से दूर हो गए हैं, बल्कि कुछ शब्द तो ऐसे हैं, जिनके अर्थ समझने के लिए शिक्षित वर्ग को भी शब्दकोश का आश्रय लेना पड़े।

2. हिंदी व हिंदुस्तानी भाषा :

हम पहले ही बता चुके हैं कि बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में देश में शिक्षित वर्ग की दो प्रमुख भाषाएँ थीं— उर्दू और अँग्रेज़ी। उस समय उर्दू कविता में अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों को प्रमुखता के साथ प्रयोग किया जाता था, क्योंकि आज के कठिन शब्द उस समय कठिन नहीं थे। लेकिन वर्तमान में वे शब्द आम बोलचाल की भाषा नहीं रहे। उर्दू से लोगों का रुझान हटता चला गया और हिंदी का अधिकाधिक प्रयोग होने लगा। पहले मुशायरे और कविसम्मेलन अलग-अलग हुआ करते थे और अलग-अलग ही उनका श्रोतावर्ग होता था, लेकिन वर्तमान में जब से गंगा-जमुनी कार्यक्रमों का आरंभ हुआ है, तबसे उर्दू और हिंदी एक-दूसरे के निकट आई हैं। हिंदी के कवियों ने जहाँ संस्कृतनिष्ठ भारी भरकम शब्दावली को त्यागा है, वहीं उर्दू के कवियों ने अपनी शब्दावली से अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों को हटाया है। आज की उर्दू-हिंदी की पहचान शब्दावली के आधार पर नहीं, बल्कि लिपि के आधार पर ही संभव है। भाषा के इस कठिन दौर में जब अँग्रेज़ी का भूत युवावर्ग के सिर पर सवार हो, हिंदी को आसान किया जाना आवश्यक था। उर्दू-हिंदी के कवियों ने ऐसा किया भी।

नूरसाहब ने भी उस कठिन शब्दावली को त्यागकर हिंदी को गले लगाया और हिंदी के क्षेत्र में अपनी पहचान बनाई। अपनी रचनाओं में उन्होंने संस्कृत और हिंदी के शब्दों को प्रमुखता दी है। उनकी शब्दावली में दुख, नमन, हवन, कार्य, दूभर, ज्वाला शमन, हृदय, इच्छा, दमन, साधना, तपस्या, अंत, गहन, संध्या, रूप, पूजा, नयन, आशंका, पर्वत, शिखर, आस्था, गंगाजल, आचमन, मार्गदर्शक, आयतन, दुख-सुख, लज्जित, आराधना, आवश्यक, जीवन, कामिनी, मन, नूपुर, वंदना, राजपथ, संकेत, चिह्न, चल-अचल, आकाश, धरती, अस्तित्व, दिशा, आरंभ, ध्यान, वर्णन, शब्द, भाषा, मीरा, अधिकार, साधु, गेरुए, खटपट, जनम, बूँद, अमृत, चंदन, सिंदूर, सुहागन, साधना, माँग, चुनाव, आवागमन, देवता, मंदिर, मिलन, ईश्वर, बधाई, अंतिम, पृष्ठ, राम, अस्तित्व, सीता, विशाल, सूरज, बेला, अर्थहीन, पुस्तक, धरते, भाषा, गागर, कारण, अता-पता, धन, अवतार, रचना, पतवार, गंगा, सचित्र, चरित्र, पवित्र, विचित्र, चित्र, मित्र, धर्म, मुखड़ा, दरपन, पाप, आदर्श, ममता, रक्षक, भक्षक, जोगी, गहन, जननी, अंतर्दृष्टि, दर्शन, बिंदिया, हंसवाहिनी, वरदान, वाणी, शब्द, अर्थ, सुगंध, ज्ञान, चरण, अरपन, भगवती, भिखारन, हे सिंहवाहिनी, महिषासुर, कष्ट, मुक्ति, जगदंबे, विनती, निवेदन, शंकर, तिरशूल, अवतार, कमरे आदि संस्कृत और हिंदी के ऐसे सैकड़ों शब्द हैं, जो कभी

ग़ज़ल की शब्दावली में सम्मिलित नहीं रहे, लेकिन नूरसाहब ने इस कठिन कार्य को भी आसान कर दिखाया। उन्होंने अपनी अभिव्यक्ति को जनोन्मुखी बनाने के लिए अपने कथ्य को आसान किया। उन्होंने शब्दकोश का झगड़ा ही समाप्त कर दिया। संस्कृत के ऐसे बहुत से शब्द, जिन्हें अपनी रचनाओं में प्रयोग करते समय हिंदी कवि भी घबराते हैं, उन्हें नूरसाहब ने निडर होकर प्रयोग किया। उनके द्वारा प्रयोग किए गए इन शब्दों के स्थान पर किसी अन्य भाषा का कोई पर्यायवाची प्रयोग कर पाना संभव नहीं है, क्योंकि ये शब्द भाव और अर्थ की आवश्यकता बन गए हैं। इस प्रकार नूरसाहब ने ग़ज़ल में हिंदी-संस्कृत शब्दों के प्रयोग का सपना ही नहीं देखा, बल्कि उस सपने को मूर्तरूप भी दिया। यहाँ तक कि नाविल और फ़्रेम जैसे अँग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग किया। उनके भारतीय चिंतन और हिंदी-संस्कृत शब्दों के प्रयोग ने उन्हें हिंदी-कवियों की श्रेणी में ला खड़ा किया। हिंदी-ग़ज़ल का जो सपना उन्होंने देखा, उसका बीजारोपण भी किया और उसे पुष्पित-पल्लवित भी किया। उन्होंने यह दिखा दिया कि हिंदी-संस्कृत के वे शब्द जिन्हें ग़ज़ल में प्रयोग करने में रचनाकार संकोच करते हैं और नाक-भौंह सिकोड़ते हैं, उनका कितनी सुंदरता के साथ प्रयोग किया जा सकता है। उन्होंने उर्दू और हिंदी के बीच 'भाषाई पुल' की भूमिका निभाई। निश्चित रूप से नूरसाहब का यह प्रयोग सफल रहा। इससे हिंदी-ग़ज़लकारों को एक नई दिशा मिलेगी।

(आ) प्रतीक और बिंब :

प्रतीक देशकाल, सभ्यता, संस्कृति के आधार पर निर्मित होते हैं। प्रकृति और प्रकृति-इतर सभी क्षेत्रों से प्रतीकों का चयन होता है। कविगण परंपरा से भी अधिक प्रतीक ग्रहण करते हैं और अपनी निजी कल्पना के बल पर नए-नए प्रतीकों का भी आविष्कार करते हैं। अतः काव्य में प्रतीक वह अप्रस्तुत-विधान है, जो केवल सादृश्य या साधर्म्य अथवा पूर्ण सादृश्य-साधर्म्य के कारण नहीं, अपितु रूढ़िगत संबंध अथवा सापेक्ष आकस्मिक संबंध या समान व्यंजना के कारण किसी दूसरी वस्तु को सांकेतिक या सूचित अथवा प्रत्यक्ष करता है या उसका आदर्श प्रतिनिधित्व करता है।

नूरसाहब की ग़ज़लें भारतीय दर्शन और भारतीय चिंतन से ओतप्रोत हैं। उनकी ग़ज़लों में भारतीय परिवेश की सुगंध आती है। 'नींद से आँखों की खटपट', 'दुख-सुख की कसौटी', 'अनदेखे उजाले की दीवार', 'तपे हुए खरे सोने का भाव', 'देवता की तरह मंदिर में कैद होना', 'जीवन मंदिर का दिया', 'आवाज़ की छुअन', 'ध्यान में गुम', नाविल में 'अंतिम पृष्ठ', 'मिलन की बेला', ज़िंदगी के लिए- 'पिछले जनम की गाढ़ी कमाई', 'अर्थहीन-सी पुस्तक' व 'माँ द्वारा बच्चे को उछालकर खिलाना'; राजपथ पर 'संकेतों के चिह्न', साँसों का 'दुख को नमन', आँखों द्वारा 'रूप की पूजा', 'आशंकाओं के पर्वत-शिखर', 'आस्था का गंगाजल', 'कदों का आयतन', 'आराधना में ग़बन', 'साँसों की लक्ष्मण-रेखा', दर्पण को 'सोने के फ़्रेम में जड़ना', 'ओस की उँगलियाँ', 'ज़िंदगी के पुराने शूमारे', 'रोशनी का शोर', चिता के धुएँ के लिए 'आग के क़लम की सियाही', जीवन के लिए 'धूप-छाँव', बिंदिया के लिए 'मंदिर का चिराग़', हाँठों के लिए 'खिलता हुआ फूल', जीवन के लिए 'सूरजमुखी का फूल', आँसुओं के लिए 'यादों के दीये', ग़मों के लिए 'नागन', सच्चे प्यार के लिए 'चंदन' के

प्रतीकों एवं बिंबों का प्रयोग किया गया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नूरसाहब द्वारा अपने शेरों में प्रयुक्त किए गए प्रतीक एवं बिंब पारंपरिक नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृति में सराबोर हिंदी के नए प्रतीक एवं बिंब हैं।

निष्कर्ष :

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि नूरसाहब के काव्य में अध्यात्म की प्रमुखता है तथा दूसरे स्थान पर शृंगार है। लेकिन, यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उनके शृंगार का आधार मांसलता नहीं, बल्कि सौंदर्य की आत्मा है। कई स्थानों पर उनके अध्यात्म में शृंगार और शृंगार में अध्यात्म के दर्शन होते हैं। उनके शेरों में प्रकृति-वर्णन भी पाया जाता है और समाज का वास्तविक चित्रण भी। उन्होंने आम आदमी के दुख-दर्द, वर्तमान के विषाक्त वातावरण और मानवीय मूल्यों के हास को भी अपने शेरों में चित्रित किया है।

जहाँ तक भाषा का प्रश्न है तो उनके प्रारंभिक काव्य में उर्दू-फ़ारसी के क्लिष्ट शब्दों की अधिकता है। यह क्लिष्टता हमें उनकी प्रथम पुस्तक 'दुख-सुख' में दिखाई देती है, जबकि द्वितीय पुस्तक 'तपस्या' में भाषा सरल हो गई है और तीसरे काव्य-संग्रह 'समंदर मेरी तलाश में है' में तो उनकी भाषा आम हिंदुस्तानी की भाषा हो गई है। उन्होंने अपनी ग़ज़लों में संस्कृत की उस तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसे ग़ज़लों में प्रयोग करने से कविगण घबराते और कतराते रहे हैं। भाषा के स्तर पर उन्होंने हिंदी-ग़ज़लकारों का उत्साहवर्धन भी किया है और उनके प्रेरणास्रोत भी बने हैं। उन्होंने हिंदी के कुमकुम से ग़ज़लों की देवी को सजा-सँवारकर उसकी आराधना की है। शब्दकोश की झंझट ही समाप्त करदी है। यानी उर्दू और हिंदी के बीच मज़बूत भाषाई पुल का निर्माण किया है।

नूरसाहब ने छंद की शर्तों का पूर्णतः पालन किया है। चूँकि उनका आगमन उर्दू से हिंदी में हुआ है, इसलिए वे जानते थे कि ग़ज़ल का माधुर्य क्या है, उसकी कोमलता क्या है और कथ्य के स्तर पर उसकी संप्रेषणीयता क्या है। उनकी ग़ज़लों में उर्दू-फ़ारसी के पारंपरिक प्रतीक नहीं हैं, बल्कि प्रतीकों और बिंबों का चुनाव उन्होंने भारतीय परिवेश में रची-बसी हिंदी से किया है। उनके प्रतीक और बिंब भारतीय संस्कारों और चिंतन से ओतप्रोत हैं, जो उन्हें अन्य कवियों से ऊँचे आसन पर विराजमान करते हैं।

संदर्भ

1. कृष्णबिहारी 'नूर' से साक्षात्कार : दैनिक राष्ट्रीय सहारा, 29 मार्च 1994
2. ग़ज़ल इंटरनेशनल : संपा० मंसूर उस्मानी, पृ० 9
3. कृष्णबिहारी 'नूर' से साक्षात्कार : दैनिक राष्ट्रीय सहारा, 29 मार्च 1994
4. कृष्णबिहारी 'नूर' : दुख-सुख, पृ० 62
5. वही, पृ० 79
6. वही, पृ० 80
7. वही, पृ० 5
8. वही, पृ० 8
9. कृष्णबिहारी 'नूर' : आज के प्रसिद्ध शायर कृष्णबिहारी 'नूर', संपा० कन्हैयालाल नंदन, पृ० 150

10. कृष्णबिहारी 'नूर' : समंदर मेरी तलाश में है, पृ० 10
11. वही, पृ० 58
12. वही, पृ० 69
13. वही, पृ० 136
14. वही, पृ० 23
15. वही, पृ० 36
16. वही, पृ० 37
17. वही, पृ० 69
18. वही, पृ० 136
19. वही, पृ० 11-12
20. वही, पृ० 20
21. वही, पृ० 21
22. वही, पृ० 22
23. वही, पृ० 25-26
24. वही, पृ० 28
25. वही, पृ० 30
26. वही, पृ० 33
27. वही, पृ० 34
28. वही, पृ० 30
29. वही, पृ० 44
30. वही, पृ० 56
31. वही, पृ० 58
32. वही, पृ० 59-60
33. वही, पृ० 61
34. कृष्णबिहारी 'नूर' : समंदर मेरी तलाश में है, पृ० 3
35. वही, पृ० 5
36. वही, पृ० 13
37. वही, पृ० 20
38. वही, पृ० 25-26
39. वही, पृ० 27
40. वही, पृ० 31-32
41. वही, पृ० 34
42. वही, पृ० 37-38
43. वही, पृ० 41-42
44. वही, पृ० 44
45. वही, पृ० 47-48
46. कृष्णबिहारी 'नूर' : दुख-सुख, पृ० 43

47. वही, पृ० 46
48. वही, पृ० 48
49. वही, पृ० 60
50. वही, पृ० 80
51. वही, पृ० 103
52. कृष्णबिहारी 'नूर' : समंदर मेरी तलाश में है, पृ० 101
53. वही, पृ० 103
54. वही, पृ० 116
55. वही, पृ० 116
56. वही, पृ० 116-117
57. वही, पृ० 14
58. वही, पृ० 8
59. वही, पृ० 10
60. वही, पृ० 12
61. वही, पृ० 15-16
62. वही, पृ० 19
63. वही, पृ० 23
64. वही, पृ० 55

□ सी-130, हिमगिरि कालोनी
कांठ रोड, मुरादाबाद (उ०प्र०)
09927376877

बालकृष्ण गर्ग के बालसाहित्य का शैलीवैज्ञानिक विवेचन

श्रीमती विधु गुप्ता, शोध-छात्रा
डॉ० मिथिलेश रोहतगी, शोध निदेशक
पूर्व रीडर हिंदी विभाग
एम०एम०एच० कालेज, गाज़ियाबाद (उ०प्र०)

शैली का महत्त्व :

मनुष्य अपने भावों को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करता है। भाषा अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है। शैली से तात्पर्य भाषा को प्रस्तुत करने की विधि से है। किसी व्यक्ति की अभिव्यक्ति का ढंग ही उसकी (भाषा की) शैली है।

‘यह किसकी भाषा है—इसकी पहचान शैली के आधार पर ही होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के भावाभिव्यंजन, यानी भाषा-प्रयोग के ढंग अलग-अलग होते हैं।’¹

‘एक व्यक्ति की भाषा दूसरे व्यक्ति से नहीं मिलती। व्यक्तिगत स्तर पर भाषा का अध्ययन प्रस्तुत करने में व्यक्ति की शैली पहचानी जाती है। शैली व्यक्ति से भिन्न नहीं होती। शैली-विज्ञान यों भाषा के कलात्मक स्वरूप को, अभिव्यक्ति-कौशल को तथा भाषा की व्यंजना-शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करता है।’²

प्रायः देखा जाता है कि एक ही क्षेत्र, वातावरण यहाँ तक कि एक ही घर में रहने वाले लोगों का बात करने का तरीका मेल नहीं खाता। कोई भाषा में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करता है तो कोई उसे आधुनिक बनाने के लिए उसमें अँग्रेजी के शब्दों की भरमार कर देता है। कोई लंबा वाक्य बोलता है, तो कोई छोटा, कोई मुहावरे और अलंकारों से अपनी भाषा सजाता है, तो कोई अति स्वाभाविक वाक्यों का प्रयोग करता है। प्रत्येक मनुष्य की अभिव्यक्ति का ढंग उसके व्यक्तित्व को उजागर करता है। यही उसकी शैली होती है। यदि संसार की किसी भी भाषा को उसके मूल रूप में अर्थात् उसके परिनिष्ठित और मानक रूप में ही, उस भाषाभाषी के द्वारा समाज में प्रस्तुत किया जाए तो वह शैली नहीं कही जा सकती। ‘भाषा का व्यावहारिक मानक सामान्य रूप से शैली नहीं है। कुछ लोग भाषा के इस सामान्य रूप से अलग हटकर लिखते या बोलते हैं, वहीं शैली उपस्थित हो जाती है। भाषा लिखने, बोलने या बोलने के विशिष्ट ढंग को ही शैली कहते हैं।’³

भाषा की शैली को और अधिक स्पष्ट करने के लिए नीचे एक वाक्य दिया जा रहा है, जिसे अनेक लोग अपनी-अपनी रुचि के अनुसार अनेक तरीकों से बोलते हैं—‘भारत ने पाकिस्तान को मैच में हरा दिया।’

1. भारत जीत गया।
2. पाकिस्तान हार गया।
3. पाकिस्तान को भारत ने मैच में हरा दिया।
4. भारत ने पाकिस्तान को हरा दिया।
5. मैच में भारत ने पाकिस्तान को हरा दिया।
6. मैच में पाकिस्तान भारत से हार गया।
7. पाकिस्तान मैच में भारत से हार गया।
8. भारत मैच में पाकिस्तान से जीत गया।
9. पाकिस्तान हार गया मैच में भारत से।
10. भारत जीत गया मैच में पाकिस्तान से। आदि।

ये भाषा-प्रयोग के ढंग हैं। एक ही बात को सामान्य ढंग से न कहकर विभिन्न और विशिष्ट ढंग से कहा गया है। यही शैली कहलाती है। भाषा में शैली का प्रयोग करने का मुख्य कारण अभिव्यक्ति को कलात्मक और सुंदर बनाना होता है। किसी के बोलने का ढंग हमें अपनी ओर खींचता है, तो किसी के बात करने के ढंग से हम दूर भागते हैं। यही भाषा की शैली होती है, जो एक ही बात का, सुनने वाले पर अलग-अलग प्रभाव डालती है।

बालकृष्ण गर्ग के साहित्य का शैलीवैज्ञानिक विवेचन :
(क) सरल एवं सुबोध शैली का प्रयोग :

बालकृष्ण गर्ग मधुभाषी व्यक्ति हैं। वे कड़वी बात को भी दूसरे के सम्मुख इस प्रकार से प्रस्तुत कर देते हैं कि सामने वाले को उस बात का बुरा नहीं लगता। गर्ग जी एक बालसाहित्यकार हैं और शैली की सरलता और मधुरता बालसाहित्य का आधार है। बच्चों को कोई भी बात समझाने या उनका मनोरंजन करने के लिए हमेशा कोमल और सरल शैली का प्रयोग किया जाता है। गर्ग जी इस बात को बाखूबी जानते हैं। गर्ग जी द्वारा लिखे बालगीतों की शैली सरल है। इसमें कलात्मक साधनों का प्रयोग किया गया है, किंतु यह प्रयोग एक सीमा में ही किया गया है। उन्होंने प्रायः सरल-सुबोध भाषा-शैली का प्रयोग करते हुए बालसाहित्य की रचना की है। बच्चे उनके द्वारा लिखे बालगीतों को न सिर्फ आसानी से समझ लेते हैं, बल्कि उसे कंठस्थ भी कर लेते हैं। गर्ग जी की सरल-सुबोध शैली में लिखी कुछ रचनाएँ निम्नलिखित हैं—

चिड़िया ले तू दाना खा,
 चूँ-चूँ, चूँ-चूँ गाना गा।
 तिनके ला, घोसला बना,
 बच्चों को उड़ना सिखला।

—रचना : 28 अप्रैल 1996

बंदर का जब ब्याह हो गया,
 बंदरिया के साथ,

हनीमून को गया मसूरी
डाल हाथ-में-हाथ।
किंतु वहाँ काले मुँह वाले
देखे जब लंगूर,
घबराकर बंदरिया को ले
भागा उनसे दूर।

—आटे-बाटे दही चटाके, पृ० 47

जनगण-मन के नायक बापू,
राम-नाम के गायक बापू।
सब धर्मों का आदर करते,
इस धरती पर आए बापू।
आसमान तक छाप बापू,
मुक्ति-पर्व की बनी पताका,
फहर-फहर फहराए बापू।

—रचना : 3 अगस्त 1977

रिमझिम बरस रहा है पानी,
थिरक रही है वर्षा रानी।
ओढ़े है बादल की चूनर,
चमक रहे बिजली के जेवर।

—नंदन, अगस्त 1977

हँसता और हँसाता है,
सबको ही वह भाता है।
खुशी दूसरों को देता,
खुशी स्वयं भी पाता है।

—जीवन सफल बनाता है

(ख) गर्ग जी की शैली में शब्द-चयन :

बालकृष्ण गर्ग ने अपनी शैली में सभी प्रकार के प्रचलित शब्दों को स्वीकार किया है। उन्होंने प्रायः उन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है, जो व्यवहार में हैं, जिससे उनकी शैली बच्चों को अटपटी न लगकर सामान्य ही लगे। उनकी यही पंचमेल शैली बच्चों को खूब पसंद आती है।

गर्ग जी की शैली में मिलने वाले अनेक शब्दों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

विदेशी शब्द :

गर्ग जी ने अनेक भाषाओं के शब्द अपनी भाषा में मिलाकर, अपने बाल-गीतों में प्रस्तुत किए हैं। ये निम्नलिखित हैं—

अँग्रेजी के शब्द :

बालकृष्ण गर्ग ने अपनी शैली में अँग्रेजी के शब्दों का भरपूर प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयोग किए गए अँग्रेजी के शब्द कहीं भी अटपटे नहीं लगते, बल्कि वे उनके बाल-गीतों को और अधिक रुचिकर बना देते हैं। अँग्रेजी के शब्दों से युक्त उनके कुछ बालगीत इस प्रकार से हैं—

बंदर ने खोला ट्रांजिस्टर,
सुनने को जब गाना।
घर-घर आवाजें निकली,
भूला सुई घुमाना।
बोला— 'बेसुरा टर्ता है,
यह घटिया ट्रांजिस्टर।
इससे तो अच्छा गाती है,
अपनी कोयल 'सिस्टर'।

—बालकृष्ण गर्ग के शिशुगीत, पृ० 52

कहा भैंस ने—'छोड़ 'बैड-टी', 'मिल्क' पिया कर,
अपना अगर न भाए, मेरा मँगा लिया करा।'

—आटे-बाटे दही चटाके, पृ० 73

जंगल में बलवान शेर ने
किए बहुत घोटाले,
एक डायरी से 'सी०बी०आई०'
को मिले हवाले।
कहा शेर ने, जब 'अरैस्ट'
होने की आई बारी,
—'रैस्ट' करूँगा अब कुछ दिन
मैं 'गैस्ट' बनूँ सरकारी।'

—वही, पृ० 58

तरह-तरह के 'डांस' हुए, और 'गेम' भी नए-नए,
खाई सबने फिर दावत, कैसी थी बस पूछो मत।
हैप्पी बर्थ डे, हैप्पी बर्थ डे, हैप्पी बर्थ डे, हैप्पी बर्थ डे।
हँसी-खुशी का ओर न छोर, मिले 'गिफ्ट' सब लिए बटोर,
खूब बजा 'अँग्रेजी बैंड', हुआ 'पार्टी' का यों 'ऐड'।
हैप्पी बर्थ डे, हैप्पी बर्थ डे, हैप्पी बर्थ डे, हैप्पी बर्थ डे।

—रचना : 19 जून 1998

फिर 'जनरल नॉलेज' ऊँट ने ऊटपटाँग पढ़ाई,
चीते ने 'ड्राइंग' सिखलाई 'पीटी' भी करवाई।
'नंबर-वर्क' कराया घोड़े ने वन, टू, श्री, फ़ोर,

आए 'म्यूज़िक-डांस' सिखाने, म्यूज़िक टीचर मोरा।

—राष्ट्रीय सहारा (उमंग) 19 मार्च 1996

गोपी गार्ड बनेगा, टिकू बन जाएगा टी०टी०,
शीला के सिगनल करते ही, मैं दे दूँगा सीटी।

—रेल का खेल

गर्ग जी ने इसके अतिरिक्त और भी अनेक अंग्रेज़ी के शब्दों का प्रयोग अपने गीतों में किया है। जैसे कि स्टेशन, टिकिट, ऑफिस, टेबिल, थर्मामीटर, ट्रेनिंग-सेंटर, कंप्यूटर, प्रोग्रामिंग, 'फस्ट-डिवीज़न', फेल, फ्लॉप, ट्यूब वैल, डाइट, डॉक्टर, मिस्टर, एडिट, मैथ, इंगलिश, साइंस, हिस्ट्री, ज्योग्रैफ़ी, मिस्ट्री, टेस, पुट, बट, डिस्टिक्शन, कॉफी, नोबल, कॉलेस्ट्रॉल, कंट्रोल, रिसर्च, फूट-इंस्पेक्टर, कॉमा, फुलस्टॉप, टूर, स्क्रीन, डौट टच मी, डैमफूल, रिपोर्टर, टॉप, पॉप-सॉंग, फ्री-स्टाइल, शॉप, प्रेशर-कुकर, हनीमून, सिस्टर, स्कूटर, बाइसिकिल, हिट, टॉप-क्वालिटी, लेट, हैलो, टेलीफोन, गिफ्ट, स्लिप, पेपर, एयर-बस, बुकिंग, पार्क, पिकनिक, टिफिन, रूल, स्कूल, डौन, शूट, फुल-स्पीड, वोल्टेज, रेगुलेटर, एअर कंडीशनर, इलेक्शन, नंबर, फनी, डी फॉर-डॉग, सी फॉर-कैट, बैग, वारंट आदि।

उर्दू-अरबी के शब्द :

गर्ग जी को उर्दू-अरबी के शब्दों का अच्छा ज्ञान है। उन्होंने स्वाभाविक रूप से अपने बाल-गीतों की शैली में इन शब्दों का प्रयोग किया है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

हम हो नहीं कभी हैवान,
बे-ईमान, दुष्ट, शैतान।
बनें एक सच्चे इंसान
हो मानवता हित कुरबान।

—रचना : 5 मई 1996

आखिर यों मतदान हुआ,
करते प्रभु से सभी दुआ।
'जीत न जाए जालिम शेर,
हे प्रभु! करना मत अंधेरा।

—रचना : 16 सितंबर 1995

तेरे खून का कतरा-कतरा अनगिन फूल खिलाएगा,
तेरी भस्म का ज़र्रा-ज़र्रा फसलें नई उगाएगा।
तेरी हिम्मत, तेरी जुरअत, तेरी फितरत अद्भुत थी,
साहस, सहनशीलता, समता, ममता की तू मूरत थी।
इंदिरा मैया तुझको हरगिज़-हरगिज़ नहीं भुलाएँगे,
तेरे ही कदमों पर चलकर भारत नया बनाएँगे।

—राष्ट्रवीणा, अक्टूबर 1998

किस्सों की बस पढ़ूँ किताब,
'मियाँ पढ़ाकू' मिले खिताब।

रहूँ खेलने को बेताब,
जल्दी आए अपना दाव।
गुस्से में खा जाऊँ ताव,
जिस्से अपना रहे रूआब।
रात और दिन देखूँ ख़्वाब,
करूँ न मेहनत, बनों नवाब।

—बालमेला, नवंबर 1990

जब-जब 'बाल-दिवस' आता है आती बहुत तुम्हारी याद,
नेहरू चाचा ज़िंदाबाद, ज़िंदाबाद, ज़िंदाबाद।
नारा दिया देश को तुमने—'है आराम हराम'
किया देश के लिए हमेशा, इंदिरा जी ने काम।
धोखे से खा गया उन्हें यह मज़हब का शैतान,
डूब गया ग़म के सागर में सारा हिंदुस्तान।
अपने ही हाथों से अपना गुलशन कर डाला बरबाद,
आई बहुत तुम्हारी याद।

—उत्कंठा (द्वैमासिक) जयपुर 1999

गर्ग जी ने अपनी शैली में उर्दू, अरबी के अन्य शब्द जैसे—किस्में, खुशबू, ताज़ा, खून, जायकेदार, ताक़तवर, हुज़ूर, साफ़, रोज़, मशहूर, शरबत, ख़राबी, वफादार, तहलका, नब्ज़, तबीयत, आख़िर, अख़बार, आवाज़, माफ़, नालायक, शोर, कायम, खाना, पैर, आफत, फायदा, फ़ौरन, तमाशा, शहद, किस्मत, इकलौता, रोज़, यारी, दुनिया, क़ब्र, इंसान, तूफ़ान, जिद्दी, आज्ञादी, शान, आन, जान, ख़ूब, खालिस्तान, शहीद, इंतज़ाम, शहर, शाशन, दलाल, नज़र, ज़िंदा आदि जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया।

संस्कृत और देशी शब्द :

गर्ग जी ने विदेशी शब्दों के साथ देशी शब्दों का भी भरपूर प्रयोग किया। उनके बाल-गीतों में संस्कृत और तद्भव शब्दों का भंडार मिलता है। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार से हैं—

धैर्य-लगन वाला ही तो,
अपना भाग्य विधाता है।
'बाल' वही शुभ कर्मों से,
जीवन सफल बनाता है।

—बालकृष्ण गर्ग के बालगीत, पृ० 108

अच्छा फल शुभ कर्मों का,
और बुरा दुष्कर्मों का,
मर्म यही सब धर्मों का,
यही प्रकृति का नियम अटल।

जल रे मेरे दीपक, जल।
वहीं 'सत्य' है, 'सुंदर' है,
जहाँ नहीं तम का डर है,
केवल ज्योति, ज्योतिधर है,
वहीं परम 'शिव', चिर मंगल।
जल रे मेरे दीपक जल।

—साप्ताहिक हिंदुस्तान, 21 नवंबर 1982

झिलमिल-झिलमिल जलते-बलते,
लगते मनमोहक आकर्षक,
नन्हे-नन्हे-से हम दीपक।
मिट्टी का तन, पर उज्ज्वल मन,
कर्तव्य निभाते हैं भरसक।
नन्हे-नन्हे-से हम दीपक।
नव स्नेह भरे, शुभ ज्योति धरे,
आश-विश्वासों के पोषक।
नन्हे-नन्हे से हम दीपक।

—सुमन सौरभ, नवंबर 1983

चलें तुम्हारे पद-चिहनों पर, दो ऐसा वरदान,
'पंचशील' का कवच पहनकर, बन जाँ बलवान
'सह-अस्तित्व' मंत्र को जपने लगे सभी संसार,
थिरक उठे सबके आँगन में सत्य, अहिंसा, प्यार।
महक उठें धरती मधुवन-सी, कण-कण से मिट जाए विषाद।

—उत्कंठा (द्वैमासिक) जयपुर 1999

अम्मा ये वन-बाग-बगीचे सुषमा किससे पाते,
मृदु कलरव से विहंगवृद किसका संगीत सुनाते?

—कल्याण, नवंबर 1979

गर्ग जी के गीतों में देशी शब्दों का भी प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे

कि—

मुन्नी रानी, बड़ी सयानी,
देखो, उठी झटककर।
'चाऽऽ पीऊँगी, चाऽऽ पीऊँगी।'
बोली अटक-अटककर।
चीनी कम है बहुत गरम है,
रूठी पैर पटककर।
माँ ने चीनी डाली दूनी,
मुन्नी चाय गटककर।

अब खेलूँगी, नहीं पढ़ूँगी,
बोली मटक-मटक कर।

—मुन्नी रानी

चौके में बंदर-बंदरिया पका रहे थे खाना,
'पाक-शास्त्री' समझें खुद को, आता नहीं बनाना।
एक पराँठा बना, तभी बंदर बोला—'ला थाली;
आधा-आधा खा लें इसको, तू मेरी घरवाली।'

—आटे-बाटे दही चटाके, पृ० 59

(ग) मुहावरे और लोकोक्तियों से सजी शैली :

शैली को सुंदर बनाने के लिए इसमें मुहावरों का प्रयोग किया जाता है। मुहावरे और लोकोक्ति साधारण शैली को भी आकर्षित बना देते हैं। गर्ग जी ने अपने बाल-गीतों में मुहावरे और लोकोक्ति का प्रयोग करने में कंजूसी नहीं की है। उनके बाल-गीतों में प्रयोग किए गए कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

बोझ बनो मत तुम गैरों पर,
रहो खड़े अपने पैरों पर।
बनो नहीं कानों का कच्चा,
देख-भालकर मानो सच्चा।
दागो मत गाली की गोली,
बोलो सबसे मीठी बोली।
बीज वैर के कहीं न बोना,
भरो प्रेम से कोना-कोना।

—नवभारत टाइम्स (रविवार्ता), 13 जून 1982

छक्के छूट गए, दुश्मन की ऐसी हुई धुनाई,
रखी सामने 'जैसे को तैसा' की नई मिसाल बहादुर।

—बालवाटिका, अक्टूबर 1997

देख-देख सब ललचाते हैं,
लार जीभ से टपकाते हैं।

—आटे-बाटे दही चटाके, पृ० 94

दैव-दैव चिल्लाने वाला,
सदा अभावों को रोता
श्रम का फल मीठा होता।

—श्रमजीवी, मई 1988

पढ़कर पापा जी की चिट्ठी,
भूल गया मैं सिट्ठी-पिट्ठी।

—पराग, अप्रैल 1977

बिल्ली बोली—'प्लेग-प्लेग तो चार दिनों का खेल,

जल्दी ही डालूँगी बेटा तेरी नाक नकेला।’

—आटे-बाटे दही चटाके, पृ० 42

दीवाली आई है आज, अँधियारे ने हाथ मले।

नहीं मिठाई के आगे, रोटी की अब दाल गले।

—वही, पृ० 78

प्यारे-प्यारे मुन्ना जी, बड़े दुलारे मुन्ना जी।

सारे ही घर की आँखों के तारे हैं मुन्ना जी।

—आटे-बाटे दही चटाके, पृ० 92

(घ) शैली में ध्वन्यात्मकता और संगीतात्मकता :

श्री गर्ग जी साहित्यकार होने के साथ-साथ संगीत के अच्छे जानकार भी हैं। संगीत में उनकी रुचि, उनके साहित्य में दिखाई देती है। गर्ग जी की शैली में ध्वन्यात्मक और संगीतात्मक शब्दों के विशिष्ट प्रयोग हुए हैं। उनके साहित्य में प्रयुक्त इन शब्दों को पढ़कर स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि कवि को संगीत का अच्छा ज्ञान है। बच्चों को इस प्रकार के शब्दों से युक्त साहित्य बहुत लुभाता है। गर्ग जी के कुछ ध्वनि और संगीत-प्रधान गीत निम्नलिखित हैं—

महक-महक कर फूल खिल उठे,
चहक-चहक कर चिड़िया बोलीं।
दहक-दहक कर सूरज निकला,
बहक-बहक कर किरने डोलीं।
टर-टर, टर-टर मेढक टरते,
झर-झर-झर-झर झरने झरते।
सर-सर-सर-सर हवा बह रही,
मर्मर-मर्मर पत्ते करते।
चम-चम चमकें नदी समंदर,
दम-दम दमकें शबनम के कण।
कुदरत की है अनुपम शोभा,
है अमोल स्वर्णिम प्रभात-क्षण।

—जीवनप्रभात, अप्रैल 1962

खट-खट-खट-खट ताँगा चलता,
फट-फट चलता स्कूटर।
सरपट-सरपट घोड़ा दौड़े,
सट-सट पड़ता हंटर।
फक-फक-फक-फक इंजन चलता,
धक्-धक् करता है दिल।
ठक-ठक-ठक-ठक चले हथौड़ा,

बक-बक करता पागल।

—नंदन, फरवरी 1974

छुनछुन छुनछुन छुनछुन छुन, घर-घर में पकवान तले।
गपगप गपगप गपगप गप, उतर रहे मिष्ठान गले।
धिक्धिक् धिक्धिक् धिक्धिक् धिक्, जुआ खेलते हैं पगले।
धनधन धनधन धनधन धन, मेहनत से ही सदा मिले।
ना-ना ना-ना ना-ना ना, तन-मन रहे नहीं गँदले।
हाँ-हाँ हाँ-हाँ हाँ-हाँ हाँ, हर दिल में बस, प्रेम पले।
घुपघुप घुपघुप घुपघुप घुप, घोर अँधेरा अब न छले।

—चंपक, अक्टूबर (द्वितीय) 1979

थर-थर, थर-थर तन की थिरकन,
किटकिट-किटकिट दाँतों की धुन।
तन थिरकाता, दाँत बजाता,
धूम मचाता, आया शीत!
खों-खों, खों-खों गला गवैया,
छीं-छीं, छीं-छीं नाक नचैया।
सन-सन सन-सन हवा बजाता,
शीत-लहर के गाता गीत।

—लोटपोट, संख्या 255, 26 फरवरी 1977

(ड) चित्रात्मक शैली :

गर्ग जी की शैली की एक और विशेषता यह है कि वह चित्रात्मक है। जब हम उनके गीतों को पढ़ते हैं तो कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जिस चीज़ का वह वर्णन कर रहे हैं, वह हमारी आँखों के सामने सजीव हो गई है। फिर चाहें वे किसी जीव का या वस्तु का वर्णन कर रहे हों या किसी दृश्य या घटना का, सभी चीज़ें उनके अद्भुत चित्रात्मक कला से हमारे सम्मुख सजीव हो उठती हैं।

गर्ग जी ने कई स्थान पर किसी व्यक्ति-विशेष या जीव का वर्णन इतनी सुंदरता से किया है कि पढ़ने-मात्र से हम उसे बिना देखे भी देख लेते हैं। जैसे—

नाक, कान क्या खूब पूँछ है,
आँख चमकती, गज़ब मूँछ है।
पूसी जी की बड़ी पूँछ है,
'मौसी' वह सबकी कहलाती।

—रचना : 1 अक्टूबर 1996

पूरी नब्बे साल उमर है,
इसीलिए तो झुकी कमर है।
लाठी लेकर ही चलती हैं,
गर्दन लगातार हिलती है।

मोटा-मोटा चश्मा पहने,
उजले बालों के क्या कहने।
झुरीदार पोपला मुखड़ा,
कहे बुढ़ापे का सब दुखड़ा।

—साप्ताहिक हिंदुस्तान, 31 अक्टूबर 1973

फटा पजामा, कुर्ता ढीला,
ऊँचा टोपा, रंग-रंगीला।
क्या-क्या स्वांग बनाता जोकर,
सरकस में जब आता जोकर।

—बालभारती, मई 1985

चित्रात्मक शैली में गर्ग जी दीपावली के सुंदर दृश्य का वर्णन कुछ इस ढंग से करते हैं—

दीवाली की जगर-मगर, छिपा अँधेरा इधर-उधर।
नभ में हैं झिलमिल तारे, टिमटिम दीपक धरती पर।
मोमबत्तियाँ-कंदीलें, रंग-बिरंगी हैं सुंदर।
तरह-तरह की रोशनियाँ, बिजली मानो गई बिखर।
आतिशबाज़ी का मौसम, आज रहा है खूब निखर।

—नंदन, नवंबर 1983

बालकृष्ण गर्ग की शैली निसंदेह मन को मोहित करने वाली है। उनका शब्द चयन से लेकर मुहावरों का प्रयोग, उनकी शैली को मधुर और सरल बना देता है।

संदर्भ

1. विज्ञान और हिंदीभाषा का स्वरूप-विकास, डॉ॰ देवेन्द्रसिंह, पृ॰ 235
2. भाषा विज्ञान : स्वरूप, सिद्धांत और अनुप्रयोग, संपादक राजमल बोरा, पृ॰ 16
3. विज्ञान और हिंदीभाषा का स्वरूप-विकास, डॉ॰ देवेन्द्रसिंह, पृ॰ 236

□ ए-2, सेक्टर 10 ए
आई॰डी॰पी॰एल॰ अपार्टमेंट्स
पुलिस स्टेशन के सामने
गुड़गाँव (हरियाणा)
मो॰ 09999085744

कालिदास के नाटकों के विदूषक

डॉ० रणविजय सिंह

एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

संस्कृत विभाग

हंडिया (पी०जी०) कालेज, हंडिया (इलाहाबाद)

नाटक संस्कृत साहित्य का महत्त्वपूर्ण अंग है। श्रव्य काव्य के आनंद से वंचित रहने वाले नाटक का आकर्षक अभिनय देखकर असीम आनंद की अनुभूति करते हैं। कालिदास ने इसी बात को ध्यान में रखकर मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् और अभिज्ञान शाकुंतलम् की रचना की होगी। इन नाटकों में प्रेममूलक आख्यानों को कालिदास ने कथावस्तु के रूप में अपनाया है। इन नाटकों में प्रेम की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। 'मालविकाग्निमित्रम्' के पाँच अंकों में राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेमकथा का वर्णन है। इस नाटक में प्रतिकूल परिस्थिति में रहते हुए राजसी अंतपुर में पनपने वाले प्रेम का यौवन-सुलभ चित्रण है। 'विक्रमोर्वशीयम्' में वैदिक प्रेमाख्यान¹ को आधार बनाकर उर्वशी के प्रेम में उन्मत्त पुरुष का वर्णन किया गया है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' में कामुक प्रेम को वियोग की दशा में तपस्या एवं साधना के द्वारा विशुद्ध प्रेम में परिणत दिखाया गया है।

कालिदास के नाटकों में एक ऐसी विचारधारा दिखाई देती है, जो संपूर्ण नाट्यवस्तु को अधिशासित करती है। कथानक, घटना, कथनोपकथन, चरित्र-चित्रण, कविता तथा आध्यात्मिक उद्देश्य इन सभी तत्वों का उनके नाटकों में अभिराम सामंजस्य उपलब्ध है, जो अभिनेताओं तथा सामाजिकों को समरूपेण प्रभावित करता है।² नाटकीय प्रभाव के संपूर्ण तत्व उसमें दृष्टिगोचर होते हैं।

हास्यरस की अभिव्यंजना कालिदास ने अपने नाटकों में विदूषक के द्वारा बड़ी सफलता से की है।³ संस्कृत नाटकों में विदूषक एक महत्त्वपूर्ण पात्र होता है। कुछ ही नाटकों की कथावस्तु-योजना में उसकी विशेष उपयोगिता नहीं होती है। प्रायः नायक के प्रेम-व्यापारों में सहायता प्रदान करने और दर्शकों का मनोविनोद करने के लिए विदूषक का होना आवश्यक माना जाता है। वह नायक का विनोदी एवं विश्वस्त सखा होता है, जो अपने विकृत आकार, वेश, अटपटे वाक्यों एवं भौंडी आकृतियों तथा भंगिमाओं द्वारा हास्य का वातावरण प्रस्तुत करता रहता है। अपने मूर्खतापूर्ण कार्यों से सभी के लिए हँसी का पात्र बनता है। उसके नाम में कुसुम, वसंत आदि अथवा उनके पर्यायवाची शब्द होते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने विदूषक का लक्षण निम्न शब्दों में किया है।⁴—

कुसुमवसंताद्याभिधः कर्मवपुवेषभाषाद्यैः,
हास्यकरः कलहरति विदूषकः स्वकर्मज्ञः।

अर्थात् किसी कुसुम या वसंत आदि पर, जिसका नाम हो और जो अपनी क्रिया, देह, वेश और भाषा आदि से हँसानेवाला हो। दूसरों को लड़ाने में प्रसन्न रहता हो और अपने स्वार्थ का पूरा ध्यान रखता हो या खाने-पीने की बात भूलने वाला न हो।⁵

शृंगारेऽस्य सहाया विट चेट विदूषकाद्यास्युः,
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमान भंजनाः शुद्धाः।

अर्थात् नायक के प्रति स्वामिभक्त, बातचीत में चतुर, हँसी-मज़ाक में प्रवीण, कुपित वधू के मान को दूर करनेवाले विट, चेट तथा विदूषक कहे जाते हैं।

‘मालविकाग्निमित्रम्’ में विदूषक का प्रवेश प्रथम अंक में ही हो जाता है। वह राजा के प्रेम-व्यापार में अधिक सक्रिय है। वह अन्य नाटकों के विदूषक के समान केवल हँसाने वाला ही नहीं, अपितु राजा का कार्यसाधक सखा भी है। इसीलिए राजा स्वयं उसके विषय में कहते हैं—‘अयमपरः कार्यान्तरसचिवोऽस्मानुपस्थितः।’⁶ गौतम नामक विदूषक की बुद्धि का परिणाम है कि राजा प्रथम बार मालविका को देख पाता है। रानी धारिणी जब मालविका को राजा की दृष्टि से बचाने का प्रयास करती है और राजा अग्निमित्र जब मालविका को देखने के लिए व्याकुल होता है, तब यही विदूषक अपनी बुद्धि से दोनों नाट्याचार्यों में झगड़ा कराकर यह स्थिति उत्पन्न कर देता है कि मालविका को संगीत-परीक्षा देने के लिए राजा के सम्मुख प्रेक्षागृह में आना पड़ता है और राजा उसे अच्छी प्रकार देख पाता है। यहाँ पर आचार्य भरत का विदूषक-संबंधी लक्षण सार्थक हो जाता है—

वामनः दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः,
खलतिः पिंगलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः।⁷

‘मालविकाग्निमित्रम्’ का विदूषक नृत्याचार्य गणदास और हरदत्त को पेटू बताते हुए कहता है कि इनका विवाद देखने-योग्य है। उसकी बात सुनकर देवी धारिणी उसे कलहप्रिय पात्र संबोधित करती है—‘ननु कलहप्रियोऽसि’।⁸

जब महारानी मालविका और बकुलावलिका को कैद करवा लेती है, तब वही विदूषक कैद से छुड़ाने का उपाय खोजता है और सफल भी हो जाता है। कैद से मुक्त मालविका से अग्निमित्र जब समुद्रगृह में मिलता है, उसी समय रानी इरावती वहाँ आ जाती है तब विदूषक के मुख से निकल पड़ता है—‘बन्धन भ्रष्टो गृहकपोतो विडालिकाया आलोके पतितः।’⁹ विदूषक रानी की समानता बिल्ली से और राजा की समानता गृहकपोत से करता है। इस वाक्य को सुनकर दशरूपक के सूत्रवाक्य ‘हास्यकृच्च विदूषकः।’¹⁰ की याद आ जाती है। वहाँ उपस्थित गौतम को देखकर रानी इरावती क्रोधपूर्वक कहती है—‘सत्यमत्र ब्रह्मबन्धुना उद्भिन्नः प्रयोगः। इयम् अस्य कामसचिवस्य नीतिः।’¹¹ अर्थात् इस अधम ब्राह्मण की चाल है। काम सचिव इस ब्राह्मण की यह नीति है। कभी-कभी विदूषक अपने वचनों से हँसी का पात्र बन जाता है, परंतु उसके पीछे भी कोई-न-कोई उद्देश्य रहता है। जब मालविका संगीत-परीक्षा देकर जाने लगती है, तब विदूषक उसे रोककर कुछ प्रश्न पूछना चाहता है और पूछने के बहाने राजा को ऐसा अवसर देना चाहता है, जिससे राजा मालविका

को अच्छी प्रकार देख सके। उसी समय गणदास मालविका को रोककर विदूषक का प्रश्न जानना चाहता है। उस समय देवी धारिणी कहती हैं—‘ननु गौतमवचनमप्यार्थी हृदये करोति।’¹² अर्थात् क्या आप भी गौतम की बातों पर ध्यान देते हैं। विदूषक संगीत-संबंधी प्रश्न न पूछकर मालविका से कहता है— प्रथमोपदेशदर्शने प्रथमं ब्राह्मणस्य पूजा कर्तव्या।’¹³ अर्थात् पहली बार संगीत आदि की परीक्षा (प्रदर्शन) करते समय ब्राह्मण की पूजा करनी चाहिए। विदूषक की बात सुनकर गणदास उससे कहता— ‘महाब्राह्मण! न खलु प्रथमं नेपथ्यसवनमिदम्।’¹⁴ हे महाब्राह्मण! यह मेरा प्रथम प्रदर्शन नहीं है, नहीं तो दक्षिणा देने योग्य तुम्हारी पूजा अवश्य होती।

राजा जब प्रेक्षागृह में जल्दी-जल्दी जाने लगते हैं, तब विदूषक सावधान करते हुए कहता है— भो धीरं गच्छ तत्रभवती धारिणी विसंवादयिष्यति।’¹⁵ प्रेक्षागृह के अंदर विदूषक पुनः सावधान करते हुए कहता है— ‘नयनमधुसन्निहित मक्षिकं च तदप्रमत्त इदानीं पश्य।’¹⁶ अर्थात् आपकी आँखों की मधु (प्रिया मालविका) आ गई है, मक्षिका (धारिणी) भी पास ही स्थित है। अतः सावधान होकर देखने का प्रयास करें।

‘विक्रमोर्वशीयम्’ का विदूषक द्वितीय अंक में प्रस्तुत होता है। यह विदूषक माणवक नाम वाला है। यह मालविकाग्निमित्र के विदूषक की तरह छल-कपट करके नायक की सहायता करने में तत्पर नहीं दिखाई देता। वह राजा के साथ प्रायः विद्यमान रहकर राजा के प्रेम-व्यापार में सहायता करता रहता है। इस नाटक का विदूषक किसी रहस्य को छिपाने में निपुण नहीं है—‘निमन्त्रणिकः परमान्नेनेव राजरहस्येन स्फुटन्न शक्नोम्याकीर्ण आत्मनो जिह्वा रक्षितुम्।’¹⁷ निर्मात्रित जन जिस प्रकार पेट भरा होने पर अच्छा अन्न देखकर अपनी जिह्वा को रोक नहीं पाते, उसी प्रकार मेरा पेट राजरहस्य से भरा रहता है और मैं लोगों को सामने देखकर अपनी जिह्वा को रोक नहीं पाता। राजदरबार की चैटी माणवक (विदूषक) को चुपचाप बैठे हुए वानर के समान बैठा हुआ देखती है— ‘एष खल्वालिखितो वानर इव किमपि तूष्णीभूत आर्यमाणवकः तिष्ठति।’¹⁸ विदूषक जब राजा के मुख से उर्वशी के सौंदर्य की प्रशंसा सुनता है, तब वह कहता है कि उर्वशी भी हमारी तरह विरूपता में बेजोड़ होगी— ‘तत्र भवत्युर्वश्यहमिव विरूपतयाऽद्वितीयारूपेण।’¹⁹ विक्रमोर्वशीयम्²⁰ में विदूषक राजा को वियोग में व्याकुल देखकर परामर्श देता है कि वह सो जाय और स्वप्न में प्रियतमा का दर्शन करे अथवा उर्वशी (प्रियतमा) का एक चित्र अंकित करे, जब भोजपत्र पर उर्वशी द्वारा लिखा प्रेम-पत्र राजा को मिलता है, तब विदूषक उत्सुकतापूर्वक उस प्रेमपत्र को सुनना चाहता है—‘भवानिदानीं प्रसीदतु। अत्रलिखितं श्रोतुमिच्छति।’²¹ उर्वशी का प्रेम-पत्र राजा के हाथ में देखकर विदूषक कहता है कि जिस प्रकार स्वस्तिवाचन करने से मुझे मिष्ठान्न मिलता है, उसी प्रकार आपको यह आश्वासन (प्रेम-पत्र) मिल गया।²² राज के द्वारा विदूषक को मूर्ख अथवा प्रमाद करनेवाला कहा गया है, क्योंकि वह भोजपत्र को सँभालकर रख नहीं पाता। निपुणिका जब उर्वशी द्वारा लिखे प्रेम-पत्र को पाती है, तब महारानी से कहती है— ‘आर्यमाणवकप्रमादेनावयोर्हस्तं गत इति।’²³ उर्वशी के प्रेम-पत्र को जब महारानी पाती हैं और राजा के सामने उस पत्र को दिखाने लगती हैं, राजा लज्जित हो जाते हैं और उसी समय विदूषक परिहास करने लगता है। उसके परिहास को सुनकर राजा मन ही मन कहते हैं— मूढः नायं परिहासकालः।²⁴ महारानी जिस

समय उलाहना दे रही थी, उसी समय विदूषक बीच में टोकते हुए कहता है— भवति, त्वरयास्य भोजनं यत्पित्तोपशमनार्थं भवति।’²⁵ इसमें दो अर्थ निहित हैं। प्रथम अर्थ यह है कि राजा की भूख शांत हो जाय, दूसरा अर्थ यह है कि राजा की काम-पिपासा शांत हो जाय। इन बातों को सुनकर राजा विदूषक को डाँटते हुए कहता— ‘मूर्ख, बलादपराधिनं प्रतिपादयसि।’²⁶ जब पुरुरवा को अपने पुत्र के बारे में जानकारी हो जाती है, तब वह अपने पुत्र से पास बैठे हुए विदूषक को प्रणाम करने के लिए कहते हैं—‘वत्स इतस्तव पितुः प्रियसखं ब्राह्मणमशंकितो वन्दस्व।’²⁷ तब विदूषक कहता है— ‘किमिति शंकिष्यते। नन्वाश्रमवासपरिचित एव शाखामुगः।’²⁸ प्रथम वाक्य में राजा विदूषक की विचित्र आकृति की ओर संकेत करता है तो दूसरे वाक्य में विदूषक स्वयं अपनी आकृति को वानरों-जैसा बताता है। राजा अपने पुत्र से शंकारहित होकर प्रणाम करने को कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि हे पुत्र! यह मानव आकृति से भिन्न होते हुए भी मानव है। उसका उत्तर देते हुए विदूषक कहता है कि यह बालक आश्रम में रहते हुए वानरों से परिचित हो गया होगा अर्थात् उसका रूप वानर जैसा है। इन सभी वर्णनों से ज्ञात होता है कि ‘विक्रमोर्वशीयम्’ का विदूषक ब्राह्मण, मूर्ख, अटपटे वाक्य बोलने वाला, वानरों के आकार वाला और राजा के प्रेम-व्यापार का सहायक रहा होगा।

‘अभिज्ञान शाकुंतलम्’ विदूषक का उल्लेख द्वितीय अंक से मिलता है। इस नाटक का विदूषक अकर्मण्य, भीरू एवं भोजनप्रिय है। दूसरे के आरंभ में दुष्यंत की मृगयाशीलता से त्रस्त विदूषक कहता है— ‘एतस्य मृगयाशीलस्य राज्ञोवयस्क्यभावेन निर्विण्णोऽस्मि ... निकामं शयितव्यं नास्ति।’²⁹ तत्पश्चात् वह विश्राम करने का उपाय सोचता है और अपने को अंग-भंग से व्यथित पात्र के रूप में कुबड़े पुरुष की भाँति हाव-भाव प्रदर्शित करता है। राजा जब उसके हाव-भाव और विश्राम की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देते, तब वह कहता है—‘अरण्ये मयारुदितमासीत्।’³⁰ शाकुंतल का विदूषक परिश्रम वाले कार्य में सहयोग न देकर अकर्मण्यता का परिचय देता है। वह दुष्यंत के प्रेम-व्यापार में उतना सहयोग नहीं देता, जितना मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय के विदूषक देते हैं। वह राजा के विषय में कहता है— ‘मृगानुसारेण आश्रमपदं प्रविष्टस्य तापसकन्यका शकुंतला ममाधन्यतया दर्शिता।’³¹ जब राजा उसको विश्राम के बाद एक सरल कार्य में सहायक बनने को कहते हैं, तब पेटू विदूषक कहता है— ‘किं मोदक खादिकायाम्।’³² क्या लड्डू खाने में सहायता करनी है? दुष्यंत जब शकुंतला के सौंदर्य के बारे में बताते हैं, तब वह कहता है—‘कस्यापि पिण्डखजूरैरुद्वेजितस्य तित्तिण्यामभिलाषो भवेत्।’³³ विदूषक व्यंग्य करते हुए कहता है कि आपकी वही दशा है, जैसे कोई व्यक्ति पिंड खजूर खाने से उब जाता है और इमली खाने को इच्छुक हो जाता है। विदूषक जो दृष्टांत देता है, उसमें भी प्रायः खाद्य-पदार्थों का ही प्रयोग अधिक करता है।

शाकुंतल का विदूषक नायिका से मिलने का एक उपाय बताता है, परंतु राजा उसे मूर्ख संबोधित करते हुए अस्वीकार कर देते हैं।³⁴ शाकुंतल के षष्ठ अंक में जब मातलि आकर अदृष्ट रूप से प्रासाद में विदूषक को दबोच लेता है, तब विदूषक कहता है कि मैं जीवन के प्रति उसी प्रकार आशा छोड़ चुका हूँ, जिस प्रकार बिल्ली द्वारा पकड़ा गया चूहा— ‘विडालगृहीतो मूषक इव निराशोऽस्मि जीविते संवत्तः।’³⁵ शाकुंतला के वियोग में जब दुष्यंत कहते हैं कि कामदेव आम्रमंजरी रूपी बाण चढ़ाकर मुझ पर प्रहार करना चाहता है, तब

विदूषक कहता है— 'तिष्ठ तावत्। अनेन काष्ठदण्डेन कन्दर्पबाणं नाशयिष्यामि।' ³⁶ इस प्रकार विदूषक नायक या अन्य पात्रों और दर्शकों का मनोविनोद करता रहता है और कथासूत्र की प्रगति में सहायक भी बनता है।

कालिदास के तीनों नाटकों के विदूषकों के क्रिया-कलापों का विवेचन करने पर कुछ समानताओं के साथ 'मालविकाग्निमित्रम्' का विदूषक गौतम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हुए दृष्टिगोचर होता है। गौतम नामक विदूषक छल-कपट करके पूरी कथा को प्रभावित करता है। वह रहस्य को छिपाने में समर्थ है और चतुर ब्राह्मण की तरह व्यवहार करता है। नायक पूर्ण रूप से उसी पर आश्रित रहता है। इसीलिए रानियाँ उसे बार-बार अपमानित करने का प्रयास करती हैं। 'विक्रमोर्वशीयम्' का विदूषक रहस्य को छिपाने में चतुर नहीं है। उसके साथ रानियों द्वारा सामान्य व्यवहार किया जाता है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का विदूषक रहस्य की बात समझ ही नहीं पाता। नायिका को देखने की उसके अंदर उत्सुकता ही नहीं रहती। कभी-कभी आदर्श की बात करता है। वह मंदबुद्धि वाला ब्राह्मण है।

संस्कृत नाटक एक ऐसी मिश्रित रचना है, जिसमें आनंद का मिश्रण दुख के साथ रहता है, जिसमें जब नायक और नायिका दुख में डूबे रहते हैं, उस समय विदूषक महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इन नाटकों का अंत दुखमय नहीं है। इन नाटकों में भय, दुख और करुणा की भावना से जब दर्शक आविष्ट होता है, तब कथानक के सुखमय अंत से उसका मन शांत हो जाता है।

संदर्भ

1. ऋग्वेद 10.95
2. डॉ० रमाशंकर तिवारी, महाकवि कालिदास, पृ० 341
3. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० 504
4. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 3.42
5. वही, 3.40
6. मालविकाग्निमित्रम् 1.8 के बाद का गद्यांश।
7. आचार्य भरत, नाट्यशास्त्र 1.116.1
8. मालविकाग्निमित्रम्, 1.15 के बाद गद्यांश।
9. वही, 2.17 के बाद गद्यांश।
10. धनंजय दशरूपकम्, 2.9
11. मालविकाग्निमित्रम्, 4.17 के बाद गद्यांश।
12. वही, 2.6 के बाद का गद्यांश
13. वही, 2.9 के बाद का गद्यांश
14. वही, 2.9 के बाद का गद्यांश
15. वही, 1.21 के बाद का गद्यांश
16. वही, 2.1 के बाद का गद्यांश
17. विक्रमोर्वशीयम्, द्वितीय अंक का प्रारंभ।
18. वही, द्वितीय अंक का प्रारंभ।

19. वही, 2.2 के बाद गद्यांश।
20. वही, 2.9 के बाद गद्यांश।
21. वही, 2.11 के बाद गद्यांश।
22. वही, 2.13 के बाद गद्यांश।
23. वही, 2.19 के बाद गद्यांश।
24. वही, 2.20 के बाद गद्यांश।
25. वही, 2.20 के बाद गद्यांश।
26. वही, 2.20 के बाद गद्यांश।
27. वही, 5.11 के बाद गद्यांश।
28. वही, 5.11 के बाद गद्यांश।
29. अभिज्ञान शाकुंतलम्, द्वितीय अंक का प्रारंभ।
30. वही, 2.3 के बाद गद्यांश।
31. वही, द्वितीय अंक का प्रारंभ।
32. वही, 2.3 के बाद का गद्यांश।
33. वही, 2.8 के बाद का गद्यांश।
34. वही, 2.12 के बाद का गद्यांश।
35. वही, 6.27 के बाद का गद्यांश।
36. वही, 6.8 के बाद का गद्यांश।

गांधी जी की बुनियादी शिक्षा के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत

रामानंद शर्मा, शोधार्थी
श्रीमती प्रवेशलता, शोध निदेशिका
प्रवक्ता, ग्रीन मिडोज कॉलेज ऑफ एजुकेशन
चरखी (चरखी दादरी) भिवानी (हरियाणा)

शिक्षा किसी भी राष्ट्र की उन्नति के लिए एक आवश्यक तत्त्व ही नहीं, बल्कि व्यक्ति के संपूर्ण विकास के लिए भी एक आधारभूत स्तंभ का कार्य करती है। इसके लिए समय-समय पर बहुत से शिक्षा शास्त्रियों तथा बुद्धिजीवियों ने अपना मत प्रस्तुत किया है। इनको अलग-अलग समय तथा स्थानों पर अलग-अलग मत से परिभाषित किया है जैसे—

पैडागोगी : इसका अर्थ है— शिष्य का पथ-प्रदर्शन करने वाला।

शिक्षा : यह संस्कृत की शास् धातु से निकला है। इसका अर्थ है— नियंत्रित करना अथवा निर्देश देना।

विद्या : 'विद्या' शब्द Vid धातु से निकला है। जिसका अर्थ है—जानना।

प्रबोध : महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों में प्रबोध शब्द का उपयोग शिक्षा के स्थान पर किया है, यह वह ज्ञान है जो बुद्धि के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

शीर्षक : 'गांधी जी की बुनियादी शिक्षा के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत'

उद्देश्य :

1. शिक्षा की वास्तविक परिभाषा से परिचित कराना।
2. जीवन केंद्रित शिक्षा-पद्धति पर जोर डालना।
3. गांधी जी द्वारा परिभाषित बेसिक शिक्षा से परिचित कराना।
4. अध्यापकों को भावात्मक रूप से छात्रों के साथ जोड़ने का प्रयास करना।

महात्मा गांधी के अनुसार, 'शिक्षा से मेरा अभिप्राय बालक और मनुष्य के शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा में पाए जाने वाले सर्वोत्तम गुणों का सर्वतोन्मुखी विकास है। साक्षरता शिक्षा का अंत नहीं है। यह इसका आरंभ भी नहीं है। यह तो केवल एक साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य एवं नारी को शिक्षा दी जाती है। साक्षरता अपने-आपमें शिक्षा नहीं है।' इस परिभाषा को इस प्रकार विस्तृत ढंग से स्पष्ट किया जा सकता है।

1. **सर्वतोन्मुखी का अर्थ** : सर्वतोन्मुखी विकास का अर्थ है— शारीरिक, बौद्धिक,

सौंदर्यात्मक, सामाजिक, नैतिक, एवं आध्यात्मिक विकास। उनके अनुसार— ‘सच्ची शिक्षा वह है, जो बच्चों की आध्यात्मिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमताओं को बाहर निकालती है।’

शिक्षा द्वारा बच्चे की सभी योग्यताओं का विकास होना चाहिए, ताकि वह संपूर्ण मानव बन सके। संपूर्ण मानव का अर्थ है बच्चे के शरीर, मन, हृदय एवं आत्मा का पूर्ण विकास। गांधी जी ने इस विचार का प्रतिपादन किया है कि शिक्षा को बच्चे के व्यक्तित्व का संपूर्ण एवं सामंजस्यपूर्ण विकास करना चाहिए, ताकि वह जीवन के लक्ष्य को पहचान सके और जीवन का अंतिम लक्ष्य है, ईश्वर या सत्य।

उनके अनुसार, ‘मनुष्य न तो केवल बुद्धि है और न ही पशुवत् शरीर है। वह न ही केवल हृदय है और न ही आत्मा। इन सबके उचित समायोजित मिश्रण से ही संपूर्ण मानव का विकास होता है और यह सच्ची शिक्षा है।’

2. बाहर निकालने का अर्थ : शिक्षा बाहर निकालने की प्रक्रिया है, अंदर डालने की नहीं। बच्चे को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ रचना इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उसमें कई योग्यताएँ एवं क्षमताएँ विद्यमान होती हैं। बच्चा स्वभाव से ही जिज्ञासु होता है।

उनके कथनानुसार, ‘हम आज तक बच्चे को प्रेरित या विकसित किए बिना उसके मन में हर प्रकार की सूचनाएँ ढूँढते हैं।’

3. बच्चे और मनुष्य में सर्वोत्तम : इनके विचारानुसार सर्वोत्तम शब्द में तीन तत्त्व निहित हैं— शरीर, मन, आत्मा।

बच्चे और मनुष्य में सर्वोत्तम के अंतर्गत उसकी विभिन्न योग्यताओं— शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक का संपूर्ण विकास सम्मिलित है। शिक्षा को केवल शरीर के लिए ही नहीं बल्कि मन और आत्मा के लिए भी भोजन प्रदान करना चाहिए। शिक्षा में मनुष्य के किसी भी क्षेत्र की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

4. सर्वोत्तम को कैसे बाहर निकाला जाए : गांधी जी के विचारानुसार विद्यार्थियों के हृदयों के स्पर्श से उनके सर्वोत्तम को बाहर निकाला जा सकता है। उनके भावों एवं संवेदनाओं को उचित रूप से जाग्रत किया जाए।

उनके कथनानुसार, ‘यदि मुझे उसका वास्तविक अध्यापक एवं अभिभावक बनना है तो उसे उनके हृदय को स्पर्श करना चाहिए। मुझे उसके सुख-दुख बाँटने चाहिए। उनकी समस्याओं के समाधान में सहायता प्रदान करनी चाहिए और मुझे युवाओं की उच्च आकांक्षाओं को उचित दिशा की ओर अग्रसर करना चाहिए। वे छात्रों को शारीरिक दंड देने के पक्ष में नहीं थे।’

महात्मा गांधी का विश्वास था कि बच्चे और मनुष्य में विद्यमान सर्वोत्तम को बाहर निकालने की प्रक्रिया किसी उपयोगी हस्तकला पर आधारित होनी चाहिए। उनके विचार में उचित हस्तकला द्वारा ही शिक्षा का उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार गांधी जी ने बुनियादी शिक्षा के मूलभूत (बुनियादी) सिद्धांत निम्नलिखित बताए हैं—

1. निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा।

2. मातृभाषा का अध्ययन।
3. शिल्प शिक्षा का केंद्र।
4. आत्मनिर्भरता का तत्त्व।
5. नागरिकता का आदर्श
6. अहिंसा का सिद्धांत।
7. जीवन के साथ संबंध।

इस प्रकार उन्होंने बताया कि 7 से 14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए सार्वभौमिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए।

मातृभाषा में बच्चे को शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि बच्चा घर में उसी वस्तु को अलग नाम से पुकारता है तथा विद्यालय में उसे अलग नाम से जाना जाता है, तो उसके मन में अंतर्द्वंद्व हो जाता है। जहाँ तक बच्चों की शिक्षा को सैद्धांतिक की बजाय प्रायोगिक अर्थात् हस्तकला की शिक्षा दी जानी चाहिए, ताकि वास्तविक जीवन में काम आ सके।

बुनियादी शिक्षा के मनोविज्ञान सिद्धांत :

1. **खेल और रचनात्मक कार्य :** चुने हुए बुनियादी शिल्प में खेल तथा रचनात्मक कार्य का मिश्रण होना। इससे बच्चे के भीतर छिपी हुई विभिन्न प्रतिभाओं को अभिव्यक्ति मिलेगी। इससे बच्चे के हाथ एवं हृदय से संबंधित गुणों का विकास होगा। इससे उसमें विद्यमान जिज्ञासा, पूर्ण निरीक्षण, कल्पना तथा रचनात्मकता का विकास होगा।

2. **बाल केंद्रित शिक्षा :** एक व्यावहारिक मनोवैज्ञानिक की भांति गांधी जी ने भी बाल केंद्रित शिक्षा का समर्थन किया। उनके अनुसार अध्यापक को छात्रों के सुख-दुख के बारे में जानना चाहिए तथा जहाँ भी उनकी समस्याएँ हों उनका अपने स्तर पर समाधान करना चाहिए।

3. **करने के द्वारा सीखना :** वे मानते थे कि बच्चा ग़लती कर-कर के सीखता है अर्थात् उसे किसी भी प्रकार की समस्या आती है, तो फिर उसका समाधान वह स्वयं ही खोजे, तभी वह अच्छी तरह सीख सकता है।

करत-करत अभ्यास ते,
जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात ते,
सिल पर परत निसान।

4. **क्रिया एवं रुचि :** वे हस्त शिल्प जैसी सार्थक एवं उत्पादक क्रिया के समर्थक थे। ऐसा शिल्प बौद्धिक प्रशिक्षण प्रदान करने के अतिरिक्त माँसपेशियों में बेहतर संबंध स्थापित करता है और शरीर का विकास करता है। उनके अनुसार, 'हाथ से लिखने तथा चित्रांकन से पहले औजारों का प्रयोग वस्तुओं एवं वाक्यों का अर्थ पकड़ने लगेंगे।'

5. **मूल प्रवृत्तियों की उपयोगिता :** छात्र मूल प्रवृत्तियों के प्रति जिज्ञासु होते हैं वे छोटी-छोटी बातों का संग्रह करते हैं। जैसे, रोटी गोल बनती है, गोल पहिए सभी गाड़ियों में होते हैं। जब बच्चा इसके बारे में जानने लगता है तो उसकी जिज्ञासु प्रवृत्ति को संतुष्टि मिलती

है।

6. **सह संबंध** : उनके अनुसार शिल्प, पर्यावरण तथा अन्य विषयों का आपस में गहरा संबंध है। सभी विषय शिल्प के साथ समायोजित करने चाहिए।

7. **जीवन केंद्रित शिक्षा** : वास्तविक जीवन की क्रियाओं एवं काम-धंधों पर बल दिया है। शिक्षा का जीवन, क्रियाओं तथा बच्चों की समस्याओं के साथ गहरा संबंध होना चाहिए। इसके द्वारा बच्चे की समस्या को समझने तथा समस्या के समाधान में सहायता मिलती है।

8. **प्रेम और सहानुभूति** : उनका मानना था कि अध्यापक प्रेम और सहानुभूति से छात्रों का सही विकास कर सकता है।

इस प्रकार से कहा जा सकता है कि गांधी जी की शिक्षा एक वास्तविक तथा बच्चे का सम्पूर्ण संतुलित विकास करने वाली थी।

डॉ० ज्ञाकिर हुसैन कमेटी के कथनानुसार, 'गांधी जी की शिक्षा योजना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ठीक है, क्योंकि यह बच्चे को शैक्षिक एवं सैद्धांतिक शिक्षण के अत्याचार से मुक्त करती है, जिसके विरुद्ध बच्चे की क्रियाशील प्रवृत्ति हमेशा स्वस्थ विरोध करती रहती है। यह अनुभव के बौद्धिक एवं क्रियात्मक तत्त्वों में संतुलन स्थापित करती है और इसे शरीर एवं मन के साथ-साथ शिक्षित करने का साधन बनाया जा सकता है।' बच्चे को छिछली साक्षरता नहीं चाहिए, जिनका अर्थ केवल छपे हुए पृष्ठों को पढ़ना है। उसे ऐसी योग्यता चाहिए, जो उसे हाथ और बुद्धि के प्रयोग से कुछ निर्माणात्मक कार्य करने के लिए सक्षम बनाती है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गांधी जी द्वारा बताए गए शिक्षा के बुनियादी सिद्धांतों द्वारा बच्चे में वास्तव में छिपी हुई प्रतिभाओं तथा भावनाओं को बाहर निकाला जाता है। यह शिक्षा बच्चे की रुचि को ध्यान में रखकर दी जाती है। इससे बच्चे शिक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक रुचि लेते हैं।

निष्कर्ष :

गांधी जी के विचारों का विश्लेषण करने पर निम्न निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

1. शिक्षा का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक व आत्मिक शक्तियों का सर्वांगीण विकास है।

2. उनकी शिक्षा पद्धति प्रयोग पर आधारित है।

3. बालक की रचनात्मक प्रवृत्ति को महत्त्व दिया जाता है।

4. अनुशासन हेतु प्रेम, सहानुभूति व शिक्षक के चरित्र को प्रभावपूर्ण माना गया है।

अतः कहा जा सकता है, गांधी जी के अनुसार शिक्षा का तात्पर्य एक संतुलित व्यक्तित्व को एक आर्थिक इकाई के रूप में तैयार करना है।

सुझाव :

महात्मा गांधी के व्यक्तित्व व कृतित्व की विशालता है कि उनके विचारों के संदर्भ में देश में ही नहीं, बल्कि विदेशों में भी संकलन-कार्य और शोधकार्य होते रहे हैं। फिर भी शोधकार्य के स्तर पर निम्न शीर्षकों के अंतर्गत विस्तृत अध्ययन किया जा सकता है—

1. महात्मा गांधी जी के विचारों की अन्य शिक्षा शास्त्रियों से तुलना।
2. मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों को जीवन में लागू करना।
3. नवाचार की सम्भावनाओं को लागू करना।
4. सामाजिक परिवर्तन द्वारा गांधी जी द्वारा स्पष्ट की गई बातों को विस्तृत ढंग से शामिल करना।

संदर्भ

1. आधुनिक भारतीय समाज में शिक्षा, डॉ० यादव एंड यादव
2. उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा, डॉ० रेणु गुप्ता
3. उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षा, डॉ० जे०एस० वालिया
4. गांधी दर्शन, नरूला सिंह

शर्तबंद भारतीय उत्प्रवास में सन् 1914 का निर्णायक वर्ष

डॉ० शुचि गुप्ता, शोधछात्रा
डॉ० जी०एस० अरोरा, शोध निदेशक
पूर्व रीडर, इतिहास विभाग
वर्धमान कालेज, बिजनौर (उ०प्र०)

‘ब्रिटिश साम्राज्य का सूरज कभी अस्त नहीं होता।’ यह प्रसिद्ध लोकोक्ति सन् 1807 में तब मिथ्या सिद्ध होने लगी, जब ब्रिटिश साम्राज्य में दास-व्यापार कानूनन समाप्त कर दिया गया, क्योंकि सभी ब्रिटिश उपनिवेशों की उन्नति का कारण वे नीग्रो गुलाम थे, जो उपनिवेशों पर मजदूर बनकर कार्य करते थे।¹ सन् 1833 के दासता-उन्मूलन के पश्चात् स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके नीग्रो मजदूरों ने औपनिवेशिक बागानों पर कार्य करने से इंकार कर दिया, क्योंकि इन जागीरों पर कार्य करना ये नीग्रो अर्द्धदासता का प्रतीक समझते थे। इन परिस्थितियों में बागान मालिकों ने मुक्त अफ्रीकी, क्रओल, माल्टीज व पोलिनीशियन मजदूरों की सेवाएँ लीं, लेकिन गन्ने की खेती में निपुण नहीं होने के कारण, यह प्रयोग असफल हो गया और जागीरों पर कृषिकार्य ठप्प पड़ गया। बागानों की बिगड़ती आर्थिक स्थिति को सँभालने के लिए बागान मालिकों ने औपनिवेशिक मंत्रालय के माध्यम से भारत में ब्रिटिश सरकार के समक्ष यहाँ के कुशल काश्तकारों को बुलाने का प्रस्ताव रखा। भारत सरकार ने विचार-विमर्श के पश्चात् खेतिहर मजदूरों के उत्प्रवास की अनुमति प्रदान की। सर्वप्रथम मारीशस ने सन् 1834 में भारतीय खेतिहर मजदूरों को अनुबंधीय प्रणाली के अंतर्गत बुलाना आरंभ किया, जिसके लिए दलाल जेम्स आवटनाट को भारत भेजा गया।²

सन् 1834 में भारतीय श्रमिकों का पहला जत्था मारीशस पहुँचा³, जिसमें वयस्क श्रमिकों के साथ पाँच रुपया महीना मजदूरी पर पाँच वर्षों के लिए अनुबंध होता था। तत्पश्चात् सन् 1837 के एक्ट v के द्वारा कलकत्ता बंदरगाह से मारीशस के अतिरिक्त ब्रिटिश गियाना व आस्ट्रेलिया के लिए भी अनबंधीय प्रणाली स्वीकृत की गई।⁴

‘विटबी’ नामक जहाज से पहला जत्था 249 यात्रियों के साथ 13 जनवरी सन् 1838 को भारत से रवाना हुआ और 112 दिनों की समुद्री-यात्रा के पश्चात् ब्रिटिश गियाना पहुँचा।⁵ भारतीयों के उत्प्रवास की अनुबंधीय प्रणाली औपनिवेशिक स्वार्थ-हेतु आरंभ की गई थी, इसी कारण यह प्रणाली आरंभ से ही दोषपूर्ण थी। झूठे प्रलोभन देकर भारतीयों को भरती कराया जाता था। उनको यह तक नहीं बताया जाता था कि उनके गंतव्य-स्थान कहाँ हैं और उनको कितनी दूर जाना है। उदाहरण : अनुबंध (एग्रीमेंट) अनुबंध में कहा जाता था कि हिंदुस्तान से मारीशस की यात्रा मात्र 10 दिन की है, जबकि इस यात्रा में 60 दिन लगते थे। इसी प्रकार ब्रिटिश गियाना तथा ट्रिनीडाड के संबंध में भ्रमात्मक जानकारी दी जाती थी कि यह कलकत्ता के निकट टापू

है, जबकि यह यात्रा 100 दिन से भी अधिक समय में पूर्ण हो पाती थी ⁶ इस धोखाधड़ी की जानकारी जब जहाजों पर सवार उत्प्रवासियों को मिलती थी, तो वे अपना मानसिक संतुलन खो बैठते। 'विटबी' जहाज 249 उत्प्रवासियों को लेकर चला था, लेकिन गंतव्य-स्थान पर पहुँचने पर मात्र 165 यात्री ही बचे थे। ⁷ इन घोर अनियमितताओं की जानकारी होने पर लॉर्ड ऑकलैंड की भारत सरकार ने सन् 1838 में वेस्टइंडीज व मारीशस के लिए शर्तबन्दी उत्प्रवास पर रोक लगा दी। ⁸ इसी समय कलकत्ता कमेटी का गठन किया गया, जिसने संपूर्ण प्रतिबंध की संस्तुति की, लेकिन चार वर्षों पश्चात् औपनिवेशिक मंत्री लॉर्ड स्टेनली ने भारत सरकार को (एमीग्रेशन) उत्प्रवास पुनः आरंभ करने के लिए आश्वस्त कर लिया। फलस्वरूप सन् 1842 में मारीशस व सन् 1844 में वेस्टइंडीज के लिए भारतीय एमीग्रेशन पुनः आरंभ करने की अनुमति भारत सरकार द्वारा प्रदान की गई। ⁹ वेस्टइंडीज स्थित ट्रिनीडाड व जमैका भी अब इस सिस्टम में सम्मिलित कर लिए गए। ट्रिनीडाड के लिए पहला जहाज सन् 1845 में 219 उत्प्रवासियों को लेकर ट्रिनीडाड पहुँचा।¹⁰ दक्षिण अफ्रीका स्थित नेटाल प्रांत के गन्ना बागानों पर 1860 में भारतीय श्रमिकों का पहुँचना प्रारंभ हुआ। ये शक्कर बागान अधिकतर तटवर्तीय थे। ¹¹

इंग्लैंड में अनुदार दल के प्रधानमंत्री बेंजामिन डिज़रैली ने सन् 1874 में फिजी द्वीप-समूह का अधिग्रहण कर लिया था। इस समय फिजी गंभीर आर्थिक संकट से गुजर रहा था, पहले काष्ठ उद्योग, फिर कपास की खेती का उन्नत समय रुक गया था, जिसके कारण फिजी की अर्थव्यवस्था गतिहीन हो गई थी। सोलोमन व न्यू-हेब्रिडीज जैसे पड़ोसी मैलीनीशियन द्वीपों से मजदूर-व्यापार पर ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिबंध लगाने से उत्पन्न सस्ते मजदूरों की कमी के कारण यह व्यवस्था और अधिक खराब हो गई। इन परिस्थितियों में फिजी के प्रथम गवर्नर सर आर्थर हेमिल्टन गॉर्डन (1875-80) के अनुरोध पर फिजी में भारतीय मजदूरों को भेजने की बात स्वीकार कर ली गई। फिजी में भारतीय उत्प्रवास वस्तुतः आर्थर गॉर्डन के दिमाग की सोच थी, क्योंकि उन्होंने मारीशस में भारतीय प्रवासियों का सफल कार्य देखा था। ¹² लंदन की सरकार भी यह विश्वास करने लगी थी कि भारतीय मजदूरों को लाकर ही फिजी का विकास संभव हो सकता है। इसलिए फिजी की सरकार में कार्यकारिणी के एक सदस्य, चार्ल्स मिचेल को भारत सरकार के साथ मंत्रणा करने के लिए कलकत्ता भेजा गया। एक वर्ष के लंबे वार्तालाप व पत्राचार के पश्चात् फिजी सरकार का अनुरोध स्वीकृत हो गया। ¹³ भारत सरकार ने भारतीय एमीग्रेशन की धारा 24 के अंतर्गत फिजी के लिए भारतीय एमीग्रेशन को वैधानिक स्वीकृति प्रदान की। ¹⁴ फलस्वरूप मई सन् 1878 में फिजी की व्यवस्थापिका सभा ने लेबर आर्डिनेंस पारित कर दिया और 30 अगस्त सन् 1878 की अधिसूचना क्रमांक 141 द्वारा फिजी के गवर्नर ने फिजी के लिए भारतीय निवासियों के एमीग्रेशन को वैधानिक मान्यता प्रदान की। ¹⁵ वैधानिक स्वीकृति प्राप्त हो जाने के पश्चात् शर्तबन्दी-प्रथा के अंतर्गत 'लियोनिडास' नामक जहाज 498 भारतीय श्रमिकों को लेकर 4 मार्च सन् 1879 को कलकत्ता से रवाना हुआ और 72 दिनों की यात्रा के पश्चात् 15 मई 1879 को लेवूका पहुँचा। ¹⁶ इस यात्रा पर 273 पुरुष व 146 महिलाएँ थीं। कलकत्ता बंदरगाह से चलने के कुछ दिन पश्चात् ही जहाज पर हैजा व चेचक फैल गया और 17 लोगों की मृत्यु हो गई।

100 वर्ष के इतिहास में लगभग 1194957 भारतीय 19 कालोनियों में प्रवासी बनकर

पहुँचे। इस प्रणाली में उन गरीब लोगों को लक्ष्य बनाया जाता था, जो भूमिहीन, बेरोज़गार व भूख से पीड़ित थे, साथ ही अँग्रेज़ी राज की औद्योगीकरण की नीतियों से त्रस्त थे। सन् 1879 से सन् 1916 तक जब अनुबंधीय प्रणाली समाप्त हुई, लगभग 87 जहाज़ों पर लादकर 59, 565 प्रवासी मज़दूर फिजी पहुँचाए गए।¹⁷ सन् 1895 तक प्रवासियों के बारे में सरकारों व प्रबुद्ध भारतीयों को विशेष जानकारी नहीं थी और न ही रुचि। सर्वप्रथम गांधी जी के दक्षिण अफ्रीका प्रवास में इसकी जानकारी होनी आरंभ हुई। जब गांधी जी ने सिस्टम की बुराइयों को खोलकर सार्वजनिक करना आरंभ किया।¹⁸ सन् 1893 में गांधी जी पोरबंदर-स्थित 'मेमन फ़र्म' के मुक़दमों की पैरवी करने दक्षिण अफ्रीका गए।¹⁹ गांधी जी के नेटाल पहुँचने तक लगभग डेढ़ लाख उत्प्रवासी नेटाल में बस चुके थे, जोकि गोरों के लिए असहनीय था, गोरों के मध्य यह भावना बलवती होने लगी कि भारतीय मज़दूरों को वापस भेजा जाना चाहिए। सन् 1885 में ट्रांसवाल के अधिनियम के अंतर्गत भारतीय (कुली), अरबी, मुस्लिम जैसी एशियाई प्रजातियों को नागरिकता के अधिकार से वंचित कर दिया गया। साथ ही सन् 1888 में 'आरेंज फ्री स्टेट' का अधिनियम इसी उद्देश्य का संकेत था।²⁰ मेरित्सबर्ग व चार्ल्सटाउन में स्वयं गांधी जी के साथ हुए अपमान ने गांधी द्वारा विरोध प्रकट करने के लिए पृष्ठभूमि तैयार कर दी। जून सन् 1894 में नेटाल सरकार ने मताधिकार-क़ानून-संशोधन अधिनियम द्वारा भारतीयों को मताधिकार से पूर्णतः वंचित कर दिया। इस प्रकार की कड़ी जुड़ते हुए गांधी जी सन् 1914 तक वहीं रुके रहे। शर्तबंद व स्वतंत्र उत्प्रवासियों की रक्षा के लिए गांधी जी ने सत्याग्रह के साधन का सफलतम प्रयोग किया। लेकिन 18 अगस्त सन् 1894 को यह अधिनियम क़ानून बन गया। सन् 1897 में 'इंडियन एमीग्रेशन एक्ट' पारित किया गया, जिसके अनुसार प्रत्येक प्रवासी भारतीय को यूरोपीय भाषा में परीक्षा उत्तीर्ण करना अनिवार्य बना दिया गया।²¹ भारतीयों को और अधिक प्रताड़ित करने के लिए सन् 1903 का दूसरा 'इंडियन एमीग्रेशन एक्ट' निर्मित किया गया, जिसमें यूरोपीय भाषा से अनभिज्ञ लोगों के लिए नेटाल के द्वार बंद कर दिए गए।²² 31 जुलाई सन् 1907 को एक अन्य क़ानून द्वारा भारतीयों को पुनः पंजीकरण कराने का निर्देश दिया गया, पहचान चिह्नों के साथ अँगुली की छाप भी अनिवार्य कर दी गई। इस क़ानून ने पूरे क्षेत्र को गुस्से से भर दिया। पंजीकरण सर्टीफ़िकेट व विदेशी कपड़ों को जला दिया गया।²³ 25 फरवरी 1910 को नेटाल के लिए एमीग्रेशन पर संपूर्ण प्रतिबंध हेतु गोखले का प्रस्ताव स्वीकार हो गया और 22 जुलाई सन् 1910 को गिरमिटिया प्रथा के उन्मूलन हेतु प्रथम प्रयास के अंतर्गत नेटाल-संबंधी अधिनियम पारित कर दिया गया।²⁴ 31 मई सन् 1910 को अफ्रीकी यूनियन का विधिवत गठन होने के बाद दक्षिणी अफ्रीका में गिरमिट पूरा कर चुके भारतीय उत्प्रवासियों के प्रति दुर्व्यवहार की घटनाएँ बढ़ने लगीं। सन् 1910 की सैंडरसन समिति की रिपोर्ट में मात्र सुधारों की संस्तुति की गई। उन्मूलन-हेतु कोई भी सिफ़ारिश नहीं की गई। नवंबर सन् 1910 में लार्ड हार्डिंग भारत के नए गवर्नर जनरल बने, उन्होंने 25 मई सन् 1911 को भारत सचिव लॉर्ड मार्ले की रिपोर्ट पर संतोष प्रकट किया, साथ ही भारत में विकसित जन-चेतना से भी अवगत कराया। 4 मार्च सन् 1912 को गोखले ने एमीग्रेशन पर संपूर्ण प्रतिबंध लगाने के उद्देश्य से एक प्रस्ताव व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करते हुए महत्त्वपूर्ण वक्तव्य दिया—'श्रोत पर ही धारा विषाक्त है।'²⁵

शर्तबंद-प्रथा के उन्मूलन-अभियान में सन् 1914 का महत्त्वपूर्ण वर्ष :

21 जनवरी 1914 को निर्मित गांधी-स्मट्स समझौता शर्तबंद-प्रथा के उन्मूलन अभियान में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी थी। इसके महत्त्व का आकलन इसी तथ्य में था कि पहली बार किसी हिंदुस्तानी के साथ एक अंग्रेज़ सरकार ने समझौता किया और उसकी सिफारिशों को कानूनी रूप भी दिया। दक्षिण अफ्रीका में कार्य संपन्न करने के पश्चात् गांधी जी का वापस भारत लौटना स्वयं में एक महत्त्वपूर्ण संकेत था कि सिस्टम के संपूर्ण उन्मूलन-हेतु आंदोलन को अब गति प्राप्त होगी। साथ ही भारतीय समाज का प्रबुद्ध वर्ग भी अब इस उन्मूलन के समर्थन-हेतु समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं व विभिन्न संगठनों के माध्यम से स्वर मुखर करने लगा। अंग्रेज़ी सरकार को पहली बार अहसास होने लगा कि कुली-प्रथा को अब बहुत समय तक नहीं चलाया जा सकता। दूसरी ओर गांधी के करिश्माई व्यक्तित्व व उनके कार्य करने के तरीकों को ब्रिटिश सरकार दक्षिण अफ्रीका में देख चुकी थी। गांधी जी के आंदोलन के नवीन तरीकों की कोई काट ब्रिटिश सरकार के पास नहीं थी।

सन् 1914 की दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना, तोताराम सनादय का 21 वर्ष फिजी में गिरमिटिया जीवन व्यतीत करके 28 अप्रैल सन् 1914 को 'चेनाव I' नाम जहाज़ से भारत लौटना थी।²⁶ भारत लौटने पर तोताराम जी का परिचय पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी जी से फिरोजाबाद के भारतीय भवन पुस्तकालय में हुआ।²⁷ तोताराम सनादय, जिन्हें बहुत छोटी उम्र में प्रलोभन देकर फिजी भेज दिया गया था, के फिजी प्रवास के अनुभव के आधार पर बनारसीदास चतुर्वेदी ने जून सन् 1914 में 'फिजी में मेरे 21 वर्ष' नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में फिजी में बसे प्रवासी भारतीयों की दारुण-दशा का चित्र अंकित किया गया था। यह पुस्तक भारत में इतनी अधिक लोकप्रिय हुई कि हिंदी व गुजराती में चार संस्करण प्रकाशित होने के पश्चात् अंग्रेज़ी, बँगला, मराठी व उर्दू में इसका अनुवाद हुआ। इसके आधार पर ही श्री लक्ष्मण चौहान ने 'कुली' नाटक तथा मैथिलीशरण गुप्त ने 'किसान' नामक काव्य की रचना की।²⁸ यह पुस्तक शीघ्र ही शर्तबंद-प्रथा के उन्मूलन-अभियान में सूचना का प्रमुख स्रोत बन गई। इसमें उल्लिखित 'कुंती की कथा' व अन्य विवरणों में भारतीयों को आक्रोशित किया। मथुरा नगर के ज़िलाधीश ने सूचित किया कि तोताराम ने एमीग्रेशन डिपार्टमेंट के खिलाफ अनेक व्याख्यान दिए हैं, उनकी बढ़ती लोकप्रियता के कारण उत्तर-पश्चिमी सरकार को उनके संबंध में महत्त्वपूर्ण जानकारी हेतु सी०आई०डी० जाँच करवानी पड़ी।²⁹

सन् 1914 की तीसरी महत्त्वपूर्ण घटना थी-मैकनील चिमनलाल की भारतीय एमीग्रेशन रिपोर्ट। यह रिपोर्ट जून 1914 को तैयार हुई तथा जुलाई माह में भारत सरकार को सौंपी गई। उनको दिशा-निर्देश था कि वे ट्रिनिडाड, जमैका, ब्रिटिश गियाना, सूरीनाम तथा फिजी उपनिवेशों में भारतीय प्रवासियों के जीवन-स्तर का अध्ययन करके उनके कल्याण वृद्धि हेतु सिफारिश रिपोर्ट प्रस्तुत करेंगे।³⁰ किंतु इस रिपोर्ट में भारतीयों की दुर्दशा को कहीं भी चित्रित नहीं किया गया, अपितु सभी की आशाओं के विपरीत आयोग की इस रिपोर्ट ने निष्कर्ष निकाला कि भारतीयों को उत्प्रवास से हानि की अपेक्षा लाभ अधिक हुए हैं। भारत में अपने परिवारजनों की तुलना में उनकी दशा बेहतर थी और सभी उपनिवेशों में उनको उन्नति व समृद्धि बढ़ाने के अवसर प्राप्त थे। अवगुणों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने लिखा कि दंडधारा का अनुबंध में उल्लेख न होने से

बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई, अतः इस दोष की आलोचना न्यायोचित थी। फिजी उपनिवेश पर जागीरों में आत्महत्या की दर अन्य उपनिवेशों व भारतीय नगरों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। ट्रिनीडाड में आत्महत्या-दर 400 प्रति मिलियन, जबकि फिजी में 926 प्रति मिलियन थी। आयोग ने यह भी अंकित किया कि जागीरों पर औरतों का आचरण अत्यंत अश्लील था तथा वे अपने पति या संरक्षक को आसानी से बदल लेती थीं। यह प्रथा समाज को दूषित करती थी। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहीं भी एमीग्रेशन को रोकने या सिस्टम को बंद करने की सिफारिश नहीं की।³¹ लेकिन रिपोर्ट ने सरकारी तंत्र की उपेक्षा जगजाहिर कर दी। तोताराम जी की पुस्तक ने जिस ज्वाला को प्रज्वलित किया था, उसको आयोग की उदासीन रिपोर्ट ने और भी तीव्र कर दिया। गांधी जी का साथ देने के लिए गोपालकृष्ण गोखले, डॉ॰ मणिलाल, पियर्सन, सी॰एफ॰ एंड्रयूज कैलनबैक जैसे प्रबुद्ध लोगों की कड़ी-दर-कड़ी जुड़ती चली गई। प्रथम महायुद्ध का आरंभ होना सन् 1914 के घटनाचक्र में चौथी प्रभावशाली घटना थी। 28 जुलाई 1914 को सर्बिया पर आस्ट्रियन आक्रमण से प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ हुआ। 2 अगस्त सन् 1914 को आस्ट्रिया के समर्थन में जर्मनी ने बेल्जियम में प्रवेश करने की घोषणा कर दी। बेल्जियम की सुरक्षा-हेतु इंग्लैंड ने जर्मनी पर आक्रमण घोषित कर दिया और इस प्रकार प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष संधियों में जुड़े हुए देश 4 अगस्त सन् 1914 को विश्वयुद्ध की विभीषिका का दंश झेलने के लिए तैयार हो गए। युद्ध में इंग्लैंड के संलग्न हो जाने से भारतीय एमीग्रेशन तुरंत प्रभावित हुआ। अस्थायी रूप से (अगस्त से वर्षांत) तक एमीग्रेशन पूर्णतः स्थगित रहा, क्योंकि एमीग्रेंट जहाजों को अब फौज ले जाने के लिए लगा दिया गया।³² इंडिया आफिस के सर एडवर्ड बैरो ने भारत सरकार को सूचित किया (28 अक्टूबर सन् 1912) कि जब तक युद्धरत दुश्मन जहाजों को निपटा नहीं दिया जाता, तब तक जहाजों को भेजना पागलपन होगा।³³ 15 दिसंबर सन् 1914 को लार्ड हार्डिंग ने भारत मंत्री को तार भेजा कि जब तक समुद्री मार्ग सुरक्षित न हो जाएँ, तब तक एमीग्रेंट जहाज नहीं भेजे जाएँगे।³⁴ लॉर्ड हार्डिंग ने अनुभव किया कि युद्ध ने भारत में राजनीतिक विकास को प्रेरित किया है और शांति-स्थापना के पश्चात् भारतीय प्रशासन को कई समस्याओं को समझने के लिए तैयार रहना चाहिए।³⁵

अंततः स्वीकार किया जा सकता है कि सन् 1914 ने दासता-उन्मूलन हेतु मील के पत्थर की भाँति कार्य किया। इस वर्ष ने न केवल भारतीयों अपितु, अँग्रेजों को भी अपनी नीतियों में सुधार लाने के लिए प्रेरित किया। भारतीयों के द्वारा किए गए प्रयासों के फलस्वरूप ही अँग्रेज इस कलुषित शर्तबंद-प्रथा को समाप्त करने के लिए बाध्य हुए थे।

भारतीय प्रवासियों की दुर्दशा के बहुत बड़े अंश में ब्रिटिश इंपीरियल सरकार औपनिवेशिक सरकार तथा भारत सरकार उत्तरदायी थीं। ये उपनिवेश सदैव उनके लिए कच्चे माल भंडार थे और भारतीय मजदूर वह कच्चा माल थे, जिनसे ब्रिटिश अपने उपनिवेशों को खुशहाल बना रहे थे।³⁶ लेकिन सन् 1914 ने अँग्रेजी-साम्राज्य की नींव की महत्वपूर्ण कड़ी को तोड़ दिया, जिसका परिणाम हमारे समक्ष सन् 1917 के दासता-उन्मूलन अधिनियम के रूप में प्रस्तुत हुआ।

संदर्भ

1. http://en.wikipedia.org/wiki/indian_immigration

2. डॉ० के० हजारीसिंह, मारीशस में भारतीयों का इतिहास, पृ० 13
3. P.P. No. 314 (H.C.) 1874, P. 2
4. वही
5. Dwarka Nath : A History of Indian in British Guiana, P 10-11
6. डॉ० के० हजारीसिंह, मारीशस में भारतीयों का इतिहास, पृ० 13
7. वही
8. P.P. No. 314 (H.C.) 1874, P. 5
9. वही
10. Revenue & Agricultural (Emig.) Dept. A progs. Sept. 1893, Nos. 14-15
11. Sir Lindsay Darcy : Indian Overseas, P. 252
12. Dr. Brij V. Lal : Aspects of Rural Indian Society of Fiji : Q.R.H.S.
13. C.L. Tupper : Note on Indian Emigration During the year 1878-79
14. Rev. & Agri. (Emig.) Dept. A Progs. Feb 1882, Nos 15-17
15. C.L. Tupper : Op cit.
16. Home, Rev. & Agri. (Emig.) Dept. A Progs. January 1880, Nos 33-36
17. Comm. & Industry (Emig.) Prog. for June 1918, Nos 1-2 Part B.
18. Comm. & Industry (Emig.) Prog. for July 1916, No 8.
19. महात्मा गांधी, आत्मकथा, पृ० 72-77
20. त्रयंबक रघुनाथ देवगिरिकर, गोपालकृष्ण गोखले, पृ० 159
21. M.L. Bhargava, History of Modern India, P. 508
22. R.C. Majumdar, The History and culture of The India People, Vol x, P. 623
23. H.S.L. Polak Satyagrah and its Origin in South Africa, P. 115
24. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A prog. May 1913, No 9-12
25. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A prog. June 1912, No 1-2
26. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A prog. April 1916, No 30-33 Part B
27. बनारसीदास चतुर्वेदी, फिजी में भारतीय प्रवास की शताब्दी, नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, 20 अक्टूबर 1978
28. डॉ० रामस्वरूप आर्य, दूसरों को समर्पित एक जीवन, नवभारत टाइम्स, 25 नवंबर 1978
29. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A Prog. May 1916, No 10-16
30. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A Prog. July 1915, No 3-26
31. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A Prog. July 1915, No 3-26
32. J.A.R. Marriott, Europe and Beyond 1870-1939
33. Comm. & Industry (Emig.) Dept. A Prog. August 1915, No 3-4 Part B
34. वही
35. Harding Papers, Vol. 116, Roll No 15
36. एण्ड्रयूज एंड पियर्सन, फिजी में प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा

□ ई-2, मॉडल टाउन, कंकरखेड़ा
मेरठ (उ०प्र०)

‘गांधारी का सच’ की अनुगूँज का

परत-दर-परत पक्ष

डॉ० सरोज मार्कडेय

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा उपेक्षित पात्री-पात्रों को आधार बनाकर आख्यानपरक परंपरा में कवि आर्यभूषण गर्ग द्वारा रचित ‘गांधारी का सच’ इक्कीसवीं शती में व्यक्ति और परिवार, समाज और राज्य के सोच और सरोकार की प्रतिबद्धता और प्रासंगिकता की मीमांसा की मनोविश्लेषणापरक विवेचना है।

खंडकाव्य ‘गांधारी का सच’ अपने शीर्षक से ही कई प्रश्न उठाता है। गांधारी का वस्तुपरक सच निर्विवाद रूप से उसे त्यागमयी, महिमामयी, सतीत्व के आदर्श की प्रतिमूर्ति बना कर देवी रूप में प्रतिष्ठित कर देता है। अर्थात् गांधार देश की सर्वगुण-संपन्न राजकुमारी अपने भावी पति धृतराष्ट्र के चक्षुविहीन व्यक्तित्व को हीन न बनाकर स्वयं भी उसी काय दशा और भाव दशा में रहने का संकल्प ले लेती है, जिससे भावी दांपत्य-जीवन की सहभागिता बनी रहे। सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि से सतीधर्म की व्याख्या के रूप में कहा गया है।

वृद्ध, रोग-बस, जड़, धनहीना, अंध, बधिर, क्रोधी अतिदीना,

ऐसेहु पति कर किए अपमाना, नारि पाव जमपुर दुख नाना।

इस दृष्टि से गांधारी ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था व सांस्कृतिक मूल्यों के निर्वहन हेतु जो कुछ किया, उसके इस त्याग की सराहना की गई।

किंतु क्या यही सच है? सच का यह यक्ष प्रश्न सुधी पाठक और श्रोता के समक्ष अनेक किंतु-परंतु के घेरे में घिर जाता है। सच के विभिन्न परिपार्श्व ‘गांधारी का सच’, भीष्म के सच के पक्ष के रूप में नारीपरक एवं पुरुषपरक सच को टटोलते हैं, तो कुल, परिवार, समाज व संस्कृति के मूल्य रूप के सच की समष्टिगत विवेचना भी करते हैं। इससे परे का व क्षेत्र का सच भी तो है। प्रस्तुत समीक्षा सच के इन विभिन्न कोणों को परखने का प्रयास है। कला व संस्कृति का आप्त वचन है— ‘सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्’ इस दृष्टि से तो परंपरागत गांधारी का यह पक्ष वंदनीय है, किंतु जब सत्य का पक्ष ही कटु हो तो उसे कब तक प्रिय अर्थात् प्रेम की चाशनी में रखा जाए! आज सच का यही कटु रूप अपने रक्तबीज रूप में सामने है।

महाभारत के कथासूत्र के रूप में गांधारी का कोई सक्रिय पक्ष प्रतीत नहीं होता है। वह संबंधों की हिमनदी का वह शिलाखंड है, जिसमें कोई कंपन यदा-कदा ही होता है अन्यथा वह कुरुकुल के सर्वशक्तिशाली भीष्म पितामह की कुल कल्याण कामना और शकुनि की कूटनीतिक चालों के विपरीत आवर्तों में डूबने-तिरने को विवश है एक राजमहिषी के रूप में कुरुकुल की किसी समस्या में उसकी प्रतिभागिता नहीं। उसकी एकमात्र उपलब्धि

है, सौ पुत्रों की माता होना। क्या यही उसका प्राप्तव्य है? गांधार देश की राजकुमारी, धरा पर शरद जुन्हाई जैसी रूप छटा से शोभित, माता-पिता की लाडली किशोरी, युवा हृदय की मंदिर कल्पनाओं में डूबती-इतराती भावी जीवन के सुखद सपनों में झूल रही है यथा—

खंजन जैसे नयनों वाली रूपवती कन्या सुकुमारी,
रूप अलौकिक ले आकर्षण का भी केंद्र रही गांधारी।

सहसा उसके पिता को कुरुवंश के महाशक्ति शिखरपुरुष भीष्म का प्रस्ताव मिलता है कि गांधार नरेश सुबल अपनी सर्वगुण संपन्न दुहिता हेतु कुरुकुल के ज्येष्ठ राजपुत्र धृतराष्ट्र को वर रूप में स्वीकारें। वंश-अभिजात्य, बाहुबल व राजनीति को अपने विपरीत जानते हुए उसके पिता ने विवश होकर उसे स्वीकार किया। धृतराष्ट्र से विवाह के लिए वह हस्तिनापुर भेज दी जाती है। किंतु जब हस्तिनापुर आकर उसे इस कटु सत्य का ज्ञान होता है कि राजपुत्र धृतराष्ट्र दृष्टिहीन हैं तथा वह उनकी वंशावली बढ़ाने हेतु बलात् यहाँ लाई गई है। तो अपहरण जैसी स्थिति में अर्खंडित अस्मिता के प्रखर मनोबल की स्वामिनी, तेजस्विनी गांधारी का संपूर्ण नारीत्व खंड-खंड होकर श्रीविहीन हो जाता है। कितना बड़ा छल? बस यहीं पर राजनीति की बिसात पर एक मोहरा भर बना उसका नारीत्व हा-हाकार कर उठता है। संभव था यदि विवाह से पहले उसे सब-कुछ बता दिया गया होता, तो कुल के हित को ध्यान में रखते हुए उसका निर्णय भी यही होता, लेकिन तब उसे आत्म-निर्णय का संतोष होता, स्वाभिमान का तेज होता लेकिन यह तो नितान्त छल था—

राजनीति की उस बिसात पर वह तो केवल मोहरा-भर थी
कुशल योजना में संभावित बाधा का केवल हल-भर थी।
उससे यही अपेक्षा की पति, की संपूरक सहयोगी हो
राजमहिषि बन सफल राज के, संचालन में उपयोगी हो।

व्यक्तित्व विखंडन की इस प्रक्रिया में गांधारी का समूचा व्यक्तित्व विश्रृंखलित हो जाता है। उसके सभी मृदुल व स्नेहिल भावों का उच्छलन हिम प्रस्तरवत् कठोर हो जाता है। कठोरता की इस आग में वह स्वयं भी सुलगती है और कुरुवंश की ईर्ष्या-वृद्धि की ज्वाला भी बनती है। आत्मवंचनापरक अपने प्रति अन्याय को जैसे को तैसा करने के न्यायपक्ष से उसका त्वरित निर्णय सबको विस्मित और आश्चर्यचकित कर देता है।

अंधकारमय उसके जीवन को जिन लोगों ने कर डाला
उसके दुगुने अंधकार से अब पड़ना है उनका पाला।

उसका यह परपीड़क रूप कुरुकुल के महाशक्तिपुंज भीष्म की उस अमानवीय स्वार्थपूर्ण कूटनीतिक योजना का प्रतिरोध है, जिसका उन्हें कुरुकुल की सत्ता-गरिमा के सामने रंचमात्र भी संशय न था। होता भी कैसे? नारी के औदात्य और निर्मल प्रेम से वे परिचित ही कहाँ थे। उन्होंने तो ऐश्वर्य, वैभव, सत्ता व गरिमा के समक्ष नत अपनी माता सत्यवती समान नारियों को ही जाना था। इसलिए उनकी राजनीति का मोहरा उल्टा पड़ गया और राजसी तेज से संपन्न गांधारी ने अहिंसक रूप अपनाकर अबला के बल को दिखला दिया उसका निर्णय था—

दृष्टिहीन पति की पत्नी हो दृष्टियुक्त यह अनुचित होगा,
उसका जीवन भी पति जैसा अब नयनों से वंचित होगा।

इस प्रकार विधाता की वंचना से दृष्टिहीन धृतराष्ट्र तथा कुरुकुल के शिखर पुरुष महाप्रतापी देवोपम भीष्म के समस्त अनुमानों को ध्वस्त करते हुए गांधारी ने उपहार व आशीष सम मिले स्वर्ग को स्वेच्छा से त्यागकर अपनी रीती दुनिया को हार की जीत बना लिया। उसकी जीत इस अर्थ में है कि वंश-मोह में डूबे उचित-अनुचित के तर्क से परे इतिहास पुरुष भीष्म का प्रतिरोध कर अपने स्वाभिमान की रक्षाहित मरण-तुल्य जीवन को भी हँसकर बिताकर दिखाया, अनुपम त्यागमयी ललनाओं में अग्रगण्य हो, सती-साध्वी की प्रतिष्ठा पाई और हार? वह तो सब-कुछ पाकर रीती मुट्ठी के समान खाली है, शून्य है। गांधारी का आत्मावलोकन, आत्म-विश्लेषण, प्रतिरोध स्वरूप, छल, प्रतिहिंसा, ईर्ष्या, मोह, षड्यंत्र, मर्यादाभंग जैसे दूषणों की स्वीकृति करता है।

परिणामतः न तो वह चर्मचक्षु विहीन पति के ज्ञानचक्षु बन कर पति के जीवन में दीवाली ला सकी, न अपने सौ पुत्रों को संस्कार सद्गुण देने की ज़िम्मेदारी निभा पाई; न राजमहिषी रूप में कुरुकुल का हित-संधान कर सकी, न ही कुल, परिवार, देह की बड़ी-बड़ी आशाओं को पूर्ण कर सकी। पितृकुल का मान-सम्मान खंडित हुआ। भ्राता शकुनि के व्यक्तित्व को निखारने का भी काम नहीं कर सकी। नारी होकर भी पुत्रवधू द्रौपदी का सम्मान नहीं बचा सकी। राजमहिषी होकर भी कुल नारी की मर्यादा की रक्षा का दायित्व नहीं निभा सकी। हार-जीत का यह पक्ष एक को एक से जोड़कर दो अथवा एक-एक करके ग्यारह की उपलब्धि के स्थान पर एक से एक निकलने पर शून्य की स्थिति बन जाता है। 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते' का सिद्धांत भी यहाँ निष्फल हो जाता है। फलतः वह श्रेष्ठता के उन शिखरों को छूने में असमर्थ रही जिसकी मान्यता थी—

कुल को बड़ा व्यक्ति से जानें, कुल से बड़ा ग्राम का हित है,
और राष्ट्र के हित के सन्मुख सदा ग्रामहित त्याग उचित है।

राजधर्म के हित में निजता की बलि का लोकोत्तर आदर्श स्पृहणीय तो हो सकता है, लेकिन सर्व हिताय की तुला से तो न्यून ही है इस न्यायदृष्टि से सर्वगुण संपन्न गांधारी ही क्यों वंचित की गई और जब की गई तो उसकी खंडित अस्मिता के टुकड़े अणुबम विस्फोट के समान भयावह त्रासद हो, कुल नाश और देश नाश का कारण बने तो क्या आश्चर्य? तो यह रहा गांधारी का सच।

अब ज़रा बात करें कुरुकुल शिरोमणि तात भीष्म की। तत्कालीन सामंती व्यवस्था का साम्राज्यवादी दृष्टि से भीष्म के दूरदर्शी उद्देश्य से कुरुकुल की महिमा का विस्तार उनकी महानता, निस्पृहता तथा राज्य व कुल के हित को सर्वोपरि रखने के लोकोत्तर पक्ष से मंडित हो सकता है, लेकिन छल-प्रपंच का वितान उनकी अक्षम्य भूल का परिमार्जन नहीं कर सकता। राजधर्म के हित में निजता की बलि का श्रेष्ठ आदर्श उन्होंने गांधारी के समक्ष प्रस्तुत कर उसे सहमत करने का प्रयास किया होता, तो उसके आहत हृदय का हा-हाकार हुताशन बनकर भीषण ज्वाला न बनता। आखिर भीष्म से भी तो कहा जा सकता था—

अरे भीष्म! यह क्या कर डाला।

शरद जुन्हाई सम शीतल वही बना दी भीषण ज्वाला।

सच तो यह है कि उन्हें अंतर्मन से ज्ञात था कि वस्तुस्थिति जानकर कोई भी

मनस्विनी नारी उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेगी। इसलिए सत्ता प्रदर्शन द्वारा व्यक्त छलरूपी करील से आम्र-मंजरी की सुगंध की प्रत्याशा क्यों? दोष का परिणाम सर्वदा दोष में ही तो परिणत होगा।

और समाज का सच! देश और समाज का एकमेव सच यही है कि जिस देश व समाज में नारी-जगत का सम्मान न हो वह जय-पराजय के काले सफ़ेद मोहरों में बँटकर आदान-प्रदान की, क्रय-विक्रय की वस्तु बन जाए तो देश व समाज, सभ्यता और संस्कृति का पतन अवश्यभावी है। यही वह सच है, जो गांधारी के माध्यम से व्यक्त हुआ।

अस्तु 'गांधारी का सच' के माध्यम से कवि ने गांधारी के नारी हृदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर, उसके मनोभावों के उतार-चढ़ाव, आत्म-निरीक्षण, आत्म-परीक्षण द्वारा कुंठा, भग्नाशा और वस्तुस्थिति से पलायनवादी दृष्टि का विक्षेपण कर, उसकी भूलों की लंबी सूची प्रस्तुत कर, उसे महाभारत युद्ध के विभिन्न कारकों में एक प्रधान व प्रभावी कारक चिह्नित किया है। यह एक खलनायिका का रूप हो सकता था, लेकिन अपनी प्रतिपक्षिणी कुंती के समक्ष व निस्संकोच भाव से अपने विशृंखलित दुहरे व्यक्तित्व को स्वीकारती है। 'आत्मविमोहित निजता में डूबी गांधारी' तथा त्यागमयी तेजस्वी नारी के संश्लिष्ट रूप को मन के सहस्र आवर्तों से बाहर लाकर अपराधबोध की स्वीकृति कराना सहज नहीं है, किंतु कवि की पैनी दृष्टि सधी संतुलित भाषा तथा सरल किंतु भाव-प्रवण शैली ने इसे संभव बना दिया है। कथावस्तु के विकास एवं चरित्र-चित्रण हेतु विस्तृत विवरण की अपेक्षा पूर्व-दीप्ति (flash back) संलाप और आत्मचिंतन के मनोवैज्ञानिक पक्ष का उद्घाटन कवि की विशिष्टता है, जो सराहनीय और अनुकरणीय है।

अस्तु, अनुभूति और अभिव्यंजना, काव्य और शिल्प की सफल जुगलबंदी के रूप में 'गांधारी का सच' काव्य की श्रेष्ठतम प्रस्तुतियों में से एक है। वर्तमान संदर्भ में शास्त्रीय परंपराजन्य प्रबंध काव्यों में युगानुकूल परिवर्तन संभाव्य है। अतएव रुचिग्राह्य दृष्टि, कथासंयोजन, चरित्र-चित्रण, आधुनिक जीवन की मूल्यपरक अवधारणा-सभी दृष्टिकोण से विषयवस्तु का चयन, घटनाक्रम का प्रवाह, भावनाओं का उद्वेलन और राग-विराग के सामंजस्य की लोकोत्तर भावभूमि का निरूपण प्रभावी और सार्थक बन पड़ा है।

सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से मानक हिंदी के सरल व सुस्पष्ट व्यवहार में गुंथे देशज और बोलचाल की उर्दू के मिले-जुले शब्द भाषा को सहज व प्रभावी बनाते हैं। अभिधा भाषा में यदा-कदा व्यंजनमूलक भाषा ओज और सौंदर्य से युक्त प्रतीत होती है। काव्य के अलंकार यथा- उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, मानवीकरण, उसके सहज सौंदर्य को शोभा प्रदान करते हैं। लोकोक्तिर्थाँ एवं मुहावरे भाषा के जनग्राह्य पक्ष की प्रस्तुति करते हैं।

अस्तु, काव्य निकष के विभिन्न सोपानों पर खरी उतरने वाली कृति 'गांधारी का सच' उसकी व्यथा-कथा से लेकर उसके मानस परिवर्तन की लोकोत्तर भाव-भूमि की सार्थक अभिव्यंजना है। कवि आर्यभूषण गर्ग की इस सारस्वत साधना को शब्दायित करती उनकी लेखनी की सामर्थ्य को बधाई।

गांधारी का सच; आर्यभूषण गर्ग; प्रथम संस्करण 2010; मूल्य 200.00 रुपए; प्रकाशक: हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

□ भूतपूर्व प्राचार्य, एस्०बी०डी० कॉलेज, धामपुर

संस्मरणात्मक साहित्य की अनूठी रचना 'मेरे सौरभ-द्वार'

डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण'

सेवा, समर्पण और कर्मशक्ति की त्रिवेणी को जब ज्ञान की अधिष्ठात्री माँ शारदा का वरदान मिल जाता है, तब साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित श्री रामनिवास जाजू जैसा व्यक्तित्व जन्म लेता है। कलम के धनी श्री रामनिवास जाजू द्वारा रचित और बहुचर्चित कृति 'मरुभूमि का वह मेघ' सन् 1984 में जब प्रकाशित हुई और राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा जब इस कृति को हिंदी में लिखी गई 'सर्वश्रेष्ठ जीवनी' के सम्मान से नवाजा गया, तब श्रीरामनिवास जाजू की लेखनी का लोहा सबने माना था।

सच यह है कि पिलानी, कलकत्ता और दिल्ली में कण-कण में बिखरीं 'बिरला-परिवार' की सारस्वत स्मृतियों को श्री रामनिवास जाजू ने अपनी कलम से ऐसे गढ़ा और जड़ा है कि 'मेरे सौरभ-द्वार' शीर्षक पुस्तक वास्तव में बेजोड़ बन गई है। ज्ञान-कर्म-भक्ति की अनूठी त्रिवेणी के रूप में विख्यात 'मरुभूमि के मेघ' स्वर्गीय श्री घनश्याम दास बिरला और श्री बसंतकुमार बिरला सहित समस्त बिरला परिवार से जुड़ी प्रेरक स्मृतियों का 'सारस्वत पंचामृत' श्रीरामनिवास जाजू ने अपनी संस्मरणात्मक कृति 'मेरे सौरभ-द्वार' में हिंदी जगत को दिया है।

लेखक श्री जाजू ने अपनी इस कृति के शुभारंभ में लिखा है—

सौरभ को कैसे जानोगे, यदि
बंद पवन के द्वार कर दिए।
सुरभि वही, जिसने बँट-बँटकर,
जीवन के भंडार भर दिए।

और जब पाठक इस कृति 'मेरे सौरभ-द्वार' में डूबता है, तो उसे प्रेरणा और आनंदानुभूति के दिव्य मोती मिलते हैं। पुस्तक का 'प्राक्कथन' लिखते हुए हिंदी की चर्चित लेखिका डॉ० कपिला वात्स्यायन ने लिखा है—'इस पुस्तक में एक ओर चिंतन, लेखन, सृजन को और दूसरी ओर सामाजिक जीवन के धधकते प्रश्नों को अपने समय की ललकार के साथ चित्रित किया गया है। विषयों की विविधता ने पुस्तक को एक शृंगार प्रदान किया है। पाठक वृंद की अपलक दृष्टि बटोरने हेतु घटनाओं की अभिव्यक्तियों को सचित्र प्रस्तुत किया गया है।'

अपनी इस संस्मरणात्मक कृति 'मेरे सौरभ-द्वार' को लेखक श्री रामनिवास जाजू ने पाँच विशिष्ट शीर्षक देकर अध्यायों में इस प्रकार बाँटा है— 1. युग पुरुष के पद चिह्न, 2. सृजन क्षेत्र-काव्यक्षेत्र, 3. संस्कृतक्षेत्र-कलाक्षेत्र, 4. कर्मक्षेत्र एवं 5. भक्तिक्षेत्र। पुस्तक के अंत

में परिशिष्ट के रूप में 'शिक्षाक्षेत्रे' शीर्षक से श्री रामनिवास जाजू द्वारा 'बिरला इस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट टेक्नोलॉजी' में दिए गए अध्यक्षीय व्याख्यान संकलित किए गए हैं।

'मेरे सौरभ-द्वार' की भूमिका 'यात्रा आनंद-घट की' में श्री रामनिवास जाजू ने बहुत ही मार्के की बात कही है—'अगर अपने बीते हुए का बखान करना अनावश्यक है तो इतिहास पढ़ना आवश्यक क्यों? क्योंकि इतिहास ताला-चाबी है उन प्रकरणों व घटनाओं की, उन सम्मेलनों व संवादों की, उन विभूतियों व उनके विवरण की, जिनसे कभी न कभी कुछ निखरा था, उभरा था और उत्पन्न हुआ था जो उत्पन्न होकर एक अवधि तक चलता रहा, बढ़ता रहा और सम्मान की भाँति बँटता रहा, उसका वर्णन, चित्रण तथा संकलन एक सनद का रूप ही तो है। उत्सुक जनों के लिए यह संकलन प्रयोग तथा उपयोग का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।' (पृ० 11)

निश्चय ही, कर्मशील लेखक एवं कवि श्रीरामनिवास जाजू के उक्त शब्दों की सच्चाई 'मेरे सौरभ-द्वार' के सभी प्रकरणों एवं स्मृतियों को प्रेरक के साथ-साथ अनूठा भी बना देती है।

'युग पुरुष के पद चिह्न' शीर्षक से संकलित अध्याय में प्रख्यात उद्योगपति एवं भारतीय संस्कृति, धर्म, साहित्य और कला में अक्षय आस्था रखने वाले स्वर्गीय श्री घनश्यामदास बिरला के जीवन और कर्मक्षेत्र से जुड़े संस्मरणों के साथ ही बिरला जी की अछूती दो कविताएँ भी प्रेरणा देती हैं। यहीं श्री जाजू ने 'अंतश्चेतना' और 'निर्माण-प्रेम' शीर्षक से दो कविताएँ दी हैं, जो बिरला जी के 'विचारों का काव्यानुवाद' बताई गई हैं। एक कविता का प्रेरक अंश देखिए—

हर निर्माण की परिणति
ध्वंस या क्षति है
पर क्षति से नहीं डरना है
निरंतर
निर्माण ही करना है
क्योंकि निर्माण बड़ी बात है
स्वयं के लिए नहीं
भविष्य के लिए। (पृ० 41)

श्री जाजू की कृति 'मेरे सौरभ-द्वार' का दूसरा अध्याय 'सृजनक्षेत्रे-काव्यक्षेत्रे' प्रत्येक हिंदी-प्रेमी सहृदय पाठक को आनंदित करेगा, यह विश्वास मुझे है। 'महीयसी महादेवी : जीवन-आदर्श की दीपशिखा', 'पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी : कविता की तरह तरंगित जीवन' तथा 'दिनकर : विराट कवि, चिंतक व साधक' जैसे शीर्षकों में श्री जाजू ने महादेवी वर्मा, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामधारीसिंह 'दिनकर', डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० नगेंद्र, पत्रकार कर्पूरचंद कुलिश एवं डॉ० शिवमंगल सिंह 'सुमन' के जो भावपूर्ण संस्मरण दुर्लभ चित्रों के साथ दिए हैं, वे हिंदी जगत् की 'धरोहर निधि' ही हैं।

इसी अध्याय में 'मंच संचालन के बहाने काव्य-चिंतन' के रूप में श्री रामनिवास जाजू की वैचारिक प्रखरता का परिचय भी पाठकों को मिल जाता है। इस ग्रंथ के तीसरे

अध्याय 'संस्कृति क्षेत्रे-कला क्षेत्रे' में श्री जाजू ने संगीत कला मंदिर, कलकत्ता के माध्यम से संस्कृति एवं कला क्षेत्र से जुड़ी हुई विभूतियों से जुड़ी भव्य स्मृतियों को सँजोया है। इस अध्याय में स्वर-सम्राज्ञी लता मंगेशकर एवं अमर गायक मुकेश के साथ ही 'पृथिवी सूक्त' के व्याख्याता का डॉ० गयाचरण त्रिपाठी से जुड़ी स्मृतियाँ पाठक को पुलकित कर देती हैं।

'मेरे सौरभ-द्वार' के चौथे अध्याय 'कर्मक्षेत्रे' में श्री जाजू ने अनेक सम्मेलनों की भव्य स्मृतियों को शब्दों में सँजोया है, तो ग्रंथ के पंचम अध्याय 'भक्तिक्षेत्रे' में अनंत श्री स्वामी अखंडानंद जी सरस्वती, मानस-मर्मज्ञ पं० राम निरंकार जी उपाध्याय एवं स्वामी श्री गिरीशानंद जी जैसे तत्त्वदर्शी व्यक्तियों से जुड़ी सारस्वत स्मृतियों को श्री रामनिवास जाजू ने मर्मस्पर्शी शब्दों में गूँथ दिया है।

'मेरे सौरभ-द्वार' वस्तुतः लेखक, कवि, समाजसेवी, कला-प्रेमी और उद्योगपति श्री रामनिवास जाजू के हृदय-पुष्प की दिव्य सुगंध से निकली स्वर्णिम, भव्य झाँकियाँ भारत, विशेषतः हिंदी-जगत् के पाठकों को मोहित करने की क्षमता रखती हैं। पुस्तक का मुद्रण एवं साज-सज्जा निर्दोष एवं भव्य है। पुस्तक का मुद्रण एवं साज-सज्जा निर्दोष एवं भव्य है। इसका सर्वत्र स्वागत होगा, यह विश्वास मुझे अवश्य रहेगा।

मेरे सौरभ-द्वार; श्री रामनिवास जाजू; प्रथम संस्करण 2009; मूल्य 200.00 रुपए; पृष्ठ 452;
प्रकाशक: राजपाल एवं संस, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली 110006

□ पूर्व प्राचार्य

74/3, न्यू नेहरू नगर
रुड़की (उत्तराखंड)

हिन्दी साहित्य निकेतन
16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)
फोन : 01342-263232, 09368141411

ई-मेल :
giriraj3100@rediffmail.com
giriraj@hindisahityaniketan.com
वेबसाइट :
www.hindisahityaniketan.com

महत्त्वपूर्ण कोश एवं संदर्भ ग्रंथ

| | |
|--|--------|
| गुजल और उसका व्याकरण/निश्चर खानकाही एवं डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-1/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल | 495.00 |
| हिंदी साहित्यकार संदर्भ कोश : भाग-2/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल | 700.00 |
| शोधसंदर्भ-भाग-1/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल | 500.00 |
| शोधसंदर्भ-भाग-2/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल | 550.00 |
| शोधसंदर्भ-भाग-3/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल | 525.00 |
| शोधसंदर्भ-भाग-4/ डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल | 595.00 |
| शोधसंदर्भ-भाग-5/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल | 895.00 |
| तुकांत कोश/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल एवं डॉ० मीना अग्रवाल | 300.00 |

समीक्षा एवं समालोचना

| | |
|--|--------|
| वादविवाद प्रतियोगिता : पक्ष और विपक्ष/डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल | 200.00 |
| डॉ० कुँअर बेचैन के साहित्य में प्रतीक विधान/डॉ० अंजु भटनागर | 500.00 |
| मृदुला गर्ग कृत अनित्य : इतिहास और आख्यान का संबंध/डॉ० ज्योति सिंह | 150.00 |
| मृदुला गर्ग और नारी-अस्मिता का प्रश्न/ डॉ० ज्योति सिंह | 300.00 |
| काका हाथरसी : एक समीक्षा-यात्रा/डॉ० मिथिलेश माहेश्वरी | 300.00 |
| सांप्रदायिकता और हिंदी कथासाहित्य/डॉ० मनोज कुमार | 250.00 |
| अपनी कविताओं में अशोक चक्रधर/डॉ० दीपा के० | 250.00 |
| आधुनिक हिंदी गीतिकाव्य में संगीत (पुरस्कृत)/डॉ० मीना अग्रवाल | 450.00 |
| डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल : व्यक्ति और साहित्य/डॉ० हरीशकुमार सिंह | 350.00 |
| साठोत्तरी हिंदी-गुजल : डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल का योगदान/डॉ० अनिलकुमार शर्मा | 350.00 |
| एक साक्षात्कार : पं० अमृतलाल नागर के साथ/डॉ० शंकर क्षेम | 150.00 |
| गुजल : सौंदर्य और यथार्थ/अनिरुद्ध सिन्हा | 150.00 |
| समय के हस्ताक्षर (हिंदी के आधुनिक कवि)/डॉ० ज्योति व्यास | 150.00 |
| कालिदास के साहित्य में भौगोलिक तत्त्व/डॉ० लालबहादुर रावल | 300.00 |

| | |
|---|--------|
| जनपद बिजनौर के आधुनिककालीन साहित्यकार/डॉ० अशोककुमार | 350.00 |
| बिजनौर क्षेत्र की ग्रामोद्योग-संबंधी शब्दावली का अध्ययन/डॉ० ओमदत्त आर्य | 500.00 |
| आस्थावाद एवं अन्य निबंध/डॉ० मिथिलेश दीक्षित | 300.00 |
| साहित्य और संस्कृति/डॉ० मिथिलेश दीक्षित | 300.00 |
| हास्य-निबंध : स्वतंत्रता के पश्चात्/डॉ० आशा रावत | 350.00 |
| हिंदी बालकाव्य के विविध पक्ष/विनोदचंद्र पांडेय | 300.00 |

हास्य-व्यंग्य

| | |
|---|--------|
| मेरी हास्य-व्यंग्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| मेरे इक्यावन व्यंग्य/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 300.00 |
| चुनी हुई हास्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 250.00 |
| मंचीय व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| बाबू झोलानाथ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 60.00 |
| राजनीति में गिरगिटवाद/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| भज्जी का जूता/महेशचंद्र द्विवेदी | 150.00 |
| क्लियर फंडा/महेशचंद्र द्विवेदी | 120.00 |
| प्रिय-अप्रिय प्रशासकीय प्रसंग/महेशचंद्र द्विवेदी | 170.00 |
| वसीयतनामा/पं० सूर्यनारायण व्यास, सं० राजशेखर व्यास | 150.00 |
| नो टेंशन/डॉ० सुरेश अवस्थी | 170.00 |
| काका की विशिष्ट रचनाएँ/काका हाथरसी | 160.00 |
| काका के व्यंग्य-बाण/काका हाथरसी | 60.00 |
| कक्के के छक्के/काका हाथरसी | 160.00 |
| लूटनीति मंथन करी/काका हाथरसी | 160.00 |
| खिलखिलाहट/काका हाथरसी | 60.00 |
| पैसे कहाँ से दें/डॉ० आशा रावत | 200.00 |
| चाहिए एक और भगतसिंह/डॉ० आशा रावत | 100.00 |
| गुरुदक्षिणा (व्यंग्य उपन्यास)/डॉ० आशा रावत | 100.00 |
| नमस्कार प्रजातंत्र/महेश राजा | 150.00 |
| ए जी सुनिए/अशोक चक्रधर | 100.00 |
| इसलिए बौद्धम जी इसलिए/अशोक चक्रधर | 100.00 |
| चुटपुटकुले/अशोक चक्रधर | 60.00 |
| तमाशा/अशोक चक्रधर | 60.00 |
| रंग जमा लो/अशोक चक्रधर | 65.00 |
| सो तो है/अशोक चक्रधर | 60.00 |
| हँसो और मर जाओ/अशोक चक्रधर | 60.00 |
| नमस्ते जी/डॉ० बलजीत सिंह | 150.00 |
| अब हँसने की बारी है/डॉ० बलजीत सिंह | 200.00 |
| 1991 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 50.00 |

| | |
|--|--------|
| 1992 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 50.00 |
| 1993 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 50.00 |
| 1994 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 60.00 |
| 1995 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 65.00 |
| 1996 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| 1997 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| 1998 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| 1999 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 120.00 |
| 2002 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| 2003 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| 2004 की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य रचनाएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 170.00 |
| पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| पिछले दशक की श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कविताएँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| पिछले दशक के श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| शिवशर्मा के चुने हुए व्यंग्य/डॉ० शिव शर्मा | 50.00 |
| बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० शिव शर्मा | 150.00 |
| अपने-अपने भस्मासुर/डॉ० शिव शर्मा | 150.00 |
| उलटा-पुलटा/डॉ० राकेश शरद | 60.00 |
| हास्य-व्यंग्य : मधुप पांडेय के संग/मधुप पांडेय | 160.00 |
| धमकीबाजी के युग में/निश्तर खानकाही | 60.00 |
| ला खर्चा निकाल/गजेंद्र तिवारी | 200.00 |
| जलनेवाले जला करें/गजेंद्र तिवारी | 60.00 |
| प्रतिनिधि व्यंग्य/दामोदरदत्त दीक्षित | 100.00 |
| कवयित्री सम्मेलन/सुरेंद्रमोहन मिश्र | 100.00 |
| पेट में दाढ़ियाँ हैं/सूर्यकुमार पांडेय | 100.00 |
| ये है इंडिया/डॉ० हरीशकुमार सिंह | 120.00 |
| आँखों देखा हाल/डॉ० हरीशकुमार सिंह | 150.00 |
| लिफ्ट करा दे/डॉ० हरीशकुमार सिंह | 200.00 |
| देवेंद्र के कार्टून/देवेंद्र शर्मा | 80.00 |
| कार्टून कौतुक/देवेंद्र शर्मा | 120.00 |
| लिफाफे का अर्थशास्त्र/डॉ० पिलकेन्द्र अरोरा | 120.00 |

कहानी

| | |
|--|--------|
| जिज्ञासा और अन्य कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 60.00 |
| पच्चीस कहानियाँ/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| कथा जारी है/बाबूसिंह चौहान | 150.00 |
| इक्कीस कहानियाँ/सत्यराज | 100.00 |

| | |
|--|--------|
| अंदर धूप बाहर धूप (नारी-मन की कहानियाँ)/डॉ० मीना अग्रवाल | 150.00 |
| उत्तराखंड की लोकगाथाएँ/डॉ० दिनेशचंद्र बलूनी | 200.00 |
| एक बौना मानव/महेशचंद्र द्विवेदी | 100.00 |
| लव जिहाद/महेशचंद्र द्विवेदी | 200.00 |
| कौन कितना निकट/रेणु 'राजवंशी' गुप्ता | 120.00 |
| लघु कथाएँ/डॉ० हरिशरण वर्मा | 150.00 |

उपन्यास

| | |
|--|--------|
| अनोखा उपहार/श्रीमती सुषमा अग्रवाल | 200.00 |
| आसरा/श्रीमती सुषमा अग्रवाल | 100.00 |
| तीन बीघा ज़मीन/श्रीमती सुषमा अग्रवाल | 200.00 |
| कालचक्र से परे/श्रीमती नीरजा द्विवेदी | 200.00 |
| और लहरें उफनती रहीं/डॉ० तारादत्त निर्विरोध | 200.00 |
| बजरंगा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० शिव शर्मा | 150.00 |
| अराज-राज/डॉ० मोहन गुप्त | 200.00 |
| सुराज-राज/डॉ० मोहन गुप्त | 350.00 |
| एक गुमनाम फौजी की डायरी/डॉ० आशा रावत | 150.00 |
| एक चेहरे की कहानी/डॉ० आशा रावत | 150.00 |
| गुरुदक्षिणा (व्यंग्य-उपन्यास)/डॉ० आशा रावत | 100.00 |

एकांकी-नाटक

| | |
|--|--------|
| मंचीय व्यंग्य एकांकी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| बच्चों के हास्य नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| बच्चों के रोचक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| बच्चों के शिक्षाप्रद नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| बच्चों के अनुपम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 180.00 |
| बच्चों के उत्तम नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 180.00 |
| भारतीय गौरव के बाल नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 180.00 |
| प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 175.00 |
| ग्यारह नुक्कड़ नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| नीली आँखें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 60.00 |
| संसार : एक नाट्यशाला/बाबूसिंह चौहान | 150.00 |
| ग्यारह एकांकी/डॉ० हरिशरण वर्मा | 200.00 |
| दमन/रामाश्रय दीक्षित | 100.00 |

ललित निबंध एवं रेखाचित्र

| | |
|-----------------------------------|--------|
| कैसे-कैसे लोग मिले/निश्तर खानकाही | 125.00 |
| यादों का मधुबन/कृष्ण राघव | 150.00 |
| समय के चाक पर/डॉ० लालबहादुर रावल | 125.00 |

| | |
|--------------------------------------|--------|
| समय एक नाटक/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 160.00 |
| दर्पण झूठ बोलता है/बाबूसिंह चौहान | 60.00 |
| मकड़जाल में आदमी/बाबूसिंह चौहान | 80.00 |
| उफनती नदियों के सामने/बाबूसिंह चौहान | 100.00 |
| पीठ पर नील गगन/बाबूसिंह चौहान | 100.00 |
| इन दिनों समर में/डॉ० कृष्णकुमार रत्न | 250.00 |

गीत-गज़ल

| | |
|---|--------|
| निश्चर खानकाही समग्र (प्रकाशनाधीन)/निश्चर खानकाही | 500.00 |
| मोम की बैसाखियाँ (गज़ल-संग्रह)/निश्चर खानकाही | 50.00 |
| गज़ल मैंने छेड़ी (गज़ल-संग्रह)/निश्चर खानकाही | 80.00 |
| गज़लों के शहर में (गज़ल-संग्रह)/निश्चर खानकाही | 200.00 |
| मेरे लहू की आग (गज़ल-संग्रह)/निश्चर खानकाही | 150.00 |
| कोई आवाज़ देता है/डॉ० कुँअर बेचैन | 150.00 |
| दिन दिवंगत हुए/डॉ० कुँअर बेचैन | 150.00 |
| कुँअर बेचैन के नवगीत/डॉ० कुँअर बेचैन | 200.00 |
| कुँअर बेचैन के प्रेमगीत/डॉ० कुँअर बेचैन | 150.00 |
| पर्स पर तितली (हाइकु)/डॉ० कुँअर बेचैन | 200.00 |
| हर आहट लगती पहचानी (हाइकु)/मिथिलेश दीक्षित | 200.00 |
| मातृभूमि के लिए/रमेश पोखरियाल 'निशंक' | 200.00 |
| संघर्ष जारी है/रमेश पोखरियाल 'निशंक' | 170.00 |
| जीवन-पथ में/रमेश पोखरियाल 'निशंक' | 150.00 |
| देश हम जलने न देंगे/रमेश पोखरियाल 'निशंक' | 150.00 |
| जीवन-पथ में/रमेश पोखरियाल 'निशंक' | 150.00 |
| तुम भी मेरे साथ चलो/रमेश पोखरियाल 'निशंक' | 150.00 |
| शमा हर रंग में जलती है/रामेश्वरप्रसाद | 150.00 |
| अक्षर हूँ मैं (कविताएँ)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| सन्नाटे में गूँज (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 160.00 |
| भीतर शोर बहुत है (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 160.00 |
| मौसम बदल गया कितना (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 100.00 |
| रोशनी बनकर जिओ (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| शिकायत न करो तुम (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| आदमी है कहाँ (गज़ल-संग्रह)/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| हिंदी की सर्वश्रेष्ठ गज़लें/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 150.00 |
| सच सूली पर टँगने हैं/डॉ० अजय जनमेजय | 80.00 |
| तुम्हारे बाद (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय | 80.00 |
| आदमी के हक में (गज़ल-संग्रह)/डॉ० रामगोपाल भारतीय | 100.00 |

| | |
|---|--------|
| यहाँ तक वहाँ से (कविताएँ)/रमेश कौशिक | 200.00 |
| हास्य नहीं व्यंग्य (कविताएँ)/रमेश कौशिक | 150.00 |
| गांधारी का सच (खंडकाव्य)/आर्यभूषण गर्ग | 200.00 |
| राधेय (खंडकाव्य)/डॉ० आकुल | 120.00 |
| असित चंद्र : अवदात चंद्रिका (काव्य-नाटक)/डॉ० आकुल | 120.00 |
| जिंदगी गाती तो है/डॉ० आकुल | 120.00 |
| आसमान मेरा भी है (गज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप | 100.00 |
| बूँद-बूँद सागर में (गज़ल-संग्रह)/किशनस्वरूप | 100.00 |
| पंथ के पाँवड़े (काव्य-संग्रह)/किशनस्वरूप | 100.00 |
| आँचल-आँचल खुशबू (गज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज | 100.00 |
| जग्ग खिलने को हैं (गज़ल-संग्रह)/कर्नल तिलकराज | 100.00 |
| अग्निसुता/राजेंद्र शर्मा | 150.00 |
| सीतायनी/डॉ० शंकर क्षेम | 150.00 |
| हिरना लौट चलें (गीत-संग्रह)/शचींद्र भटनागर | 150.00 |
| तिराहे पर (गज़ल-संग्रह)/शचींद्र भटनागर | 150.00 |
| ढाई आखर प्रेम के (गीत-संग्रह)/शचींद्र भटनागर | 200.00 |
| अखंडित अस्मिता (मुक्तक-संग्रह)/शचींद्र भटनागर | 200.00 |
| गुलमुहर की छाँव में (गज़ल-संग्रह)/मनोज अबोध | 100.00 |
| स्नेहा/तारा प्रकाश | 100.00 |
| उजियारा आशाओं का/तारा प्रकाश | 150.00 |
| बुलंदी इरादों की/तारा प्रकाश | 150.00 |
| चलने से मंजिल मिलती है/तारा प्रकाश | 200.00 |
| इंद्रधनुष/तारा प्रकाश | 200.00 |
| सुरों के खत/अश्विनीकुमार 'विष्णु' | 100.00 |
| सुनहरे मंत्र का जादू/अश्विनीकुमार 'विष्णु' | 100.00 |
| सफ़र में साथ-साथ (मुक्तक-संग्रह)/डॉ० मीना अग्रवाल | 150.00 |
| जो सच कहे (हाइकु-संग्रह)/डॉ० मीना अग्रवाल | 150.00 |
| यादें बोलती हैं (कविताएँ)/डॉ० मीना अग्रवाल | 200.00 |
| एक मुट्ठी धूप/नीरजा सिंह | 100.00 |
| कटे हाथों के हस्ताक्षर/डॉ० कमल मुसद्दी | 150.00 |
| फ़ासले मिट जाएँगे (गज़लें)/डॉ० बलजीत सिंह | 150.00 |
| शब्द-शब्द संदेश (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह | 150.00 |
| जीवन है मुस्कान (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह | 150.00 |
| भीतर का संगीत (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह | 200.00 |
| सुख के बिरवे रोप (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह | 200.00 |
| इंद्रधनुष के रंग (दोहा-संग्रह)/डॉ० बलजीत सिंह | 200.00 |
| बहती नदी हो जाइए (गज़ल-संग्रह)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' | 150.00 |

| | |
|---|--------|
| जीवन-अमृत : पर्यावरण चेतना (दोहा-संग्रह)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' | 200.00 |
| अक्षर-अक्षर हो अमर (दोहा-संग्रह)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' | 200.00 |
| वैदुष्यमणि विद्योत्तमा (खंडकाव्य)/डॉ० योगेंद्रनाथ शर्मा 'अरुण' | 200.00 |
| स्मृतियाँ/श्रीमती सुषमा अग्रवाल | 100.00 |
| अनजाने आकाश में/महेशचंद्र द्विवेदी | 170.00 |
| बातें कुछ अनकही/सत्येंद्र गुप्ता | 200.00 |
| मैंने देखा है/सत्येंद्र गुप्ता | 200.00 |
| हौसला तो है/सत्येंद्र गुप्ता | 200.00 |
| जज्बात की धूप/धूप धौलपुरी | 250.00 |
| आड़ी-तिरछी यादों-सा कुछ/नवलकिशोर शर्मा | 180.00 |
| एड्स शतक/पूरणसिंह सैनी | 150.00 |
| खोजें जीवन सत्य (दोहा-संग्रह)/डॉ० ओमदत्त आर्य | 150.00 |
| राष्ट्र-शक्ति/सलेकचंद संगल | 150.00 |
| माँ तुझे प्रणाम/सलेकचंद संगल | 150.00 |

आत्मकथा-संस्मरण

| | |
|--|--------|
| मेरा जीवन : ए-वन/काका हाथरसी | 100.00 |
| आत्मसरोवर/ओम्प्रकाश अग्रवाल | 125.00 |
| निष्ठा के शिखर-बिंदु/नीरजा द्विवेदी | 200.00 |
| सफ़र साठ साल का/डॉ० अजय जनमेजय (संपादक) | 400.00 |
| यादों की गुल्लक/गीतिका गोयल, अनुभूति भटनागर (संपादक) | 300.00 |

बाल-साहित्य

| | |
|--|--------|
| धरती पर चाँद (बालगीत)/शंभूनाथ तिवारी | 150.00 |
| हम बगिया के फूल (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह | 150.00 |
| आओ गीत सुनाओ गीत (बालगीत)/डा० बलजीतसिंह | 150.00 |
| जादूगर बादल (बालगीत)/विनोद भृंग | 150.00 |
| आटे-बाटे दही चटाके (शिशुगीत)/बालकृष्ण गर्ग | 150.00 |
| चुनमुन की कहानियाँ (पुरस्कृत)/गीतिका गोयल | 150.00 |
| किशोर मन की कहानियाँ/डॉ० सरला अग्रवाल | 150.00 |
| हरा समंदर गोपी चंद्र (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय | 150.00 |
| अक्कड़-बक्कड़ हो हो हो (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय | 100.00 |
| नहे पंख ऊँची उड़ान (अनुपलब्ध)/डॉ० अजय जनमेजय | 150.00 |
| मानव-विकास की कहानी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 200.00 |
| पार्टी गेम्स/चाँदनी कक्कड़ | 125.00 |

विविध

| | |
|---|--------|
| उत्तराखण्ड में आध्यात्मिक पर्यटन/डॉ० सरिता शाह | 200.00 |
| निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण, डॉ० मीना अग्रवाल | |
| पर्यावरण : दशा और दिशा (पुरस्कृत) | 200.00 |
| नारी : कल और आज | 200.00 |
| निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | |
| विश्व आतंकवाद : क्यों और कैसे | 125.00 |
| हिंसा : कैसी-कैसी | 200.00 |
| दंगे : क्यों और कैसे (पुरस्कृत) | 100.00 |
| रमेशचंद्र दीक्षित, गिरिराज शाह, निश्तर खानकाही, डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | |
| मानवाधिकार : दशा और दिशा (पुरस्कृत) | 300.00 |
| रमेशचंद्र दीक्षित, गिरिराज शाह, गिरिराजशरण अग्रवाल | |
| सुरक्षा-संस्कृति | 150.00 |
| अपराध-अपराधी : अन्वेषण एवं अभियोजन/डॉ० गिरिराज शाह | 200.00 |
| गुरु नानकदेव/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 40.00 |
| अमृतवाणी/डॉ० गिरिराजशरण अग्रवाल | 60.00 |
| वेद-वेदान्त दर्शन/डॉ० मूलचन्द दालभ | 300.00 |
| प्रकृति : एक ज्ञेय तत्त्व/डॉ० मूलचन्द दालभ | 300.00 |
| टास्कफोर्स : हैल्थकेयर प्रोजेक्ट्स/डॉ० गोविंद शर्मा एवं रवि लंगर | 450.00 |
| सिद्धाश्रम का संन्यासी/मनोज भारद्वाज | 150.00 |
| समुद्री दैत्य सुनामी/डॉ० लालबहादुर रावल | 150.00 |

हिन्दी साहित्य निकेतन

16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ०प्र०)

फोन : 01342-263232, 09368141411